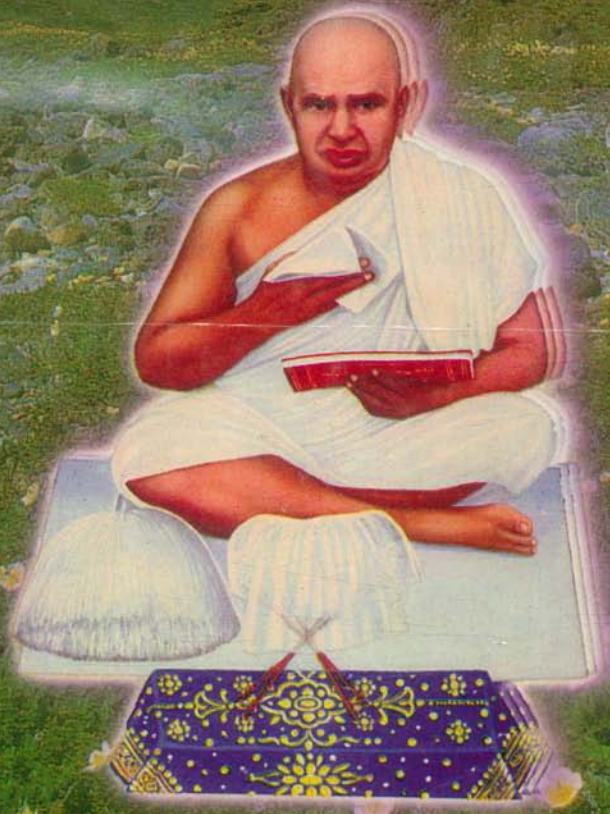


श्री गुणानुराग कुलकर्णी



सम्पादन : ज्योतिषाचार्य शासन दीपक मुनि जयप्रभविजय "श्रमण"

॥ प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर गुरुभ्यो नमः ॥

ॐ

श्री गुणानुराग - कुलक

संस्कृत छाया शब्दार्थ-भावार्थ विस्तृत हिन्दी विवेचन
परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति साहित्याचार्य
भट्टारक श्रीश्रीश्री १००८
श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

❖ प्रेरक ❖

संयमवय स्थिविर मुनिराज

श्री सीमाव्यविजयजी महाराज

❖ सव्यादक ❖

ज्योतिषाचार्य शासन दीपक

मुनिप्रवर जयप्रभविजय “श्रमण”

तृतीय संस्करण १०००-

○ पुस्तक-

श्री गुणानुराग कुलक -

○ मूल लेखक -

हिन्दी विवेचन कर्ता परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति साहित्याचार्य
श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज।

○ प्रवेश-

श्रमण भगवान महावीर स्वामी निर्माण संवत् २५२३
श्री महाराजा विक्रम स्मृति सं. २०५४
प्रभु श्री मद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर स्वर्ग स्मृति सं. ११
इस्वी सन् १९९७

○ प्राप्ति स्थान

श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय

C/o मंत्री श्री सुजानमल सागरमलजी सेठ
श्री मोहनखेड़ा तीर्थ
पोस्ट राजगढ़, (जिला धार,) मध्यप्रदेश

श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति आहोर

C/o मंत्री शान्तिलाल वक्तावरमलजी मूथा
देरासर सेरि, मु.पो. आहोर,
जिला जालौर, व्हाया जवाई बान्ध (राज.)

○ मुद्रक :

श्री राजेन्द्र प्राफिक्स, राजगढ़ (धार)

☎ (07296)-32322, 32522

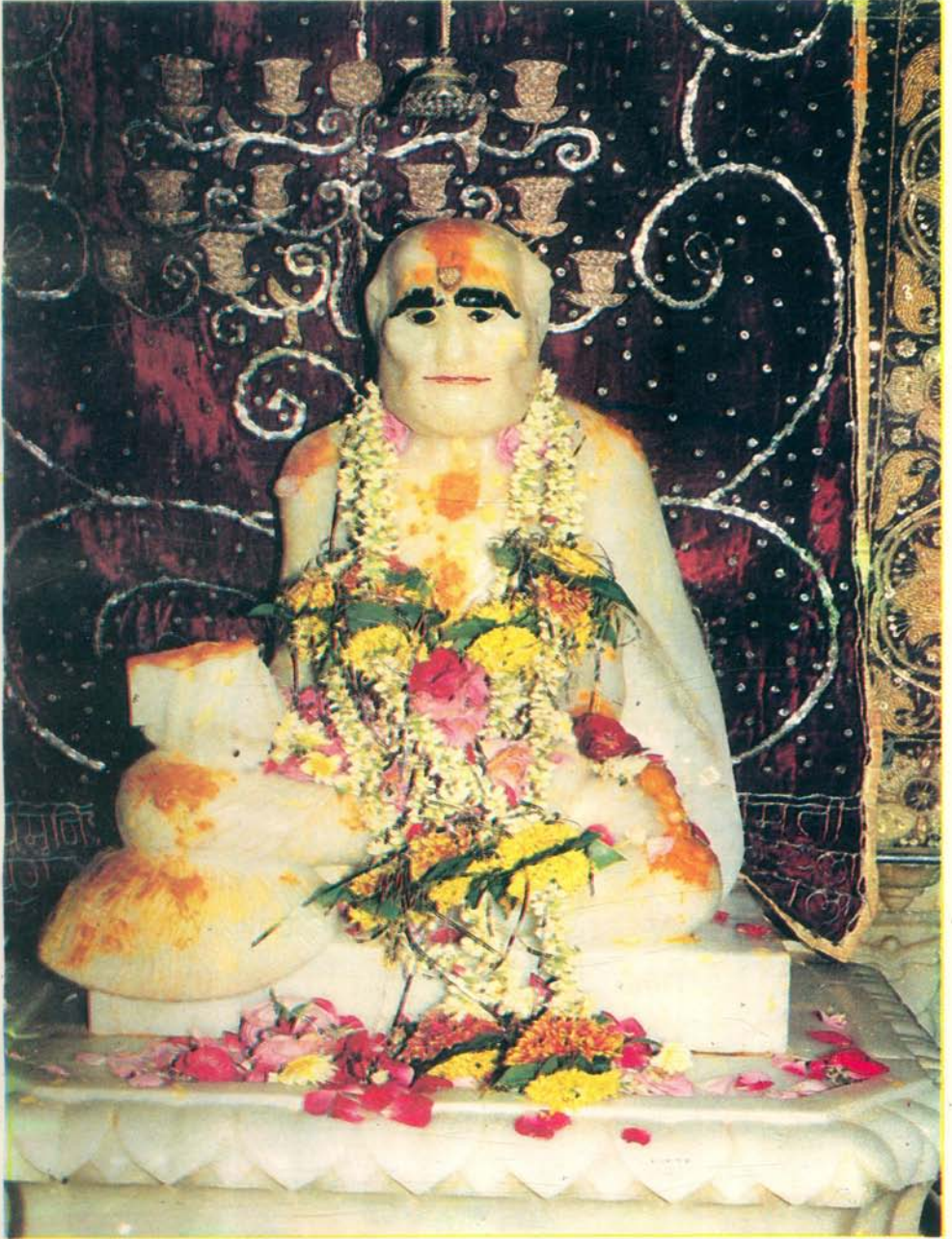
पं. श्री जिनहर्षगणिविनिर्मित
श्री गुणानुराग कुलक

सुकृति के सहयोगी श्री गुणानुराग कुलक की तृतीयावृत्ति

परम पूज्य प्रवचनकार शासन रत्न मुनिराज श्रीहितेशचन्द्र
विजयजी म.सा. "श्रेयस", मुनि श्री दिव्यचन्द्रविजयजी "सुमन" के
उपदेश से

१. श्री भूपेन्द्र सूरि साहित्य समिति आहोर
मंत्री श्री शान्तिलालजी मूथा
२. परम पूज्य गुरु भगवन्त के द्रव्य से आहोर निवासी फतेहराजजी
रूपराज जी बजावत फर्म शाह कान्तिलाल जयन्तीलाल चेन्नई।
३. श्री राजेन्द्र कला मंदिर बेलगाव (कर्नाटक) हस्ते अशोक कुमार
मारबाइ में भेसवाड़ा।
४. श्री फूलचन्द मेमोरियल ट्रस्ट ओटीबाई।
५. आहोर (राज.) निवासी श्री धर्मचंदजा की पुण्य स्मृति में श्री
राजीबाई सुपुत्र लालचन्द देवीचन्द सुरेश कुमार रमणलाल
अमृतलाल अशोक कुमार दिनेशकुमार, राकेश कुमार, अमित
कुमार बन्टी अभिषेक बिल्लू विपुल सोनु अनुकेत बेटापोता परपोता
हजारीमलजी, कालूजी फर्म-कालूजीवाला टेक्स टाईल्स भीवण्डी।
६. आहोर निवासी श्री सोहनराजजी व मातेश्वरी श्री मेतिबाई की
पुण्य स्मृति में सुपुत्र सुमेरमल, बाबूलाल, प्रकाशचन्द्र, भेरूलाल,
कमलेश कुमार, जितेन्द्रकुमार, बेटा पोता सोहनराजजी
हरकचन्दजी वाणीगोता - फर्म भेरू टेक्सटाईल्स भीवण्डी।
७. श्री भण्डारी एण्ड भण्डारी कम्पनी भीवण्डी।
८. तखतगढ़ निवासी सुमटीबाई सुपुत्र मिश्रीमल जयन्तीलाल
हंसमुखलाल सुखराजजी दानाजी परिवार के गुरु द्रव्य से।

परम पूज्य भट्टारक विश्व पूज्य प्रातः स्मरणीय



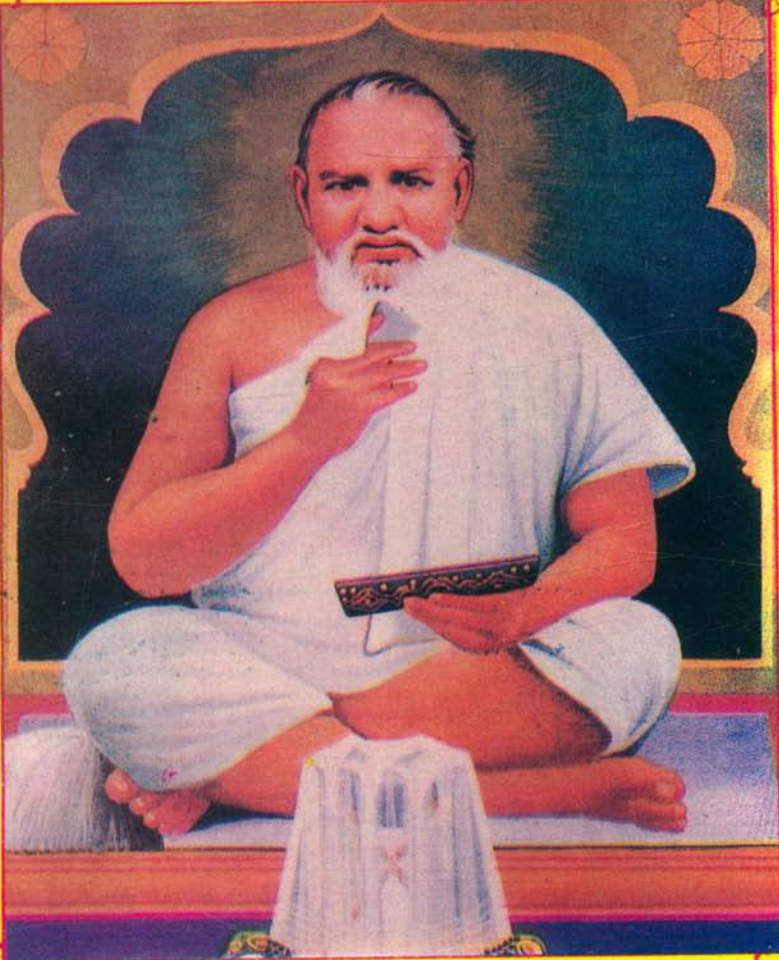
श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज



लेखक

परम पूज्य सौधर्मबृहत्तपाजच्छ संस्थापक

कलिकाल सर्वज्ञ अभिधान राजेन्द्र कोष के लेखक, श्री मोहनखेडा तीर्थ
संस्थापक कोरटा, स्वर्णगिरी, तालनपुर तीर्थोद्धारक, भट्टारक विश्व पूज्य
प्रातः स्मरणीय श्रीश्री श्री १००८ श्रीमद्भिजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज
के शिष्यरत्न



परम पूज्य व्यख्यान वाचस्पति साहित्याचार्य

श्रीमद्भिजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

संकलन कर्ता

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति लक्ष्मणजी तीर्थ संस्थापक
श्री मोहनखेडा, भाण्डवपुर तीर्थ तीर्थोद्धारक, साहित्याचार्य,
अभिधान राजेन्द्र कोष के सम्पादक, परम गीतार्थ भट्टारक श्रीश्री श्री १००८

श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरी श्वरजी महाराज

के चरण रेणु



ज्योतिषाचार्य शासन दीपक

मुनिप्रवर जयप्रभविजय 'श्रमण'

सम्पादक की ओर

परम पूज्य आराध्यपाद श्रीमद्विजय यतीन्द्रविजयजी महाराज स्वाध्याय में मग्न रहते श्री जिनहर्षगणीजी द्वारा रचित प्राकृत भाषा में श्री गुणानुराग कुलक को अध्ययन कर रहे थे, सहसा आत्म कल्याण की भावना के साथ पर कल्याण की भावना जाग्रत हुई, पूज्यवर ने २८ श्लोक संस्कृत शब्दार्थ विस्तृत विवेचन करके प्राणीमात्र अपना जीवन आदर्श बनाए उन विचारों को सजोकर श्री गुणानुराग कुलक ग्रन्थ रूप में प्रकाशित किया। ग्रन्थ कितना उपयोगी है, यह पाठक वर्ग अध्ययन करेंगे तब ज्ञात होगा, इसकी उपयोगिता कैसी है, इसका प्रमाण यह है कि अल्प समय तीन आवृत्ति छप गई।

प्रथमावृत्ति आपश्री के मुनि जीवन में प्रकाशित हुई। द्वितीयावृत्ति आप उपाध्याय पद को शोभायमान कर रहे थे तब एवं आज यह तृतीयावृत्ति आपश्री के दीक्षा शताब्दी वर्ष में प्रकाशित हो रही है।

यह प्रेरणा ज्येष्ठ गुरु बन्धु संयमवय स्थिविर मुनि श्री सौभाग्यविजयजी महाराज की प्रेरणा रही कि अपने गुरुदेव द्वारा समय-समय पर शास्त्र रचना कि वह बहुजन उपयोगी साहित्य को पुनः प्रकाशित करना श्रेयस्कर रहेगा। शिष्य द्वय बन्धु प्रवचनकार, शासनरत्न मुनिराज हितेशचन्द्रविजय श्रेयस मधुर गायक सेवा भावि मुनिराज दिव्यचन्द्रविजय सुमन भी सहयोगी रहे।

साहित्य प्रकाशित करने में आहोर (राजस्थान) में श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति के कार्यकर्ता निःस्वार्थ भावना से अपने परोपकारी गुरु भगवन्तो के प्रति समर्पण भाव से सेवा करते हैं। आहोर निवासी श्रेष्ठीवर्य वक्तावरमलजी के सुपुत्र श्री शांतिलालजी मूथा मंत्री श्री भूपेन्द्र सूरि साहित्य समिति आहोर का सर्वोच्च सहयोग रहता है, आपकी श्रुत भक्ति को धन्यवाद आप शतायु हों और शासन सेवा करते रहें यही मंगल कामना

श्री मोहनखेड़ा तीर्थ

२०५४ ज्येष्ठ सुदि ४

मुनि जयय भविजय
ममण

विषय - निदर्शन

विषय	पृष्ठ
१. श्री यतीन्द्रजीवन-रेखा	
२. प्रंधारम्भ और उद्देश्य	
मङ्गलाचरणम्	१
नमस्कार का फल	
३. गुणानुराग से पदविधियों की प्राप्ति	६
वैर-परित्याग	
मात्सर्य, उसका त्याग	
द्वेष, उसका त्याग	
कलह और सम्प	
मैत्री आदि ४ भावनाएँ	
४. गुणानुराग की प्रशंसा	२०
गुणानुरागी को वन्दन	
गुणानुराग पर श्रीकृष्ण का उदाहरण	
त्रादत्रिपुटी	
५. गुणानुराग का महत्व	२७
द्रव्य जैन के लक्षण	
भाव जैन के लक्षण	
६. मात्सर्य ही पराभव का हेतु है	३७
भवाभिनन्दियों के लक्षण	
मात्सर्य-परित्याग	
गुरुगम शिक्षा की जरूरत	
७. मत्सरसे की हुई निन्दा का फल	४२
मत्सरी सब में दोष ही देखता है	
८. मत्सरी मनुष्य की दुष्कृता	४५
धनुलाल का दृष्टांत	
धर्मयोग्य बनाने वाले गुण	
९. जैसा अभ्यास वैसा फल	६४

- अभ्यास पर दो दृष्टांत
 अभ्यास शब्द के अर्थ
 अभ्यास के तीन भेद
 जैसी सोबत वैसी असर
 पाश्चात्य विद्वानों का अनुभव
 सत्सङ्ग का अर्थ
 सत्समागम पर दृष्टांत
 सत्समागम की दुर्लभता
 सत्पुरुषों के लक्षण
 सत्सङ्ग की महिमा
१०. परदोष से पापकर्म का बन्ध ८१
 निन्दा-निवारणोपदेश
 सुशिक्षा-वचन
 स्त्रीशिक्षा की जरूरत
 राणी सुविद्या का दृष्टांत
११. कषाय रहित मार्ग का आचरण ९७
 क्रोध और उसका त्याग
 मान और उसका त्याग
 माया और उसका त्याग
 लोभ और उसका त्याग
 निष्प्रयत्न का दृष्टांत
 त्याज्य एषणाएँ (नोट)
 कषायों का त्याग करना
 अनन्तानुबन्धी आदि चार कषाय
 कामादि छः आन्तर-शत्रु
१२. परदोषवर्जन से गुरुत्व की प्राप्ति ११७
 ज्ञान और अज्ञान
 ज्ञान की प्रधानता
१३. छः प्रकार के पुरुषों का स्वरूप १३७
 ग्रन्थान्तर से पुरुषों का स्वरूप

१४. सर्वोत्तम पुरुष का लक्षण ब्रह्मचर्य पालनोपदेश अनित्यादि १२ भावनाओं का महत्व विजयकुँवर और विजया सत्ताईस बकार (नोट)	१३७
१५ उत्तमोत्तम पुरुषों का स्वरूप मनोविकार को जीतने का उपाय रथनेमि और राजीमती	१४८
१६. उत्तम पुरुषों के लक्षण वीर्यरक्षा का उपदेश	१५४
१७. मध्यम पुरुषों के लक्षण मार्गानुसारी गुणों की व्या. न्यायोपात्त द्रव्य पर एक दृष्टांत निर्बुद्धि श्रोता का उदाहरण राजा-भोज का प्रश्न परोपकार की मुख्यता	१५८
१८. चार भेदवाले पुरुषों की प्रशंसा गुणप्रेमी और गुणद्वेषी साधु का दृष्टांत	१९७
१९. शिथिलाचारी भी निंद्य नहीं संसार में पुष्पसमीरित से चलो	२०२
२०. अधमाधम पुरुषों को उपदेश, देने की रीति	२०६
२१. अल्पगुणी का भी बहुमान करो	२११
२२. स्वगच्छ या परगच्छ के गुणी साधुओं पर अनुराग जैनियों का हास (तालिका) लेख लिखने में सत्य, शांति और मधुरता को स्थान दो	२१४
२३. गुणों के बहुमान से गुणों की सुलभता गुणहीन के विषय में राजा भोज का प्रश्न और विद्वानों की गोंष्टी	२१९
२४. उपसंहार और गुणराग का फल शिक्षा सुधा (वचनामृत) ग्रंथकार का परिचय	२३०

- गुरुपदकज-प्रेमोपहार -

यच्छायास्वपि शीतलासु रिपवः संस्थाय शान्तिङ्गता-
स्ते भव्या इह शर्मभाज अभवन्नाश्रित्य यस्याश्रयम् ।
यस्यालौकिकशक्तिभारवशतश्चिन्तामणिः सत्रणोऽ-
भूतस्मै सततं नमो भवतु मे राजेन्द्र सूर्यङ्घ्रये ॥१॥

जिनकी सुशीतल (ठंडी) छाया में बैठकर धर्मद्विषी भी शांति को प्राप्त हुए, जिनका आश्रय लेकर अनेक भव्यों ने अपनी आत्मा का कल्याण किया और जिनकी अलौकिक शक्ति के वश से चिन्तामणि - रत्न भी लज्जित हुआ; उन श्री राजेन्द्रसूरिजी के चरण युगलों को मेरा सदा नमस्कार हो।

यज्ज्ञानांशुसमूहदीप्तिवशतो नष्टञ्च मिथ्यातमो,
दीप्त्या यन्खरस्य भानुरथ वै चन्द्रस्तथा शङ्कितः ।
यद्भीत्या गतवांस्तु भानुरथ खं वार्द्धिङ्गतश्चन्द्रमा-
स्तस्मै मे सततं नमोऽस्तुविधिवद् राजेन्द्र सूर्यङ्घ्रये ॥२॥

जिनके ज्ञानपुञ्ज के तेजः प्रभाव से मिथ्या-न्धकार नष्ट हुआ, जिनकी नखद्युति से सूर्य तथा चन्द्र शङ्कित हुए और जिस नखद्युति से भयभीत होकर सूर्य ने आकाश का तथा चन्द्रमा ने समुद्र का आश्रय लिया, उन श्री राजेन्द्रसूरिजी के चरण-युगल को विधि पूर्वक मेरा सदा नमस्कार हो।

जैनाभाससुवक्त्ररन्ध्रनिस्टताऽसद्भाषणाचिंक्षु च,
भस्मीभूतजनाश्च येन बहुधा शान्त्या सदा रक्षिताः ।
शान्त्या पूर्णतया हि ते च कृपया तत्त्वामृतैर्जीविता-
स्तस्मै मे भतन्नमः प्रतिदिनं राजेन्द्रसूर्यङ्घ्रये ॥३॥

जिन्होंने जैनाभासों के मुखकुहर से निकली हुई असद्वचन- रूप ज्वालाओं में भस्म होते हुए अनेक भव्य-प्राणियों की रक्षा की और उनको तत्व श्रद्धारूप अमृत से जीवित किये; श्री राजेन्द्रसूरिजी के चरण-युगलों को हमारा प्रतिदिन नमस्कार हो।

प्राक् कथन!

पाठक महानुभावों ! -

संसार में वास्तविक आदर्श-पवित्रात्मा बनने के लिए किन-किन शिष्ट-गुणों की आवश्यकता है और किन पाशविक दुर्गुणों को छोड़कर, मनुष्य आदर्श बन जाता है ? इस विषय को स्पष्ट, सरस और सरलता से समझाने के लिए आज यह हिन्दी पुस्तक आपके करकमलों में उपस्थित होता है।

“मनुष्य, मनुष्य तभी से बनता है, जब वह दुष्ट-विचार और कुव्यसनों से अलग होकर अपने जीवन की वास्तविक न्याय-परायणता को खोजने का प्रयत्न करने लगता है।”

“मनुष्य योग्य, गुण सम्पन्न और अखंडानन्दी तभी बनता है, जब वह गुणानुराग का शरण (आश्रय) लेता है। संसार में हर एक मनुष्य की उत्क्रांति (उच्चदशा) गुणानुराग की सुन्दर और श्लाघनीय भूमिका में प्रवेश करने से ही होती है।”

“यह सिद्धांत सभी को अपने निर्दोष हृदय में अंकित कर लेना चाहिए कि - मनुष्य ही शक्ति, ज्ञान और प्रेम का स्थूल रूप है और अपने भले-बुरे विचारों का स्वामी है। वह अपनी उन्नतावस्था की व्यवस्था का स्वतंत्र अधिकारी है। उसकी निर्बलता या सबलता, शुद्धता या अशुद्धता का जुम्मेवार वह खुद है, दूसरा कोई नहीं। उसको वही बदल सकता है, न कि कोई दूसरा। सुख और दुःख उसी ने उत्पन्न किये हैं और वही उनका भोक्ता या हटाने वाला है।”

“बुराई का प्रतीकार (हटाने का उपाय) बुराई नहीं है, किन्तु बुराई, भलाई से जीती (हटाई) जाती है। अतएव हर एक मनुष्य के साथ तुम उतनी ही भलाई करो, जितनी कि तुम्हारे साथ बुराई की जाती हो।”

वस, इन्हीं परमर्षी कृत महान् सिद्धांतों का समर्थन (विवेचन) करने वाला और उनकी असली वस्तुस्थिति बतलाने वाला यह ग्रंथ है। इसके मूल ग्रंथकार श्री सोमसुन्दरसूरिजी महाराज के सुशिष्य पं. श्री जिनहर्षगणि माने जाते हैं। उन्होंने इसको प्राकृतभाषामय आर्या छन्दों में रचा है, जो अति सरल, सरस और बोधप्रद है।

इसी २८ गाथामय लघु-ग्रंथ का यह विस्तृत हिन्दी विवेचन है। इसमें प्रथम मूल गाथा, उसकी संस्कृत-छाया, बाद उसका शब्दार्थ, भावार्थ और विस्तृत विवेचन रक्खा गया है। विवेचन में मूल ग्रंथकार के आशय को अनेक युक्ति प्रमाणों से सरल, सरस और रोचक बनाया गया है।

मूल-ग्रंथ और विस्तृत-विवेचन में किन-किन विषयों का समावेश किया गया है, यह इसके प्रारंभ में दिए हुए विषय-निर्देशन को बाँधकर जान लेना चाहिए। हमें पूर्ण विश्वास है कि संसार में चाहे जैसा निर्गुणी मनुष्य क्यों न हो, पर वह एक बार इस विवेचन को वाँचकर सदगुणी भले न बने, परन्तु उसको अपनी भूलों के लिए हार्दिक पश्चाताप तो अवश्य ही होगा और पश्चाताप के वजह से एक दिन वह सदगुणी बनने का प्रयत्न करते देख पड़ेगा।

इसकी पहली आवृत्ति संवत् १९७४ में शा भोती दलाजी पोरवाड़ बागरावाले के तरफ से छप चुकी है, जो प्रकाशित होते ही हाथोहाथ चली गई। यह इसका द्वितीय संस्करण है, जो सुधारे वधारे के साथ प्रकाशित है। इसको जैनाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी

महाराज के परम श्रद्धालु सीयाणा (भारवाड़) निवासी शा भीमाजी छगनलाल जैन पोरवाड़ ने खास वितरण करने (भेंट देने) के लिए छपवाया है, अतः उन्हीं को इस उदारता और ज्ञानभक्ति के लिए हार्दिक धन्यवाद दिया जाता है।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

विक्रम संवत् १९८५

प्रथम श्रावण सुदि ५

मुनि श्री यतीन्द्रविजय

मु. थराद (उत्तर-गुजरात)

पत्र-सम्पादक और विद्वानों की सम्मतियाँ-

(१) गुणानुराग-कुलकम् - इसका आकार मध्यम, पृष्ठ संख्या ३८६ है। टाइप बत्रिक जैन ढंग का है। छपाई और कागज अच्छा है, जिल्दबंधी है। इस पुस्तक में श्रीजिन हर्षगणी निर्मित २८ आर्यावृत्त प्राकृत-भाषा में हैं परन्तु मुनिराज श्री यतीन्द्रविजयजी ने उसका विस्तृत विवेचन करके ग्रंथ का आयतन मूल से कई गुना बढ़ा दिया है। मुनिवरजी ने प्राकृत गाथाओं की संस्कृत-छाया, उसका शब्दार्थ और भावार्थ भी लिख दिया है। आपका 'विवेचन' बहुत सुन्दर और शिक्षादायक है। सरस्वती, पूर्ण संख्या २१२, अगस्त सन् १९१७।

(२) गुणानुरागकुलक - प्राकृत ग्रंथ के विस्तृत हिन्दी विवेचन को आद्योपांत मनन करने से मुझे इतनी शान्ति उत्पन्न हुई कि जिसे लेखिनी के द्वारा प्रगट नहीं की जा सकती। विवेचन की हिन्दी सरल होने से

आबाल-वृद्ध सभी के समझ में आ सकती है। दरअसल में हिन्दी-संसार जिस चीज को चाहता था, इसने उसकी कमी को पूर्ण की है।

ता. १७.५.१९

पं. शास्त्री-पन्नालाल नागर

मु. रतलाम (मालवा)

(३) X X X विवेचन क्या है ? मानो सद्गुणों का खजाना है। देखने मात्र से इसकी विशालता, सुन्दरता और शुद्धता पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता। इसको एक बार वाँचने से आत्मा में शांति का श्रोत बहने लगता है और दोष-दृष्टि कोशों दूर भग जाती है।

संवत् १९८०

पं. दुर्लभराम शास्त्री

आसोज सुदि ७

मु. झाबुआ (मालवा)

(४) + + + पुस्तक का आयतन जितना मनोरंजक है, इससे भी अधिक उसका विवेचन चित्त को शांति पहुँचाने वाला है। अवगुण-दृष्टिरूप रोगों को निर्मूल करने के लिए यह पुस्तक एक प्रकार की रामबाण औषधि के सदृश है। इसका जितना वर्णन किया जाय, उतना ही कम है।

मु. बनारस सीटी

ता. २७.५.२०

पं. शिवदत्त, एफ.ए.

(५) + + + + आपका सुन्दर विवेचन किस व्यक्तिगत दोष-दृष्टि को छोड़ने के लिए प्रेरित नहीं करता। मुझे विश्वास है कि इस हृदयानन्दी विवेचन को वाँचने वाला मनुष्य अपनी पाशविक-वृत्तियों के लिए एक बार अवश्य लाचार होगा और अपनी दोषी आत्मा को निन्देगा।

संवत् १९८१

साहित्याचार्य - पं. मथुराप्रसाद दीक्षित

चैत्र सुदि २

मु. रतलाम (मालवा)

(६) गुणानुरागकुलकम् । अशेषसुधीजनमनोरञ्जनाय पटीयांसं
नीतिमथाऽमृतरसस्पन्दिनममुमवलोकमवलोकमसंशयमयमसीमोपकारी
भविता समेषां सर्वथा निरवद्योऽयमिति सम्पनुते।
व्याकरणतीर्थभूषण-मैथिलो व्रजनानामिश्रः।

सं. १९८५, प्र.श्रा.कृष्णा ५,

मु. धगजरी (दरभंगा)

The book entitled "गुणानुरागकुलक" amply justifies the name which the learned and well-known author has given to it sweet, lucid and enter taining, it may satisfy the appetite of the young and old alike. The author has spared no pains to make the book rich with matter instructive and illustrative.

25.7.1928

S.M. Kikani,
Tharad - Junagadh.

जीवन-रेखा

पूज्यपाद-प्रातः स्मरणीय-व्याख्यानवाचस्पति-

श्रीमान् मुनिराज श्री श्री श्री १००८
श्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज की
आदर्श-जीवन-चर्या

जिन मानुषों की कीर्ति का गौरव अतीव अपार है,
निःस्वार्थ जिनका कार्य इस संसार का उपकार है।
उपदेश जिनके शान्तिकारक हैं, निवारक शोक के,
अनुरक्त उन पर क्यों न हों जो हैं हितैषी लोक के ॥१॥

जन्म परिचय -

आप प्रतिभा सम्पन्न, विचारदक्ष, जैनागम-रहस्यज्ञ और शांत स्वभाव जैन-मुनि हैं। आपके व्याख्यान इतने रोचक होते हैं, जिन्हें केवल जैन ही नहीं, जैनेतर लोग भी बड़े उत्साह से सुनते हैं और हार्दिक प्रसन्नता प्रगट करते हैं। इसी से आप विद्वानों के द्वारा 'व्याख्यान-वाचस्पति' की उपाधि से सुशोभित किए गए हैं।

आपका जन्म बृदलेखंड की प्रसिद्ध राजधानी 'धवलपुर' में विक्रम संवत् १९४० कार्तिक शुक्ल २ के दिन जाइसवाल (ओसवाल)

जैन कुलावतंसक काश्यपगोत्रीय राय साहब सेठ ब्रजलालजी की गृहपत्नी चम्पा कुँवर की कुँख से हुआ था। गृहस्थावस्था का नाम आपका रामरत्न था। आपके बड़े भाई दुलीचन्द्र तथा छोटे भाई किशोरीलाल थे और बड़ी बहिन गङ्गाकुँवर तथा छोटी बहिन रमाकुँवर थी। सं. १९५४ आषाढ़ वदि २ सोमवार के दिन खाचरोद मालवा में आपने जैनाचार्य श्रीपाद विजयराजेन्द्र सूरिस्वरजी महाराज के पास लघु दीक्षा और सं. १९५५ माहसुदि ५ गुरुवार के दिन आहोर (मारवाड़) में बृहदीक्षा (बड़ी दीक्षा) ली, दीक्षा के समय आपका नाम यतीन्द्रविजय रखा गया।

चातुर्मास -

दीक्षा के अनन्तर सं. १९५४ रतलाम, १९५५ आहोर, १९५६ शिवगंज, १९५७ सिथाना, १९५८ आहोर, १९५९ जालोर, १९६० सूरत-सिटी, १९६१ कुकसी, १९६२ खाचरौद, १९६३ बड़नगर एवं दस चातुर्मास आपने अपने गुरु-महाराज के साथ ही करके गुरुसेवा के साथ-साथ व्याकरण, काव्य, कोश, न्याय आदि ग्रंथों का अभ्यास किया

१. ग्वालियर से उत्तर १८ मील चंबल नदी के बाँयें किनारे पर यह कस्बा बसा हुआ है। इसके तुअर के घराने के राजा धोलनदेव ने बसाया है। अकबर की अमलदारी में यह आगरे के सुबे की तरफ था और मोहब्बत खाँ वगैरह यहाँ हाकमी करते थे। सं. १८३९ में यह सिंधिया के कब्जे में हुआ, फिर अंग्रेजों के कब्जे में हुआ। अंग्रेजों ने खेरातसिंह को गोहद के बदले में दे दिया। इसका दूसरा नाम 'धोलपुर' है। यह देशी राज्य की राजधानी है और इसके नीचे ६६६ गाँव हैं।
२. ओसवाल जाति होने पर भी जाइसवाल गाँव के अधिवासी होने से आप जाइसवाल कहलाये।
३. आप दिगम्बर जैन शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता, श्रद्धालु और व्याख्याता थे। आप हमेशा शाम के ८ बजे से ९.३० बजे तक दिगम्बर भाई-बहिनों को शास्त्र वाँच कर सुनाते थे। इसी से दिगम्बर जैनों के तरफ से आपको राई साहब (भाईजी) की उपाधि मिली थी।

और शेषकाल में भी साथ ही रहकर शत्रुञ्जय, गिरनार, केशरिया, अर्बुदाचल आदि प्राचीन जैनतीर्थों की यात्रा करके अपनी आत्मा को पवित्र की।

संवत् १९६४ रतलाम, १९६८ रतलाम, १९६९ वागरा, १९७० आहोर; ये चार चातुर्मास आपने शांतमूर्ति उपाध्यायजी श्रीमान् मोहनविजयजी महाराज के साथ में और सं. १९६५ रतलाम, १९६६ रतलाम, १९७१ जावरा, १९७२ खाचरौद, १९७८ रतलाम; ये पाँच चातुर्मास आपने साहित्य प्रेमी विद्याभूषण श्रीमद् दिपेविजयजी (आचार्य - श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरिजी) महाराज के साथ में किए। इन चातुर्मासों में प्रायः श्री अभिधान - राजेन्द्र नामक प्राकृत महाकोश का संशोधन किया और इसी कारण एक ही गाँव में चातुर्मास पर भी चातुर्मास करना पड़ा।

संवत् १९६७ मंदसौर, १९७३ आहोर, १९७४ सियाना, १९७५ मीनमाल, १९७६ बागरा, १९७७ बागरा, १९७९ निम्बाहेड़ा, १९८० रतलाम, १९८१ बाग (निमाड़), १९८२ कुसी, १९८३ आकोली और संवत् १९८४ गुड़ा-बालोतरा; ये बारह चातुर्मास आपने स्वतंत्र किए और इनमें आपने स्व-उपदेश बल से श्रावक-श्राविकाओं को उपदेश दे करके सामाजिक और धार्मिक समुन्नति के अनेक कार्य कराये।

१. जन्म सांकूजा (मारवाड़) सं. १९२२ भाद्रवादि २ गुरुवार। पिता बदीचंद, माता-लक्ष्मीबाई और जन्म नाम - मोहन, जाति - राजगुर ब्राह्मण पुरोहित। दीक्षा - जावरा (मालवा) सं. १९३३ माहसुदि २ गुरुवार। बड़ी दीक्षा - कुक्षी (निमाड़) सं. १९३९ मगसिर वदि २ सोमवार। पंन्यासपद शिवगंज (राजपुताना) सं. १९५९ फाल्गुन सुदि २। उपाध्याय पद - राणापुर (मालवा) सं. १९६६ पौष सुदि ८ बुधवार और स्वर्गवास कुक्षी (निमाड़) में सं. १९७७ पौष सुदि ३ बुधवार।

मारवाड़देशीय - विहार स्थल -

भीनमाल, खानपुर, भडूरी, तुआव, बोरटा, मोदरा, घाणसा, रेवतड़ा, पांथेडी, मेंगलवा, भांडवा-महावीर, सुराणा, सायला, गोल, मांडवला, रमणीया, मांकलेसर, सवानागढ़, जसोल, नाकोड़ा-पार्श्वनाथ, बालोतरा, जालोर, धानपुर, साथू, नून, बाकरा, आकोली, बागरा, डूंडसी, सियाना, काणोदर, रायपुरिया, देलंदर, कालिन्दी, सनवाड़, सिरोड़ी, मेडा, मीरपुर, सन्दरुट, अनादरा, आबुतीर्थ, खराड़ी, नीतोरा, नांदिया, रोहिड़ा, धनारी, भावली, अजारी, पिंडबाड़ा, वामनवाड़, ऊंदरा, वीरवाड़ा, सानवाड़ा, सिरोही, गोयली, ऊड, पाड़ीब, जावाल, बलदुट, मंडवारिया, भूतगाँव, मणोरा, लास, भेव, मलादर, हरजी, सवरछा, बूडतरा, थांवला, भेंसवाड़ा, लेटा, वाधनवाड़ी, गोधन, सकराणा, सांबूजा, आहोर, चरली, दयालपुरा, गुड़ाबालोतरा, अगवरी, वेदाणा, उमेदगढ़, तखतगढ़, सेदरिया, पावटा, आलावो, रोबाडो, लखमावो, भारुंदो, कोरटो, जोगापुरो, पौषालियो, उतमण, जोथलो, फतापुरो, पालरी, शिवगंज, ऊंदरी, सुमेरपुर, एरनपुर, बीलपुर, बीजापुर ताडलाई वाली, खिमेल, रानी, राणी स्टेशन, वरकाणा, नाडोल, नाडलाई, खिमाड़ा, खुलाला, मुडारा, सादडी, राणापुर, घाणोराव, देसुरी, सेवाडी, रातामहावीर, नाडा, बेडा इत्यादि।

मेवाड़देशीय - विहार स्थल -

झीलवाड़ा, पडायली, गडबोर (चार भुजा) राजमगर, कांकरोली नाथद्वारा, देलवाड़ा, भानपुरा, सायरा, बोल, गोगुंदा (भोटागाँव), थोडगाम, उदयपुर, वानेर, कपासण, भदेर, करेडा-पार्श्वनाथ, निम्बाहेड़ा, सतखंडा, चित्तौड़, टीडी परसाद, धुलेवा (केशरियाजी), देंवलगाँव, खेरवाकेम्प, रामपुरा, डूंगरपुर, आन्तरी, धूमड़िया,

गलियाकोट, आंजना, घोरी, गढ़ी, परतापोल, तलवाड़िया, बांसवाड़ा, खांडू, बाजना, सहगढ़, इत्यादि।

मालवदेशीय - विहार स्थल -

नयागाँव, जावद, पीपलिया, मणासा, कुकड़ेसर, नारायणगढ़, नीमच, नीमचकेम, पीपल्या, जामनिया, मल्हारगढ़, थड़ोद, वही-पार्श्वनाथ, संजीत, सीतामऊ, धाडियाखेड़ी, मंदसौर, अमरावद, फतेगढ़, एलची, रेलदलोदा, कचनारा, ढोढर, इंगणोद, रोजाणा, मामटखेड़ा, बरडिया, गुणदी, जावरा, वरडावदा, सरसी, घिनोदा, खाचरौद, सेमलिया, बांगरोद, नामली, सैलाना, रतलाम, धराड, बिलपांख, रूनीझा, पचलाना, मड़ावदा, धानासूता, खरसोद, चीरोला, मकरावन, उज्जैन, मक्षीपार्श्वनाथ, बड़नगर, अमला, बदनावर, राजोद, खवासा, कड़ोद, कानून, धामणदा, दसाई, लेडगाँव, राजगढ़, सरदारपुर, धार, मांडवगढ़, झकनावदा, पेटलावद, किसनगढ़, थांदला, रंगपुरा, झाबुआ, राणापुर, कुन्दनपुर, गमलां, बोरी, पारा, पीथनपुर, छड़ावद, मोहनखेड़ा तीर्थ, रिंगनोद, भोपावर तीर्थ, टांडा, बाग, घोड़ा, रामपुर, कुक्षी, निसरपुर, तालनपुर, नानपुर, खट्टाली, आलीराजपुर, छोटा उदयपुर, इत्यादि।

गुजरात-काठियावाड़ के विहार स्थल -

दाहोद, बलूंदी, पीपलोद, ओरवाड़ा, गोधरा, टुबा, टिम्बारोड, सेवालिया, अंगाड़ी, ठासरा, डाकौर, उमरेठ, भालेज, वोरियावी, वरताल, मेलाय, सोजीत्रा, ईसरबाडा, वरसडा, वटामण, बोरु, बालोद, पीपली, आपली, घोलेराबंदर, एवदपर, वेलावदर, रतनपुर, बला (बल्लभरी) चमारडी, करदेस, वरतेज, भावनगर, अखवाड़ा, गोधाबंदर, तणसा, त्रापज, तलाजा-तीर्थ, देवली, ठासेज, पालीताणा, सिद्धाचल,

घेटी, परबड़ी, चारोडिया, मोटा लीलिया, अमरेली, मोटा-आकड़िया, कुकावाव, चूड़ा, राणपर, वडाल, जूनागढ़, गिरनारजी, जेतपुर, गोयटा, गोंडल, वीलियारुं, रीबड़ा, कोठारियुं, राजकोट, खोराणा, सिंघावदर, बांकानेर, जाली, लूणसर (री) दाधोडियुं, सरा, कोंड, जीवा, धांगधा, गाला, धरमठ, देहगाँव, ओडुं, झींझवाड़ा, धामा, आदरियाणा, शंखेश्वर, मुजपर, हारिज रोड, जमणपर, अडिया, कूणझर, पाटण, सागोडिया, कल्याणा, भेत्राणा, सिद्धपुर, समोडा, लूणवा, वीठोडी, कोदराम, चाणशूल, डभोड़ा, वरठा, तारंगतीर्थ, टेबा, भालुसणा, ऊमरी, नागरमोरिया, दांता-भवानगढ़, कुम्भारिया, अम्बावजी, वीरमगाम, भोयणी, खंभाच, सूरत, रांदेर, सायण, खीमचोकी, बोढाण, खोलवण, झगडियातीर्थ, डभोई, इत्यादि।

ग्रंथमाला -

संवत् १९७८ से आपने श्री राजेन्द्रसूरि-जैन ग्रंथमाला नाम की ग्रंथमाला प्रकाशित करना आरंभ (शुरू) की। इस ग्रंथमाला के अब तक - १ श्रीकर्मबोध-प्रभाकर, २. राइदेवसिय-प्रतिक्रमण, ३. जन्म-मरण-सूतक निर्णय, ४. स्त्री शिक्षण - हिन्दी, ५. श्री पंचप्रतिक्रमण (फुटनोट सहित), ६. राजेन्द्रसूरि गुणाष्टक-संग्रह, ७. राइदेवसियपडिक्कमण (बड़े अक्षर), ८. पीतपटाग्रह-मीमांसा और निक्षेप निबंध, ९. संक्षिप्त - जीवन चरित्र (श्रीधनचन्द्रसूरिजी का), १०. अष्टप्रकारी पूजा (श्री राजेन्द्रसूरिजी की), ११. जीव भेदनिरूपण - हिन्दी, १२. सप्तव्यसन - परिहार, १३. सविधि साधु पंचप्रतिक्रमण सूत्राणि, १४. श्री जैन रहस्यम्, १५ जिनेन्द्रगुणगान लहरी, १६. जिनगुण मंजूषा (चतुर्थ भाग), १७. उमेद अनुभव (दूसरा, तीसरा संस्करण), १८. जैनर्षिपटनिर्णय, १९. एक सौ आठ बोल का थोकड़ा, २०. जैन सुबोध (प्रथम भाग), २१. अध्ययन चतुष्टय (दशवैकालिक सूत्र के शुरू के चार

अध्ययन शब्दार्थ - भावार्थ सह), २२. रत्नाकरपच्चीसी (शब्दार्थ-भावार्थ सह), २३. श्री मोहनजीवनादर्श, २४. नवपद पूजा (श्री राजेन्द्रसूरिजी कृत), २५. श्री गुरुदेव भजनमाला, २६. देववन्दन माला (तीसरी आवृत्ति), २७. गुंहली-विलास (द्वितीय भाग), २८. श्री गुणानुरागकुलकम् - (विस्तृत विवेचन, शब्दार्थ-भावार्थ और संस्कृत छाया सहित), २९. श्रीयतीन्द्रसेवाफल सुधापान, ३. श्री गुरुदेव गुण-तरंगिणी, ३१. श्री यतीन्द्र विहारादर्श; ये इकतीस पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं। इसके सभी पुष्प प्रायः मुफ्त में वितरण किए जाते हैं और प्रत्येक पुष्प अतिसुन्दर शुद्धतापूर्वक प्रकाशित होता है।

ग्रंथ रचना -

आप संस्कृत-प्राकृत भाषा के ज्ञाता होने पर भी हिन्दी के अच्छे मुलेखक हैं। आपके रचित सरस और भावपूर्ण हिन्दी-ग्रंथों ने अच्छी कदर पाई है। उनकी सरस्वती, माधुरी आदि हिन्दी पत्रिकाओं के सम्पादकों ने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। आपके रचित हिन्दी-ग्रंथों की सूची इस प्रकार है -

१. तीन स्तुति की प्राचीनता - यह पुलिश्केप् १६ पेजी साइज में एक फार्म की किताब है, जो संवत् १९६३ में श्री श्वेताम्बराभ्युदय राजेन्द्र जैन लायब्रेरी जावरा के तरफ से छपी है। इसमें जैनागमों के और ऐतिहासिक प्रमाण देकर तीन स्तुति की प्राचीनता सिद्ध की गई है। पुस्तक छोटी होने पर भी बड़े महत्व की है।

२. भावना स्वरूप - आकार सुपर रॉयल १६ पेजी, पृष्ठ संख्या १६ है। मूल्य एक आना है। यह सं. १९६५ में श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टिंग प्रेस, रतलाम में अभिधान - राजेन्द्र कार्यालय की ओर से छपी है। यह अनित्यादि बारह भावनाओं का अत्यल्प स्वरूप जानने के लिए अच्छे वैराग्य-रस की पोषक है।

३. **गौतम - पृच्छा** - आकार डेमी १२ पेजी, पृष्ठ संख्या २४ है। मूल्य दो आना है। सं. १९७१ में जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम में श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय - जैन संघ रतलाम वालों के तरफ से मुद्रित। किसी प्राचीन जैनार्च्य कृत ६४ प्राकृत गाथा मय 'गोयमपुच्छा' नामक छोटा-सा ग्रंथ है। उसी के मूल-मात्र का यह हिन्दी अनुवाद है। संसार में कोई राजा है, तो कोई रंक, कोई सुखी है, तो कोई दुःखी, कोई काणा है, तो कोई अंधा, कोई लूला है, तो कोई कूबड़ा और कोई बहिरा है, तो कोई मूक। यह सब किन-किन कर्मों से उदयागत हैं। इस बात को समझने के लिए यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। इसकी प्रथमावृत्ति में १०००, द्वितीया वृत्ति में ४००० जासेलगढ़ के रहने वाले सेठ सरूपचंद हकमाजी के तरफ से और तीसरी आवृत्ति में १००० कॉपी रतलाम संघ के तरफ से छप चुकी है, इसी से इसकी उपयोगिता का अनुमान किया जा सकता है।

४. **श्री नाकोडा - पार्श्वनाथ** - आकार डेमी १२ पेजी, पृष्ठ संख्या ५६ है। छपाई और कागज सुन्दर है। यह जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम में सियाणा निवासी शा. वनेचन्द्र धूपाजी - पूनमचंद के तरफ से छपी है। जोधपुर रियासत के मालानी परगने में बालोतरा स्टेशन के निकटवर्ती नाकोडा - पार्श्वनाथ का प्राचीन तीर्थ है, इसी प्रभावशाली तीर्थ का ऐतिहासिक वृत्तांत इस पुस्तक में दर्ज है। इतिहास सामग्री के लिए यह पुस्तक उपयोगी है।

५. **सत्यबोध भास्कर** - आकार डेमी १२ पेजी, पृष्ठ संख्या १६२, मूल्य १ रुपए ५० पैसे। टाइप, छपाई और कागज सुन्दर है। यह जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम में संवत् १९७१ में बागरा (मारवाड़) के निवासी शा. जवानमल नथमल राजाजी पोरवाड़ के तरफ से छपी है। इस पुस्तक का दूसरा नाम प्रतिमासंसिद्धि है। स्थानकवासी सम्प्रदाय के लोग मूर्ति पूजा और मूर्ति प्रतिष्ठा के विरुद्ध नाना प्रकार के टेढ़े मोटे प्रश्न करते हैं। उन्हीं प्रश्नों के युक्ति सङ्गत उत्तर इस पुस्तक में हैं। उत्तरों में जिनेन्द्रों की प्रतिमा-प्रतिष्ठा की आवश्यकता

और उपयोगिता बताई गई है। इस विषय के सिवाय शास्त्राभ्यास, व्याकरण पढ़ने की आवश्यकता, युक्ति-युक्त प्रश्नोत्तर आदि का विवेचन है। पुस्तक उपादेय और हर एक को संग्रह करने लायक है। सरस्वती, भाग १६, खंड २, सितम्बर सन् १९१५, संख्या ३, पूर्ण संख्या १८९।

६. **जीवन प्रभा** - आकार क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ४४ है। यह सुन्दर कागज और निर्णयसागर प्रेस, बम्बई में १९७२ के साल, बागरा (मारवाड़) वाले शा. जवानमल चमनाजी, गुलबाजी, धूड़ाजी, वरदीचंद समरथमल पोरवाड़ की तरफ से छपी है। इसमें परम योगिराज जङ्गम, युग प्रधान जैनाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का संक्षेप में जीवन - परिचय दिया गया है और आपका जीवन कितना लोकोपकारक था, इसका मानो साङ्गोपाङ्ग फोटो खींच के दिखला दिया गया है। अभिप्राय -

“जीवन प्रभा पुस्तकमद्य मम चक्षुर्गोचरतामध्यगमत् । अतः कार्यान्तराण्यपास्य प्रभूतप्रणयतया तदेवाद्राक्षम् । अदो जीवन चरित मतीवोपयुक्तं विद्यते। अत्राने के गुणा दृश्यन्ते आर्यभाषातीवसरला, निरर्थक शब्दाडम्बरविकला, संक्षिप्तसारार्थं प्रदर्शनी चास्ति। शोधन प्रक्रियापि सुसमीचीना। अवश्यमेव मननार्हमदो पुस्तकमस्ति, अमुना जीवन सुधारणा भवितुमर्हति। भवान् आर्यभाषायाः सुलेख कोऽजनिष्ट। एवं लोकोपकारकान्, बहुशो ग्रन्थान् विरचयन धर्मप्रचारादिकृत्यं चानुतिष्ठन् भवान् सूरिश्रत्वमधिगन्तुं शक्नोति। एवमस्तु, महती मे मानसप्रसक्तिः ।”

वि.सं. १९७३ आश्विन कृ. ११
मु. परसपुर (गोंडा)

संस्कृत पाठशाला प्रधानाध्यापक
पं. जयदेव शास्त्री

७. गुणानुराग-कुलकम् - इसका आकार मध्यम, पृष्ठ संख्या ४८४ है। टाइप वनिक जैन ढंग का है। छपाई और कागज अच्छा है, जिल्द बंधी है। इसे सं. १९७४ में बागरा (मारवाड़) निवासी शा. मोती दलाजी पोरवाड़ ने जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम में छपाई है। इस पुस्तक में श्री जिनहर्ष गणी-निर्मित २८ आर्यावृत प्राकृत-भाषा में हैं। परन्तु मुनिराज श्री यतीन्द्रविजयजी ने उसका विस्तृत विवेचन करके ग्रंथ का आयतन मूल से कई गुना बढ़ा दिया है। मुनिवरजी ने प्राकृत-गाथाओं की संस्कृत-छाया, उसका शब्दार्थ और उनका भावार्थ भी लिख दिया है। आपका किया 'विवेचन' बहुत सुन्दर और शिक्षादायक है। पुस्तक की भूमिका में आपने लिखा है कि - 'जो मनुष्य विवेचनगत सिद्धांतों के अनुसार अपने चाल-चलन को सुधारेगा, वह संसार में आदर्श-पुरुष बनकर अपना और दूसरों का भला कर सकेगा।' यह निःसंदेह सच है।" सरस्वती, अगस्त सन् १९१७ पूर्ण संख्या २१२।

८. जन्म-मरण सूतक - निर्णय - आकार रॉयल १६ पेजी, पृष्ठ संख्या १६ है। मूल्य एक आना है। इसकी प्रथमावृत्ति श्री अभिधान राजेन्द्र - कार्यालय और द्वितीयावृत्ति बीजापुर (मारवाड़) निवासी सत्तावत - ताराचंद कूपाजी के तरफ से छप चुकी है। आचार्य श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी महाराज के पास जन्म-मरण संबंधी सूतकों का निर्णय करके विस्तृत विवरण सहित यह पुस्तक लिखी गई है, जो सूतक संबंधी झंझटों को फिटाने के लिए महत्व की है।

९. संक्षिप्त जीवन चरित्र - आकार क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या १७६ है। टाइप, कागज और छपाई सुन्दर है। इसे मुफ्त वितरण करने के लिए सं. १९८० में धानेरा (पालनपुर) के श्री सौधर्म वृहत्तपागच्छीय जैन संघ ने जैन प्रभाकर प्रेस रतलाम में छपवाया है। श्री सौधर्मवृहत्तपागच्छ की अविच्छिन्न परम्परा में ६६वें पाट पर श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरिजी महाराज एक प्रौढ़-प्रतापी आचार्य हुए हैं। इस पुस्तक में उन्हीं की जन्म से लेकर निर्वाण-

पर्यन्त जीवनचर्या आलेखित है। यह चरित्र केवल कहानी मात्र या खाली आलङ्कारिक बाह्याडम्बर का पोषक नहीं, किन्तु आचार्यों के खास कर्तव्य - कार्यों का समर्थक है।

१०. **जीव भेद - निरूपण** - साइज रॉयल १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ४८ है। टाइप, छपाई और कागज बहुत ही बढ़िया है। यह पुस्तक जैन पाठशालाओं के विद्यार्थियों के लिए जीव विचार आदि ग्रंथों के आधार से तैयार की गई है। इसमें कुल १६ पाठ हैं। प्रथम के आठ पाठों में जीवों के भेद प्रभेदों का स्वरूप और पिछले आठ पाठों में उनके शरीरमान, आयु आदि पाँच द्वारों का विवरण दिया गया है। इसको सं. १९८० में निम्बाहेड़ा (टोंक) के रहने वाले दिगम्बर धर्मावलम्बी सेठ जसराजजी पाटोदी ने अपनी पत्नी गेंदीबाई के स्मरणार्थ छपवाया और इसकी ५०० कॉपी साथू (मारवाड़) निवासी शा. चेनाजी अमीचंद पोरवाड़ ने छपाई है। यह जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम में छपी है।

११. **श्री गौतम कुलक - वसन्ततिलका** - वृत्तों में प्राकृत भाषामय २० गाथाओं का किसी प्राचीनाचार्य रचित सुभाषित शिक्षा ग्रंथ है। उसी का मूल, शब्दार्थ और भावार्थ इसमें समावेशित हैं। इसकी प्रत्येक गाथा जैन और जैनेन्तर सभी को कंठस्त करने योग्य है। इसकी प्रति गाथा में चार-चार शिक्षाएँ दर्ज हैं, जिनके धारण करने से मनुष्य अपना बहुत जल्दी सुधारा कर सकता है। यह ग्रंथ जीव भेदनिरूपण नामक पुस्तक के शामिल ही छपा है।

१२. **पीतपटाग्रह - भीमांसा** - साइज क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ६२ है। टाइप, छपाई और कागज अच्छा है। मूल्य पाँच आना है। सं. १९८० में श्री यतीन्द्र जैन युवक मंडल, निम्बाहेड़ा की तरफ से जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम में मुद्रित। यह वही पुस्तक है, जिसकी शास्त्रोक्त सुदृढ़ युक्तियों का खंडन करने के लिए शहर रतलाम में चतुर्थस्तुतिक, पीतवस्त्राग्रही अपवादी आचार्य सागरानन्दसूरिजी ने नौ महीने तक हेन्डबिल बाजी खेली। अपने

अंधभक्तों को शिखा कर हुल्लड़ भी मचाया और इतस्ततः दौड़ा दौड़ भी लगाई, परन्तु आखिर वे किसी प्रकार से सफल मनोरथ नहीं हुए। पीतवस्त्रधारी साधुओं की कुयुक्तियों को निर्मूल करने और उनकी पोलों को खोलने के लिए एक यही पुस्तक काफी है।

१३. निक्षेप निबंध - यह निबंध जैन शासन साप्ताहिक पत्र के दीवाली के खास अंक के लिए उसके सम्पादक हर्षचन्द्र भूराभाई की प्रेरणा से लिखा गया था, जो कि जैन शासन दीवाली के खास अंक में ही प्रकाशित है। अब यह पीतपटाग्रह - मीमांसा के शामिल ही पुस्तक रूप से मुद्रित हो चुका है। इसमें निक्षेपों का स्वरूप बड़ी खूबी के साथ समझाया गया है।

१४. जिनेन्द्र गुणगान लहरी - आकार क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या १२० है। छपाई, सफाई, टाइप और कागज सुन्दर है। जिल्द बंधी हुई है। यह जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम में १९८० के साल आहोर (मारवाड़) के शा. रतना भूताजी, मूता नथमल चुन्नीलालजी और हेमाजी पन्नाजी ओसवाल के तरफ से जाहिर हुई है। इसमें विश्व पूज्य चौबीस तीर्थङ्कर भगवन्तों के चैत्यवन्दन ८८, स्तुतियाँ २२, स्तवन ७०, गुरुगुण गर्भित - स्तवन ११ और गुंहलियाँ ५ संदर्भित हैं। जिन गुणगान और गुरु कीर्तन के लिए यह पुस्तक अति उपयोगी है।

१५. जैनर्षिपट निर्णय - साइज क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ५२ है। इसकी छपाई और कागज बहुत बढ़िया है। यह आनन्द प्रिंटिस प्रेस, भावनगर में १९८१ के साल, निसरपुर (निमाड़) निवासी ओसवाल सोभागमलजी धन्नालाल सुराणा की गृहपत्नी भूरीबाई की तरफ से छपी है। भगवान् श्री महावीर स्वामी के सर्वमान्य शासन को मान्य रखने वाले साधु और साध्वियों के लिए शास्त्रानुसार श्वेत, मानोपेत और जीर्णप्राय अल्पमूल्य वस्त्र ही धारण करना चाहिए, रंगीन नहीं। इसी विषय को सुदृढ़ बनाने के लिए इसमें जैनागम और प्रामाणिक-बहुश्रुताचार्यों के रचित ग्रंथ-रत्नों के ५१ प्रमाण-पाठ मय हिन्दी भावार्थ के दिए गए हैं।

१६. रत्नाकर-पञ्चीसी - साइज रॉयल १६ पेजी, पृष्ठ संख्या २४ है। यह जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम में १९८२ के साल कुकसी (धार) के रहने वाले पोरकाड़ जवरचंद बूदरजी के सुपुत्र जुहारमल की तरफ से मुद्रित है। श्री रत्नाकर सूरि रचित वसन्ततिलका - वृत्तों में २५ संस्कृत श्लोकों का यह प्रभु प्रार्थनामय स्रोत है। उसी का यह शब्दार्थ-भावार्थ मय हिन्दी अनुवाद है, जो प्रभुप्रतिमा के सामने प्रार्थना करने के लिए बहुत ही अच्छा और कंठस्थ करने योग्य है।

१७. श्री मोहनजीवनादर्श - आकार क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ५६ है। इसको मुफ्त वितरण करने के लिए जैन प्रभाकर प्रेस, रतलाम में १९८२ के साल आलीराजपुर निवासी श्री सौधर्मबृहत्पागच्छीय जैन संघ ने छपाया है। इसमें शांत मूर्ति उपाध्यायजी श्री मोहनविजयजी महाराज की जीवनी हुबोहुब दिखलाई गई है और इसके पढ़ने से स्थान-स्थान पर अच्छी शिक्षाएँ मिलती हैं।

१८. अध्ययन चतुष्टय - आकार क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ८२ है। छपाई, सफाई, टाइप और कागज सुन्दर है। इसको आनन्द प्रेस, भावनगर में सं. १९८२ के साल राजगढ़ (मालवा) की रहने वाली राय साहब पन्नालालजी खजांची की पत्नी माणकबाई ने छपवाया है। साध्वाचार विषयक श्री दशवैकालिक नामक सूत्र है, जो श्रुतकेवली श्री शय्यम्भवसूरिजी का बनाया हुआ और ४५ जैनागमों में से एक है। यह उसी के शुरुआत के चार अध्ययन हैं। इसमें प्रथम मूल, बाद में उसका शब्दार्थ और भावार्थ सन्दर्भित है। अनुवाद इतना सरल और सरस है कि सूत्र के मर्म को समझने में तनिक भी संदिग्धता नहीं रहती। बड़ी दीक्षा के उत्साही साधु साध्वियों को यह पुस्तक कंठस्थ करने लायक है।

१९. लघुचाणक्य नीति - अनुवाद - आकार डेमी १२ पेजी, पृष्ठ संख्या ६४ है। छपाई, टाइप और कागज सुन्दर है। इसकी तीन आवृत्ति निकल चुकी है - पहली बार में १००० कॉपी बागरा (मारवाड़) निवासी शा. चमना

हकमाजी, दूसरी बार में १००० कॉपी भिंडी बाजार मारवाड़ी व्यापारी मंडल, बम्बई और तीसरी बार में १००० कॉपी सं. १९८१ में फूंगणी (सिरोही) के रहने वाले शा. जेताजी जेसाजी की तरफ से छपी है। चाणक्य मंत्र रचित वृहन्चाणक्य नीति से सार-सार सुभाषित श्लोक उद्धृत करके किसी यति महाशय ने आठ अध्याय वाला लघुचाणक्य नीति बनाया है। मुनिवरजी ने इसी का सरल हिन्दी में अनुवाद किया है। इसका प्रत्येक श्लोक जैन और जैनैतर सभी को कंठाग्र करने योग्य है।

२०. कुलिंगिवदनोद्गार - मीमांसा - साइज क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ७४ है। टाइप, छपाई और कागज उत्तम है। आनन्द प्रेस, भावनगर में सं. १९८३ में मुद्रित, प्रकाशक के.आर. ओसवाल, जंजिरा (मालवा)। आगमोदय समिति के नियन्ता महानुभाव सागरानन्दसूरिजी ने अपनी योग्यता का परिचय दिखलाने वाली एक यतीन्द्र मुख चपेटिका नाम की छोटी पुस्तक जाहिर की है। उसी का इस में अकाट्य युक्ति और प्रमाणों से सभ्यता पूर्वक उत्तर दिया गया है। इसी पुस्तक से घबरी कर महाशय सागरानन्दसूरि बिना शास्त्रार्थ किए ही पाँचवीं बार भी मारवाड़ से पलायन कर गए।

२१. ऐतिहासिक - दृश्य - यह एक निबंध है, जो बिहार करने वाले साधु-साध्वियों के लिए अत्युपयोगी है। इस जीवन-रेखा के नायक श्रीमान् ने साढ़े पाँच सौ कोश की लम्बी मुसाफरी (पैदल बिहार) करके जो प्राचीन अर्वाचीन जैन तीर्थों की यात्रा की, उसी के दरम्यान आए हुए रास्ते के छोटे-बड़े गाँवों का जरूरत पूरता ऐतिहासिक वृत्तांत इस दृश्य में संदर्भित है।

योगिक क्रिया और दीक्षादान -

महाराज श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरिजी की आज्ञा से आपने कमलश्री १, सुमता श्री २, सोहन श्री ३, फूलश्री ४, गुलाबश्री ५, मगनश्री ६, हेतश्री ७, ज्ञानश्री ८, क्षमाश्री ९, धनश्री १०, धर्मश्री ११, दयाश्री १२, चन्दनश्री १३, देवश्री १४; इन चौदह साध्वियों को बड़ी

दीक्षा संबंधी योग-क्रिया कराई। इनके अलावा आहोरवाली बाई ऊजी, बीजापुर वाली बाई केसी, हरजी वाली बाई भल्ली, रिंगनोद वाली बाई लूणी, टांडा वाली बाई इम्मू और राजगढ़ वाली बाई मिश्री; इन छह श्राविकाओं को लघु-दीक्षा आप ही ने दी है और अनुक्रम से उनके चन्दनश्री, चिमनश्री, पुण्यश्री, विमलश्री, चेतनश्री और चतुरश्री नाम कायम किए हैं।

प्रतिष्ठाअंजनशालाका -

झाबुआ रियासत के गाँव बोरी में संवत् १९६१ फागुण वदि ५ के दिन सौष शिखरी जिन मंदिर की, जावरा रियासत के गाँव गुणदी में सं. १९६१ मार्गशीर्ष शुक्ला ३ के रोज मूलनाथक श्री शांतिनाथ भगवान् की, मंदसौर परगने के गाँव एलची में सं. १९६५ पौष सुदि ११ के दिन श्री पार्श्वनाथ भगवान् की, जावरा रियासत के गाँव मामटखेड़ा में सं. १९६७ वैशाख सुदि ३ के दिन श्री चन्द्रप्रभ स्वामी की, सिरोही रियासत के गाँव सिरोडी में सं. १९७३, ज्येष्ठ सुदि १ गुरुवार के दिन श्री पार्श्वनाथ और बंमनवाड़ (महावीर) मंदिर के सुवर्णदंड ध्वज-कलश की, जावरा स्टेट के गाँव संजीत में सं. १९७८ मगसिर सुदि ६ के दिन

१. इसी मुहूर्त में आदिनाथ दादा के चरण-पादुका की अंजनशालाका की जो पार्श्वनाथ के मुख मंडप में स्थापित है।
२. मूलनाथकजी के आसपास की श्री शीतलनाथ और श्री अनन्तनाथ स्वामी की मूर्ति की अंजनशालाका की।
३. युगमन्धर स्वामी, बाहु स्वामी, पार्श्वनाथ स्वामी, गौतम स्वामी, पार्श्वनाथ और जैनाचार्य श्री विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी की दो मूर्तियों के सहित।
४. राजेन्द्र भवन में व्याख्यानालय के अन्दर चुन्नीलालजी खजांची की बनवाई हुई आरस पाषाण की छत्री में स्थापित श्रीमद् विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के चरण पादुका की संवत् १९८२ मगसिर सुदि पूर्णिमा के रोज अंजनशालाका की।

भगवान् श्री चिंतामणि - पार्श्वनाथ स्वामी की, ग्वालियर रियासत के गाँव रिंगनोद में सं. १९८१ वैशाख सुदि ५ गुरुवार के दिन भगवान् श्री चन्द्रप्रभु स्वामीजी की झाबुआ स्टेट के गाँव झकनावदा में सं १९८१ वैशाख सुदि ११ के दिन भगवान श्री आदिनाथ स्वामी की, धार रियासत के गाँव कुकसी में सं. १९८२ ज्येष्ठ सुदि ९ सोमवार के दिन भगवान् श्री सीमन्धर स्वामी और गुरु मूर्तियों की, धार स्टेट के गाँव नानपुर में सं. १९८२ आषाढ़ सुदि १० मंगलवार के दिन भगवान श्री पार्श्वनाथ स्वामी आदि नौ मूर्तियों की और ग्वालियर स्टेट के राजगढ़ कस्बे से २ मील के फासले पर स्थित पवित्र तीर्थ मोहनखेड़ा में संवत् १९८२ मगसिर सुदि १० बुधवार के दिन जैनाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिश्चरजी महाराज की हुबोहुब भव्य-मूर्ति की एवं शास्त्रानुसारी विधि से आपने ग्यारह प्रतिष्ठाएँ भारी समारोह के साथ की हैं।

पीताम्बर विजेता की उपाधि -

बारह आचार्यों के आचार्य कहलाने का अखर्व-गर्व धारण करने वाले आगमोदय समिति के उत्पादक सागरानन्द सूरि को शास्त्रार्थ में पराजित करने (हराने) वाला जैन साधुओं में यदि कोई है, तो एक आप ही हैं। संवत् १९८० पौष सुदि १३ को आपके साथ श्वेतपीतवस्त्र-विषयक चौथी बार भी शास्त्रार्थ करते हुए, शहर - रतलाम से सागरानन्द सूरि को पराजित होकर रात्रि को भग जाना पड़ा और सं. १९८३ में पाँचवीं मर्तबा भी शास्त्रार्थ कर लेने के लिए तारीख १९.१२.२६ के रोज आपकी तरफ से दिए हुए मुद्रित चेलेंज को पाते ही मारवाड़ देश को छोड़ कर भी सागरानन्दसूरि को पलायन कर जाना पड़ा। इसी विजय के उपलक्ष्य में आपको जैनेतर- विद्वान और मालव देशीय जैन संघ ने 'पीताम्बर विजेता' की उपाधि प्रदान की है।

मंडलादि स्थापन -

जावरा (मालवा) में 'श्री राजेन्द्रोदय जैन युवक मंडल संजीत (जावरा) में 'श्री यतीन्द्र जैन पाठशाला' निम्बाहेड़ा (टोंक) में 'श्री यतीन्द्र जैन युवक मंडल' और सियाणा (मारवाड़) में 'श्री राजेन्द्र जैन शिक्षा प्रचारक मंडल' आपके ही उपदेश से स्थापित हुए हैं और वे अच्छी स्थिति में चल रहे हैं।

आप नवीन पुस्तकों को बाँचने के बड़े उत्सुक हैं, चाहे वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी या गुजराती भाषा के ही क्यों न हों, एक बार अवश्य उनको आद्योपान्त मनन करते हैं। आपके संस्थापित श्री यतीन्द्र जैन सरस्वती - भण्डार में जैन और जैनेतरों के अनेक ग्रंथों का अच्छा संग्रह है।

शिष्य - संपद -

आपके करकमलों से सात महानुभावों को दीक्षा दी गई, परन्तु वर्तमान में उनमें से मुनि वल्लभविजय, मुनि विद्याविजय, मुनि सागरानन्दविजय और मुनि विवेकविजय, ये चार शिष्य विद्यमान (मौजूद) हैं। इनकी बड़ी दीक्षा भी आप ही के करकमलों से शास्त्रीय-विधि अनुसार हुई है। बस अब अंत में इतना और भी लिख कर कि 'आप सत्यवक्ता, निस्पृही, शान्तस्वभावी, परोपकारी, समाज हित चिंतक, साधु धर्म कर्मठ और दीर्घदर्शी हैं। इसलिए आपकी जीवन रेखा जितनी लिखी जाए, उतनी ही कम है।' यह जीवन-रेखा समाप्त की जाती है।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

निम्बाहेड़ा (टोंक)

सं. १९८३ गुरु सप्तमी

श्रावक : कुन्दनमल डांगी

सेक्रेटरी : श्री यतीन्द्र जैन युवक मंडल

प्रथमं श्रीयतीन्द्रविजयाष्टकम्।

यस्यास्ये शरदिन्दुसुन्दरतरे वाणी नरीनृत्यते,
वादीन्द्रानपि सङ्गतानधिसभं युक्त्या जयंती क्षणात्।
विद्वद्बृन्दमनःसुतोषजननी संछेदिनी संशयान्,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद् यतीन्द्राभिधम् ।१।
द्राक्षापाकसमानतामुपगता यद्देशनाऽत्यद्भुता,
वर्षन्ती वचनामृतं सुमधुरं धर्म्यं पयोवाहवत्।
सद्युक्तिः श्रुतिसेविताऽपरिमिता पापापहारक्षमा,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद् यतीन्द्राभिधम् ।२।
सर्वाङ्गे कमनीयतां विदधते सौन्दर्यरत्नाकरं,
भास्वन्तं गुरुवर्चसा सुयशसा प्रद्योतितोशं परम्।
साक्षात्काममिवां विजयिनं लोकानुकम्पाकरं,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद् यतीन्द्राभिधम् ।३।
यावज्जीवसुसंयमव्रतपरं षट्शास्त्र चर्चाकरं,
श्रामण्याऽखिलसद्गुणातुलमहारत्नश्रिया मण्डितम्।
निर्धृताखिलकर्मसन्ततिममुं वैज्ञानिकानां वरं,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद् यतीन्द्राभिधम् ।४।
क्षान्तिर्यस्य महीयसी भुवितले विभ्राजते शाश्वती,
हेतौ सत्यपि जायते नहि मनाक् कोपोद्भवो जातुचित्।
धन्यं धन्यजनैः प्रशस्यमतुलं सत्कीर्तिमन्तं विभुं,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद् यतीन्द्राभिधम् ।५।

. धयन्तान्वयतात्पर्येण षष्ठ्याः साधुत्वम्, धात्वर्थान्वयतात्पर्येण द्वितीया साधीयसि, इति विवेकः।

धैर्यं यत्र वरीवृतीति सततं लोकोत्तरं सद्गुरौ,
 चित्तक्षोभकरेषु सत्स्वपि मनो नायाति चाञ्जल्यताम्।
 ध्यानारुढमना विपश्यति सदा स्वात्मानमेवाचलं,
 विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद् यतीन्द्राभिधम् । ६।
 विशेषामतिमण्डनं सुमनसां चित्ताम्बुजोत्सासनं,
 भव्याभव्यजन प्रबोधपटुतोद्भूताच्छ कीर्तिव्रजम्।
 दीनानाथ जनोपकारकुशलं व्याख्यानवाचस्पतिं
 विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद् यतीन्द्राभिधम् । ७।
 भास्वन्नासुरसद्गुणाकर जगत्योपुज्यमानस्फुर,
 च्छ्रीमद् गौरवपाद पूमयुगल ध्यान प्रसन्नात्मनाम्।
 युक्त्या खण्डयतामनल्पकुधियां वाचः सभायां विदां,
 विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद् यतीन्द्राभिधम् । ८।

श्रीमद्यतीन्द्र विजयप्रभु सद्गुरुणां,
 स्याद्वादपद्यपरिबोधन भास्कराणाम्।
 विद्याविवेकवर शिष्यगणैः प्रणुन,
 श्चक्रेऽष्टकं श्रुतिसुखं ब्रजनाथमिश्रः ॥ ९ ॥

पं. ब्रजनाथ मिश्र शास्त्री

द्वितीयं श्रीयतीन्द्र विजयाष्टकम्

यतीनां राजानो जिनरचितमार्गानुसरणाः,
कृपापारावारा जिनसमुदयावाप्तिविषयाः।
विजेतारः पीताम्बरधरमुनीनां सुमहसा,
स्वतंत्रा जीयासुर्गणधरमनीषा इव पराः ॥१॥

श्रीमान् धर्मधुरन्धरो धृतियुतो विद्वन्नैस्सेवितो,
निर्दयः सुविनायको गणधरो विख्यातकीर्तिः क्षितौ।
श्राद्धानां प्रियकारकोऽस्ति महतां विद्यानिधेर्वारिधिः
दीव्याच्छ्रीमुनिराज राजमुकुटो श्रीमान् यतीन्द्रो मुनिः ॥२॥

व्याख्यान वाचस्पतिरेव धीरः,
गम्भीरतावार्धिरिवापरञ्च।
राद्धान्ततत्त्वार्थ निषण्णमेधो,
जीयाद् मुनीन्द्र प्रवरो यतीन्द्रः ॥३॥
राजेन्द्र सूरिश्चर एव विद्वान्,
गुरुर्दयालुः परमार्थ बुद्धिः।
आराधितो येन मुनीश्वरेण,
भक्त्या महत्या परित्यक्तकामः ॥४॥

ज्ञाने परः कोविदहेमचन्द्रः,
उदारचेता महनीयकीर्तिः।
गृहीतकार्यं न जहाति कामं,
उद्योगशाली जयताद् यतीन्द्रः ॥५॥

आह्लादने चन्द्रमसो हि शोभां,
 धत्ते कृपालुर्जनतापहर्त्ता।
 समाधिनिष्ठः पुरुषार्थहस्तः,
 गुरोः कृपातो जयताद् यतीन्द्रः ॥६॥
 कार्यान्तगः शिक्षणपारदृष्ट्वा,
 गुरोश्च वाक्यानि वहत्यजस्रम्।
 क्रोधादिजेता जगद्द्वितीय-
 धाराप्रवाही वचने यतीन्द्रः ॥७॥
 गृहीत विद्याविजयः सुशिष्यः,
 समस्तलोकोपकरिष्णुरेषः।
 मासान् हि वेदान् गमयन् हि कुक्सौ,
 सुखेन तस्थौ मुनिराद् यतीन्द्रः ॥८॥
 इदं हि पद्ममष्टकं कृतं मयात्यबुद्धिना,
 विशोध्य मूलतस्ततो गुणान् विभाव्य सन्ततम्।
 भणन्तु पण्डिता जनाः सभासु तान्प्रपूजितान्,
 ब्रजन्तु सज्जनाः सुखं सुरालयं स्वकर्मणा ॥९॥

ता. २५.१०.२५

पं. पन्नालाल शास्त्री - नागर
 रतलाम (मालवा)

परम पूज्य गुरुणीजी - श्री भाव श्रीजी म.
की चरणरेणु



आत्म साधना में लीन आशीर्वाद मुद्रा में
परम पूज्य श्रुतानुरागी विनयगुण सम्पन्न

गुरुणीजी प्रवर्तिनी श्री मुक्ति श्रीजी महाराज

अशुभ कर्मों से मुक्त हो, पंचमी गति प्रवेश लक्ष्य
की ओर बढ़ने हेतु बीज, पांचम, आठम, ग्यारस, आदि
पर्व तिथियों की आराधना व विशास्थानक महातप, ओलीजी
व सर्वोच्च श्रेष्ठतम उत्कृष्ट महातप वर्षितपादि विविध तपो
की अनुमोदनार्थ।

श्री गुणानुराग कुलक की तृतियावृत्ति प्रकाशित

श्री
मुक्ति
मुक्ति
की
ओर

• चित्रमय प्रस्तुति
बसन्त बाला श्री
मुक्ति प्रज्ञा श्रा

श्री मुक्ति-मुक्ति की ओर

● चित्रमय प्रस्तुति - बसन्त बाला श्री
मुक्ति प्रज्ञा श्री

आज का भास्कर नई उमंग उल्लास से उदित हुआ। आज का दिन इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों से लिखा जावेगा। दिनकर अपनी हजारों किरणों से भूतल को आल्हादित करते हुए प्रकाश फैला रहा था। प्रातः का दिन सुशोभित वातावरण में नगर निवासियों में अपार आनन्द उल्लास से राजपथ पर चल रहा है। यह आनन्द का विषय है कि कुक्षी नगर के निवासी प्रसिद्ध श्री छीतरमलजी के निवास से बैण्ड ढोल अपनी सुमधुरता से बजाते चल रहे थे, सबसे आगे ढोल उनके पीछे बैँड इसके बाद नगर निवासी मानव समूह चल रहा था। मध्य में हाथी के उपर श्री छीतरमलजी व उनकी धर्मपत्नि श्रीमती गंगाबाई अपनी प्राण व प्यारी बालिका गोद में लिए बैठी थी, दो नन्हीं बालिकाएँ चंवर कर रही थी व लूण उतार रही थी। मानव समूह जय-जयकार के नारों से गगन गुंजायमान हो रहा था। शनैः शनैः चल समारोह बाजार से होकर श्री राजेन्द्र भवन पहुँचा जहाँ परम पूज्य उपाध्याय भगवन्त श्रीमद् यतीन्द्रविजयजी महाराज इस मायावी संसार से वीतराग भगवान के स्वरूपित धर्मोपदेश फरमा रहे थे। यह महावीर का शासन व मनुष्य भव प्रबल पुण्योदय से प्राप्त होता है। मानव यहां से स्वर्ग, नरक, तिर्यन्च और मनुष्य चारों गति में भी जा सकता है, परन्तु मनुष्य योनि में ही आराधना हो सकती है, अन्य में नहीं। यह वीतराग श्रमण भगवन्त महावीर का शासन ही सर्वश्रेष्ठ शासन है। भगवान ने सभी प्राणियों के आत्म साधना के लिए दिशा दर्शन

दिया है, यहां लिंग भेद नहीं है। श्रमण पुरुष प्रदान धर्म का उपदेश दिया तो सभी मानव मात्र के लिए अपने प्रिय शिष्य गणधर भगवन्त श्री गौतमस्वामीजी को संबोधित करके दिया है, जहां भगवती सूत्र में ३६ हजार प्रश्नों के समाधान स्त्री वेद श्री जयन्ती साध्वी को संबोधित करके दिया है। मानव भव प्राप्त होने पर अपने परमोपकारी मुनि भगवन्त उपदेश देवें वह सुन आराधना में प्रविष्ट हो जाय वह जीव संसार सागर से तिर जाता है। परम पूज्य उपाध्याय भगवन्त श्रीमद्विजय यतीन्द्रविजयजी म. धर्मोपदेश दे रहे थे। उस समय गगन भेदी जय-जयकार श्रमण भगवान महावीर की जय, परम पूज्य गुरुदेव भगवन्त श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. की जय, उपाध्याय श्रीमद् यतीन्द्रविजयजी म. की जय के साथ उपाश्रय में प्रवेश हुआ।

गुरुदेव यह मेरी बालिका श्रमण भगवान महावीर के शासन में अर्पण कर रहा हूँ। यह मेरे कलेजे की कौर है। इस बालिका के जन्म के बाद १२ वें दिवस सूर्य पूजन व नामकरण के लिए पण्डितजी बुलाए थे। उन्होंने इसकी जन्म कुण्डली बनाकर हमें कहा था कि यह बच्ची भविष्य में महान कार्य करेगी। आत्म साधना व समाजोत्थान का कार्य करती हुई जिनशासन को शोभायमान करके माता-पिता का नाम अपनी आराधना, उपासना व अर्चना करती हुई नारी समाज का नाम उज्ज्वल करेगी। इसलिए पूज्य गुरु महाराज आज हमको अत्यंत खुशी है। आप जैसे विद्वान गुरु भगवन्त की निश्रा में इसका भविष्य सुन्दर बनेगा। इन्हीं विचारों से मैं आपश्री के चरणों में अर्पित करने आया हूँ। माता-पिता के हाथ में नन्हीं बालिका खुश हो रही थी। उस समय पूज्य उपाध्यायजी महाराज

गुरुणीजी श्री भावश्रीजी अपनी शिष्याओं के साथ व्याख्यान श्रवण कर रही थी। श्री पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने बालिका के सिर पर वासक्षेप डाला व मधुर शब्दों में फरमाया कि इस बालिका का भविष्य उज्ज्वल है और यह आदर्श साध्वी होगी।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज साहब ने व्याख्यान समाप्त कर मांगलिक फरमाया सभी अपने-अपने घर की ओर रवाना हुए सभी के मुँह से एक ही शब्द निकल रहा था कि यह बालिका महान पुण्यवान होगी। इसके माता-पिता ने अपनी पुत्री का भविष्य सुन्दर देखकर भविष्यवाणी पर विश्वास कर श्रमण भगवान महावीर के शासन में प्रवेश दिया।

बालिका का लालन-पालन गुरुणीजी श्री भाव श्रीजी की निश्रामें सुव्यवस्थित रूप से चल रहा था। शरद ऋतु पूर्ण हो रही थी व हेमन्त ऋतु प्रारंभ हो गई है। चातुर्मास पूर्णता की और अग्रसर हो रहे हैं। परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति महामहोपाध्याय भगवन्त श्री यतीन्द्रविजयजी म.सा. व्याख्यान की व्यासपीठ पर विराजित हो चतुर्विध श्रीसंघ आपके अमृतयदेशना श्रवण करने आतुर हो रही थी कि सहसा गुरुणीजी श्री भावश्रीजी म. ने सर्वप्रथम विधिसह उपाध्याय भगवन्त को वन्दन कर करबद्ध हो प्रार्थना कि गुरुदेव अब आपकी इस लाडली नानी को अध्ययन करवाने का शुभ मुहूर्त प्रादन कर कार्यारंभ करना है।

परम पूज्य महामहोपाध्यायजी म. ने फरमाया कल ज्ञान पंचमी है, दिन शुद्धि श्रेष्ठ है व चन्द्रबल रवि योगादि ज्ञान उपासना के लिए श्रेष्ठ रहता है, प्रदत्त मुहूर्त के अनुसार अध्ययन के लिए आवश्यक सामग्री भी आ गई है। एक थाल में कुंकु, चावल श्रीफल

व रूपां नाणा लेकर महिला मण्डल ने सर्वप्रथम उपाध्यायजी म. के सम्मुख बाजोट पर स्वस्तिक कर श्रीफल रखकर ज्ञानजी का बहुमान किया गीत गुंजायमान हो रहे हैं। श्रीमद् उपाध्याय भगवन्त ने पट्टी के ऊपर 'अ' लिखा और बाल लीला को कहा बोलो 'अ' अरिहन्त परमात्मा का 'आ' आचार्य भगवन्त का 'ई' ईश्वर का 'उ' उपाध्याय भगवंत का 'स' सिद्ध भगवन्त का व साधु भगवन्त का। इस प्रकार परमेष्ठि भगवान का स्मरण करते ज्ञानोपार्जन का प्रारंभ किया। पश्चात गुड़, धानी बांटी गई व गुरुदेव श्री की जय-जयकार कर सभा विसर्जित हुई। परम कृपालु उपाध्याय भगवन्त ने श्रेष्ठ से श्रेष्ठ मुहूर्त निकालकर अपनी धर्म पुत्री का पाठन कार्य प्रारंभ किया। बालिका अपने बचपन पारकर यौवनवयः की डेरी की और प्रयाण करने का प्रारंभ किया। गुरुणीजी ने उपाध्यायजी म. से प्रार्थना की, हे गुरुदेव बालिका लीला का अध्ययन साध्वी जीवन के सूत्र पूर्ण होने के साथ-साथ संस्कृत व प्राकृत का अध्ययन भी करीब-करीब पूर्ण होने को आया है, आप श्री इसके दीक्षा का शुभ मुहूर्त निश्चय करने की कृपा करें। श्रीमद् उपाध्याय श्री ने श्रेष्ठ मुहूर्त शुभ सं. १९९१ माघ सुदि १५ का मुहूर्त प्रदान किया मुहूर्त अनुसार दीक्षा अहमदाबाद में देने का निर्णय लिया।

दीक्षा का शुभ मुहूर्त निश्चय होने पर राजस्थान में जालौर : स्वर्णागिरी : निवासी श्रेष्ठिवर्य शाह गोकुलचन्दजी कस्तुरचन्दजी ने दीक्षा का संपूर्ण महोत्सव अपनी ओर से मनाने का श्रीसंघ से आदेश लेकर मुमुक्षुका के धर्म के माता-पिता बने। पूर्ण देव गुरु के प्रति समर्पित श्राविका सोनीबाई सुपुत्र इन्दरचन्दजी अ. सौ. श्रीमती लीला बहिन आदि परिवार ने लाभ लिया। परम पूज्य

साहित्य विशारद विद्या भूषण आचार्य देव श्रीश्रीश्री १००८ श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज शिष्य मंडल सह विराजमान थे। परम पूज्य उपाध्याय भगवन्त पालीताणा विराजमान थे। वहां से विहार कर अहमदाबाद पधारे। अहमदाबाद निवासी सौधर्मबृहत्पोगच्छीय श्री त्रिस्तुतिक श्रीसंघ यह दीक्षा सर्व प्रकार से आनन्द उल्लास व उमंग से होवे ऐसा कार्यक्रम बनाकर के कंकु-पत्रिका छपवाकर समस्त समाज को भेजी माघ सुदि ८ से हठीभाई की वाडी में अट्टाई महोत्सव प्रारंभ किया बालिका-लीला बहुत उल्लास उमंग से अहमदाबाद जैसे महानगर में माघ सुदि १५ को विशाल जन भेदनी के साथ हाथी पर बैठकर बालिका वर्षिदान दे रही थी।

राजपथ पर हजारों आंख इस बालिका की ओर देखकर उत्साहित हो रहे थे। चल समारोह हठीभाई की वाडी में आकर के एकत्रित हो रहा था। चल समारोह धर्मसभा के रूप में परिवर्तित हो गया, अपार मानव समूह की उपस्थिति में मुख्य द्वार पर परम पूज्य साहित्य विशारद विद्याभूषण आचार्य देव श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज समीप ही परम पूज्य उपाध्याय श्रीमद यतीन्द्रविजयजी महाराज विराजमान थे, समीप मुनि मंडल व गुरुणीजी श्री मानश्रीजी महाराज की सुशिष्या साध्वीजी श्री भाव श्रीजी, मनोहर श्रीजी म. अपनी साध्वी मण्डल के साथ विराजमान थी।

मुमुक्षी बालिका लीला हाथी से उतर कर अपने नन्हें हाथों को अंजलीबद्ध कर सभी का अभिवादन अभिनन्दन करती हुई जिन मंदिर में देवाधिदेव वीतराग भगवन्त के दर्शन कर सभा मंडप में आकर परम पूज्य आचार्य भगवन्त व श्रीमद् उपाध्याय

भगवन्त साध्वी मंडल सभी को वन्दन करके प्रभु के सिंहासन पर चौमुखजी की प्रतिमा के सम्मुख खड़ी हो गई परम पूज्य आचार्य महाराज ने उपाध्याय भगवन्त से क्रिया विधि प्रारंभ करने का आदेश दिया। पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने मुमुक्षु को हाथ में अक्षत भर ऊपर श्रीफल व रूपानाणा रख : चौमुख : नाण : भगवान : की प्रदीक्षा देने को कहा। प्रदीक्षा के बाद क्रिया आचार्य श्री के वासक्षेप डालने के साथ प्रारंभ हुई।

साध्वाचार की क्रिया के मध्य चारित्र का मुख्य अंग रजोहरण यानि औघा शुभ मुहूर्त में शुभ लगन में जैसे ही कर में आया बालिका पूर्णरूप से प्रसन्न उल्हासित होकर मयुर के समान नृत्य करने लगी। पश्चात् सांसारिक वेश बदल कर संसार के गृहस्थ के कपड़ों का त्याग करके साध्वी जीवन में प्रवेश होकर सभा मण्डप में आई चारो और से जय-जयकार के नारों से गगन गुंजायमान हो रहा था। चारित्र ग्रहण की क्रिया पूर्ण होने पर साध्वी जीवन का नाम श्रमण भगवान महावीर के शासन में साध्वी रूप में प्रवेश करने पर नाम परिवर्तित किया जाता है।

वह गच्छ के आचार्य भगवन्त की नामावली वार श्रमणीवृन्द की गुरुणीजी की परम्परा को फरमाते हुए श्रीसौधर्मबृत्तपागच्छीय गच्छनायक प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरिजी म. आचार्य श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरिजी म. सा. के साम्राज्य में सौधर्मबृहत्तपागच्छीय प्रथम गुरुणीजी श्री अमर श्रीजी, श्री मान श्रीजी की शिष्या मनोहर श्रीजी की सुशिष्या श्री भाव श्रीजी की शिष्या घोषित करते हुए साध्वी जीवन का नाम **मुक्ति श्री** घोषित किया।

। चारित्र ग्रहण कर अपनी धर्ममाता गुरुणीजी श्री भाव श्रीजी म. की निश्रा में ज्ञान क्रिया का पूर्ण पालन कर संयमी जीवन को

पूर्ण दोष रहित निरतिचार पूर्ण साधन में रहे। सदा सर्वदा कालचक्र एक जैसा नहीं रहता। अचानक ६ वर्ष की निश्रा जिन्हों की रही वह भव्य पुण्यात्मा इस संसार में प्रयाण कर गई। अचानक गुरु वियोग दृढशक्ति से सहन कर गुरुणीजी महाराज श्री हेतश्रीजी महाराज की सानिध्यता में जीवन के ४० बसन्त पूर्ण किए। इस प्रकार संयम साधना करते-करते शासन के अनेक प्रभावित कार्यों की प्रेरणा देते हैं। आत्म साधना में कई प्राणियों को धर्म मार्ग में अग्रसर हो आत्म-साधना करते रहे, यह आपका मुख्य लक्ष्य है।

आपके वैराग्यमय उपदेश श्रवण कर समाज अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करता है। ज्येष्ठों के प्रति विनय, समवयस्कों के प्रति स्नेह, लघुओं के प्रति वात्सल्यता पाकर अपनी साधना में लीन है।

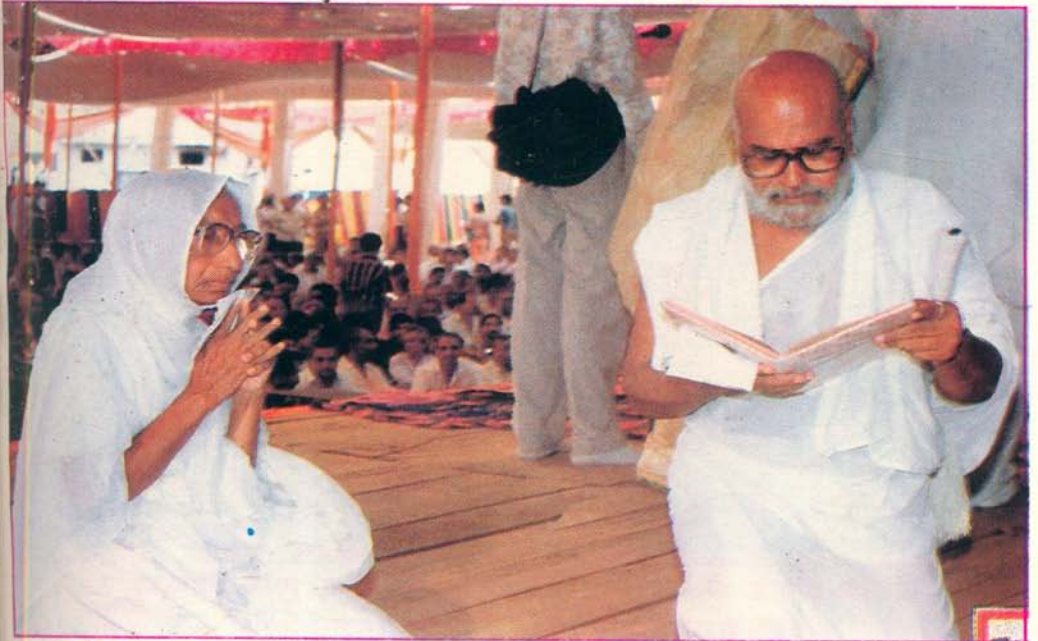
भारत वर्ष के जितने भी जैन तीर्थ हैं। सभी तीर्थों की आपने यात्राएं कीं। समय-समय पर तपस्या भी बहुत की, आप ज्ञान व विनय के प्रति प्रसन्न होकर के कोयम्बतुर श्रीसंघ को साध्वीजी श्री महेन्द्र श्रीजी, किरण प्रभा श्रीजी ने उपदेश देकर के शासन दीपिका पर समारोह विशाल भव्य आयोजन करवाया। अपार जन समूह को एकत्रित कर आपको 'शासन दीपिका' पद प्रदान किया।

आप दक्षिण प्रान्त की ओर से विहार कर मालवा की ओर पधारे। मुमुक्षु बहिन अरविन्दा कुमारी जेठमलजी सियाणा निवासी को दीक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से तीर्थाधिराज श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में पधारे। माघ शुक्ला ७ को मुमुक्षु बहिन को दीक्षा प्रदान कर नूतन साध्वी का नामकरण अपने नाम के अनुरूप साध्वी 'मुक्ति प्रज्ञा' रखा गया। मोहनखेड़ा तीर्थ में पधारे दीक्षा के समय

चित्रमय प्रस्तुति

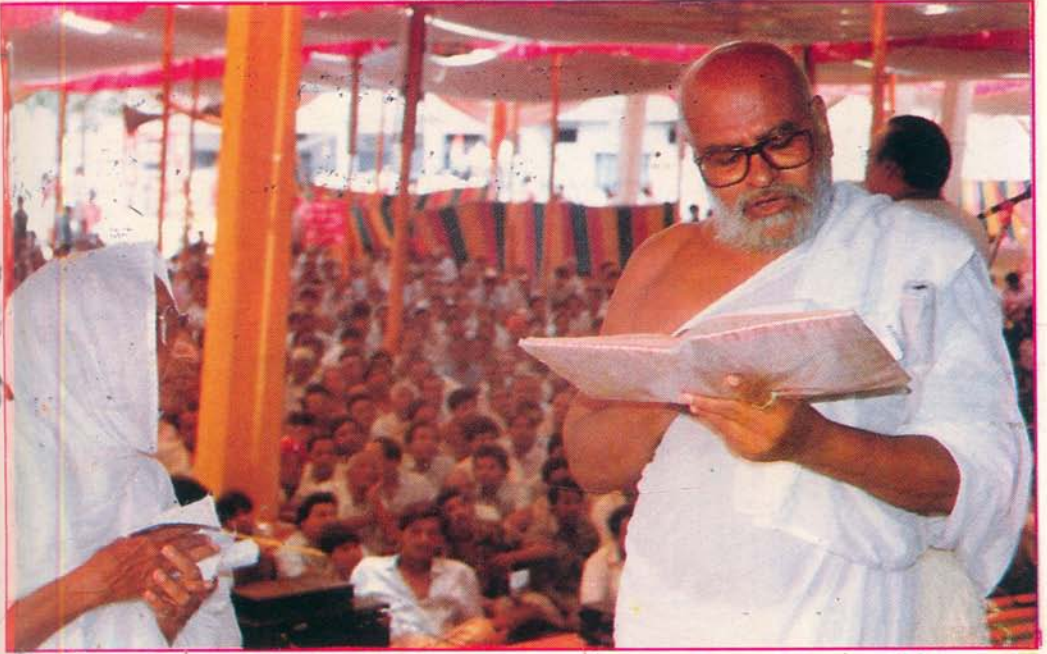


श्री मुक्तिश्रीजी म. क्रिया विधि में कार्यात्सग करते हुए परम पूज्य शासन दीपक ज्योतिषाचार्य मुनिराज श्री जयप्रभवविजयजी म. स्तुति बोलते हुवे ।



श्री मुक्तिश्रीजी म. प्रवर्तिनी पद क्रिया में देववंदन करते हुए परम पूज्य शासन दीपक ज्योतिषाचार्य मुनिराज श्री जयप्रभवविजयजी म. चेत्यवंदन बोलते हुवे ।

चित्रमय प्रस्तुति

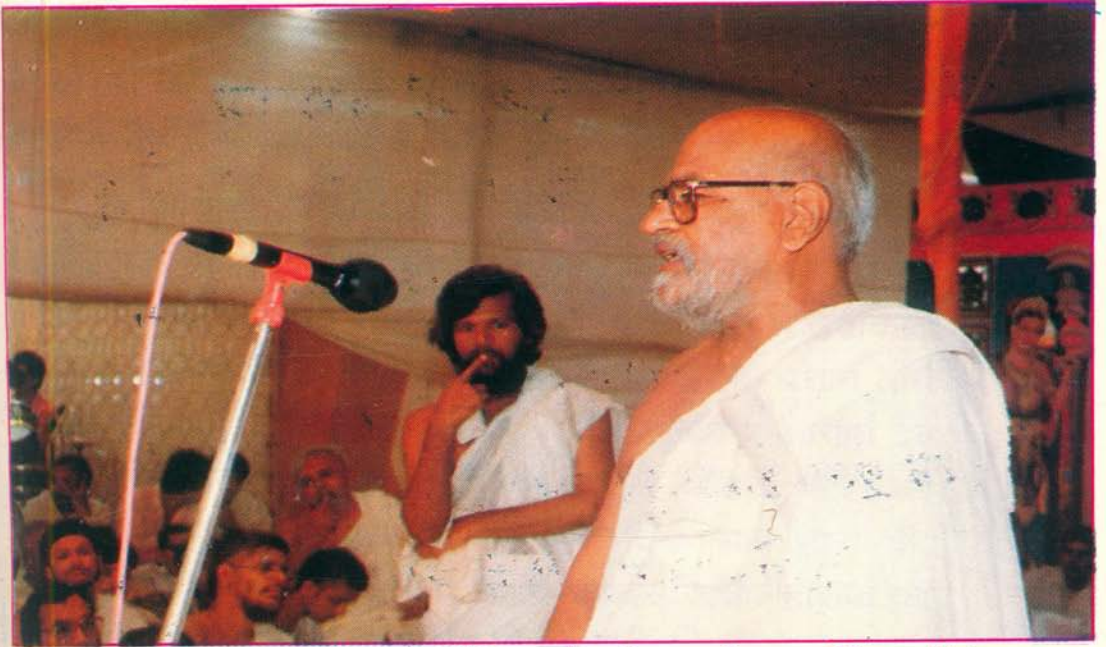


गुरुणीजी श्री मुक्तिश्रीजी म. प्रवर्तिनी पद क्रिया में परम पूज्य शासन दीपक ज्योतिषाचार्य मुनिराज श्री जयप्रभविजयजी म. से नंदीसुत्र श्रवण करते हुवे ।



गुरुणीजी श्री मुक्तिश्रीजी म. प्रवर्तिनी पद क्रिया के अंतर्गत आचार्य श्री हेमेन्द्रसूरिजी म. से वासक्षेप प्राप्त करते हुवे ।

चित्रमय प्रस्तुति



परम पूज्य शासन दीपक ज्योतिषाचार्य मुनिराज श्री जयप्रभावेजयजी म. क्रिया के पश्चात गुरु परम्परा के साथ प्रवर्तिनी पद की घोषणा करते हुवे ।



गुरुणीजी श्री मुक्तिश्रीजी म. प्रवर्तिनी पद प्रदान करने के बाद श्री संघ को सम्बोधित करते हुवे बोलते हुवे ।

उपस्थित श्रीसंघ ने सर्वानुमति से व जावरा एवं आहोर पाट गादी के श्रीसंघ की राय से ज्येष्ठ सुदि ११ को श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में आपको 'प्रवर्तिनी पद' प्रदान करने का निर्णय किया।

ॐ पुण्याहं, ॐ पुण्याहं, ॐ प्रियंतां, ॐ प्रियंतां के नारों से तीर्थाधिराज श्री मोहनखेड़ा तीर्थ की परम पावन पवित्र भूमि का वातावरण गुजायमान हो रहा था। आज के पवित्र दिन में उषाकाल में २५० प्रतिमाओं की प्राण प्रतिष्ठा होना था। उसके पश्चात् तीर्थ विकास के प्राण, परम पूज्य कविरत्न शासन प्रभावक आचार्य देव श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के समाधि मंदिर की प्रतिष्ठा का कार्य था। आचार्यश्री की मूर्ति विराजमान होना थी। उसके पश्चात् परम पूज्य आचार्य श्री विद्याचंद्रसूरिजी महाराज का स्मृति ग्रन्थ का विमोचन। प्रातःकाल से ही सभी ओर उमंग उत्साह एवं आनन्दित वातावरण चल रहा था। सभी कार्यक्रम एक-एक के बाद व्यवस्थित रूप से प्रारंभ होकर कार्य संपन्न हो रहे थे।

जिस कार्य की सभी मानव समूह खुशी एवं उत्साह से देखने आया था वह समय भी आ गया शुभ समय में हजारों मानव समुदाय जय-जयकार के गगनभेदी नारों से व बैण्ड ढोल वाद्य यंत्र पर युवक नृत्य करते बालिकाएं गरबा नृत्य करती हुई पुरुष वर्ग जय-जयकार के नारों से व स्त्री वर्ग मंगल घवल गीत गान गाते सभी तीर्थाधिराज श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में 'श्री भूपेन्द्र भवन' जहां त्रिस्तुतिक श्रीसंघ के चतुर्विध श्रीसंघ में श्रमणीवृन्द का प्रमुख स्थान है। वहां गये श्रीसंघ ने साध्वी मंडल से विधिवत वन्दन करके प्रार्थना की आपश्री पधारे जहां श्रीसंघ आपका उत्साह से पधारने की प्रतिक्षा कर रहा है। यह एक संयोग ही है। दीक्षा महोत्सव में

साहित्य विशारद विद्याभूषण आचार्य देव श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरिजी म. सा. की निश्रा प्राप्त थी। आज आपको प्रवर्तिनी पद को प्राप्त करने उन्हीं गुरुदेव श्री के नाम से निर्मित भूपेन्द्र भवन से ही प्रयाण कर रहे हैं। हजारों हजार मानव नैत्र अधिरता से प्रतीक्षा कर रहे। विशाल भव्य व्यवस्थित चल समारोह भूपेन्द्र भवन से प्रारंभ हुआ, आगे बैण्ड उसके बाद ढोल व नृत्य करते युवक उसके बाद श्रीसंघ इनके पीछे नृत्य, गरबा करती बालिकाएं एवं श्रमणी वृन्द चल रहा था। समारोह श्री मोहनखेड़ा तीर्थ के राजपथ से होता हुआ वाराणसी नगरी में पहुंचा जहां यह चल समारोह सभा के रूप में परिवर्तित हो गया।

परम पूज्य आचार्य देव श्रीमद्विजय हेमेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा., संयमवय स्थिविर मुनि प्रवर श्री सौभाग्यविजयजी, ज्योतिषाचार्य शासन दीपक, मुनिवर श्री जयप्रभवविजयजी 'श्रमण' आदि मुनि मण्डल विराजमान थे। सम्मुख देवाधिदेव वीतराग परमात्मा की प्रतिमाजी चौमुखी नाण में विराजमान थे। एक ओर श्री मोहनखेड़ा तीर्थ का ट्रस्ट मंडल के सदस्य एवं साथ ही अखिल भारत वर्षिय सौधर्मबृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक श्रीसंघ के प्रतिनिधि विराजमान थे। जिस कार्य को देखने के लिए उत्साहित थे। वह शुभ मुहूर्त जैसे ही समय ने घड़ी में प्रवेश किया अखिल भारतवर्षीय त्रिस्तुतिक मुनि समुदाय के वरिष्ठ मुनि ज्योतिषाचार्य शासन दीपक मुनिराज श्री जयप्रभवविजयजी श्रमण ने विधि की पुस्तक लेकर चौमुख प्रतिमाजी की नाण के समीप आ गए व साध्वी रत्ना श्री मुक्ति श्रीजी म.सा. को प्रथम वीतराग देव पश्चात् आचार्य श्री को वन्दन करके चौमुख जी की प्रदिक्षणा देकर क्रिया प्रारंभ की प्रवर्तिनी

पद की विधि समर्थ आचार्य भगवन्तों ने शास्त्र में लिखी उस अनुसार प्रारंभ हुई

क्रिया पूर्ण कर आचार्य श्री ने प्रवर्तिनी पद का वासक्षेप डाला वह दृश्य सुहाना, उत्साह, उमंग एवं आनन्द से जय-जयकार से आकाश गुंजायमान हो गया। फिर गच्छीय परंपरा के अनुरूप श्रमण भगवान महावीर के शासन का नियम है, उस अनुसार आद्य श्री सुधर्मस्वामी व श्री जंबुस्वामी श्री भद्रबाहुस्वामी, वृद्धदेवसूरि, रविप्रभसूरि, देवेन्द्रसूरि, रत्नशेखरसूरि, विजय कल्याण सूरि, विजय प्रमोदसूरि यह पूर्वाचार्य के कुल नाम ७३ हैं, किन्तु यहां समय-समय पर प्रभाविक आचार्य भगवन्त ने अपनी प्रतिभा से संघ व शासन के हित में कार्य किए उनका स्मरण कर रहा है।

परम पूज्य आचार्य देव श्रीमद्विजय प्रमोदसूरिजी म. आहोर में विराजित थे, वह दादा गुरुदेव भगवन्त कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के गुरु थे। उन्होंने आचार्य पद मुनिप्रवर श्री रत्नविजयजी को देकर श्री राजेन्द्रसूरीजी नाम से घोषित किया। पट्टालंकार आचार्य देव श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी म., पट्टादित्य व्याख्यान वाचस्पति आचार्यदेव श्रीश्रीश्री १००८ श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरिजी म. तत्पट्टे शासन प्रभावक आचार्य देव कविरत्न सौम्य मूर्ति श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज वर्तमान आचार्य श्रीमद्विजय हेमेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज, त्रिस्तुतिक श्रीसंघ की प्रथम गुरुणीजी श्री अमरश्रीजी, विद्याश्रीजी, मनोहर श्रीजी श्रीमा. श्रीजी, की शिष्या श्री भावश्रीजी वर्तमान आचार्य श्री की आज्ञा से कोटिगण वज्ररशाखा चन्द्रकुल वर्तमान आचार्य श्री हेमेन्द्रसूरिजी श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छ त्रिस्तुतिक समुदाय आद्य

साध्वीजी श्री अमर श्रीजी, विद्या श्रीजी, मनोहर श्रीजी, मान श्रीजी, गुरुणीजी श्री भावश्रीजी की शिष्या श्री मुक्ति श्रीजी को प्रवर्तिनी पद से विभूषित किया जाता है। यह घोषणा त्रिस्तुतिक श्रीसंघ के वरिष्ठ ज्योतिषाचार्य शासन दीपक मुनिराज श्री जयप्रभविजयजी 'श्रमण' महाराज ने की। चारों ओर से जय-जयकार के नारों से सारा वातावरण आनन्दित हो गया। पश्चात् जिन-जिन गुरुभक्तों ने बोलियों का लाभ लिया, प्रथम प्रवर्तिनी पद की कांबली वर्द्धमान विद्या पट्ट, भक्तामर का पट्ट आदि सामग्री गुरुणी श्री प्रवर्तिनी जी को वोहराई।

इस प्रकार अपने साध्वी जीवन में प्रमुख दो ही कार्य रखे अपनी वरिष्ठतम गुरुणीजी की सेवा स्वाध्याय अध्ययन व चारित्र की शुद्धता आप श्री ने अपने आराध्यपाद परमोपकारी श्री भावश्रीजी की पूर्ण रूप से सेवा कर पुण्योपार्जन किया। श्री गुरुणीजी श्री मनोहरश्रीजी, विनयश्रीजी, कमलश्रीजी, हेतश्रीजी आदि की सेवा भी समर्पित भाव से की।

आपके जीवन का सुन्दर समय अपनी दीक्षा काल में चार आचार्य भगवन्तों की निश्रा प्राप्त की परम पूज्य साहित्य विशारद विद्याभूषण श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. अपने पूर्ण रूप से उपकारी धर्म, पिता श्री परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति साहित्याचार्य भट्टारक श्री श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी, आचार्य देव श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी वर्तमान आचार्य देव श्रीमद्विजय हेमेन्द्र सूरीश्वरजी चार आचार्य व दो उपाध्याय पद के पट्टपर विराजे अपने दीक्षा शिक्षा शुद्ध चारित्र दोष रहित पालने की प्रेरणा दाता परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र विजयजी तत्कालीन उपाध्याय पद पर विराजित, उपाध्याय श्री गुलाबविजयजी

म. की निश्चा पूर्व पूण्योदय से प्राप्त हुई।

आज वर्तमान में अखिल भारत वर्ष में करीबन १५१ मुनि भगवन्त व साध्वी वृन्द में दीर्घ दीक्षा पर्याय में आपसे वरिष्ठ कोई भी नहीं हैं।

गुरुणीजी प्रवर्तिनी श्री मुक्ति श्रीजी का जीवन स्वाध्याय अध्ययन व पूर्ण रूप से विनय आपसे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान व चारित्र पालन में सदा सर्वदा तत्पर रहती है। अपने पूर्ण वृत्तियों के प्रति पूर्ण समर्पित भाव से सेवा करना। इतना ज्ञान होने पर भी जरा भी गर्व नहीं है।

परम पूज्य गुरुणीजी प्रवर्तिनी जी शुभ निश्चा रहते हमें समय पर आए, उपसर्ग को दृढ़ता से पूर्ण धैर्यता से सहन करने का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ। राजस्थान प्रान्त के जालौर जिले के अन्तर्गत मोदरा नगर है, जहां आशापुरी माताजी का मंदिर है, उस वन में दादा गुरुदेव भगवन्त ने भी ध्यान मुद्रा में ध्यान किया था। उन्हें भी काफी उपसर्ग सहन किए, वही नगर में प्रवर्तिनी जी म. का संघ प्रयाण के शुभ प्रसंग पर श्रीसंघ की अत्याग्रह भरी प्रार्थना पर जाना हुआ वहां उपाश्रय में एक और कोने में मधुमक्खियों का विशाल घेरा था।

मध्याह्न के समय धूप पूजा चल रही थी। धूप के धुँए के कारण मधुमक्खियां उड़ गईं व पूज्य गुरुणीजी महाराज के शरीर पर सभी और से अचानक इस मर्णान्त कष्ट के देखने वाले काफी भयभीत होकर देख रहे थे। किन्तु आप श्री अपनी ध्यान साधना से जरा भी भयभीत नहीं हुए, ऐसे महान कष्ट को सहन करना बहुत ही कष्ट प्रद कार्य है देखने वाले ने काफी भयभीत हो रहे थे।

किन्तु ऐसे मर्णान्त कष्ट को धैर्यता से सहन कर अपनी आत्म शक्ति को विचलित नहीं किया। ऐसे समर्थ गुरुणीजी के चरणों में शत-शत वन्दन।

एक बार गौचरी के अन्दर कड़वी आल का साग किसी श्राविका की अज्ञानतावश गोचरी में आया गौचरी प्रारंभ हो गई थी। उस समय श्रावक के घर जब भोजन में साग का स्वाद चखने पर अचानक वहां से श्राविका उपाश्रय आई व रुदन करती प्रार्थना करने लगी मेरी महान भूल से मैंने आपको साग व्हीराया वह कड़वी आल आप न वापरें। यहां वह साग आपने बिना किसी को कुछ भी कहे आपश्री ने दृढ मनोशक्ति से बिना विचलित हुए ग्रहण किया। आपने श्राविका से यही उत्तर दिया गोचरी हो गई है। तुम जरा भी चिन्ता न करें साध्वाचार के यह मूल नियम हैं, कि गृहस्थ के यहां से जो भी गौचरी आई है, उसे पूर्ण रूप से वापरना ही होता है।

यह है आपकी रसनेन्द्रिय पर विजयता का परिचय। इस प्रकार आपकी चारित्र साधना के संयम पर कई प्रकार के उपसर्ग हुए उन्हें सहन करते चारित्र की पालना करते रहे हैं।

श्री त्रिस्तुतिक श्रीसंघ आपको पाकर गौरवान्वित है। परम पूज्य गुरुदेव आपको शतायु बनाए व हमें शताब्दी वर्ष मनाने का अवसर प्राप्त हो इन्हीं मंगल कामनाओं के साथ -

कोटि-कोटि वन्दन।

श्री मोहनखेड़ा तीर्थ

२०५४

पं. श्री जिनहर्षगणिवर्य्य विरचितं

श्री गुणानुराग कुलकम् ।

स्मरणं यस्य सत्त्वानां, तीव्रपापौघशान्तये।

उत्कृष्टगुणरूपाय, तस्मै श्रीशान्तये नमः ॥१॥

उद्देश्य -

अति दुष्प्राप्य मनुष्य जीवन को सफल करने के लिये सबसे पहले सदगुणों पर अनुराग रखने की आवश्यकता है, गुणानुराग हृदय क्षेत्र को शुद्ध करने की महोत्तम वस्तु है। गुणों पर प्रमोद होने के पश्चात् ही सब गुण प्राप्त होते हैं, और सब प्रकार से योग्यता बढ़ती है। इसलिये मद, मात्सर्य, वैर, विरोध, परापवाद, कषाय आदि को छोड़कर मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ्य और अनित्यादि भावनाओं को धारण कर - परगुण ग्रहण करना तथा गुणानुराग रखना चाहिए; क्योंकि - इसके बिना इतर गुणों का परिपूर्ण असर नहीं हो सकता। अतएव इस ग्रन्थ का उद्देश्य यही है कि - हर एक मनुष्य गुणानुरागी बनें, और दोषों को छोड़ें इसी विषय को ग्रन्थकार आदि से अन्त तक पुष्ट करेंगे और गुणानुराग का महत्त्व दिखलावेंगे।

मङ्गलाचरण -

सयलकल्लाण - निलयं, नमिरुणं तित्थनाहपयकमलं।

परगुणगहण-सरूवं, भणामि सोहग्गसिरिजणयं ॥१॥

सकलकल्याण-निलयं, नत्वा तीर्थनाथपदकमलम् ।

परगुणग्रहणस्वरूपं, भणामि सौभाग्यश्रीजनकम् ॥१॥

शब्दार्थ - (सयलकल्लाण - निलयं) समस्त कल्याण - मंगलकारक शुभ साधनों के स्थान=आश्रय रूप (तित्यनाहपयक मलं) तीर्थनाथ = जिनेन्द्रभगवान के चरण कमल को (नमिऊणं) नमस्कार का (सोहग्गसिरिजणयं) सौभाग्य रूप लक्ष्मी को पैदा करने वाला (परगुणग्रहणसरुवं) परगुण ग्रहण करने का स्वरूप (भणामि) कहता हूँ।

भावार्थ - समस्त गुणनिधी और कल्याणों के स्थान जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों को त्रिधा भक्ति से नमस्कार करके परगुण ग्रहण करने का स्वरूप कहा जाता है।

विवेचन - इस संसार में जिनपुरुषों ने सब दोषों को अलग कर उत्तम गुणों को संग्रह किये हैं; वे सब के पूज्य माने जा सकते हैं, और वे ही सब सुखों के आश्रय रूप बनते हैं।

साधु साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप संघ के जो संस्थापक हों वे तीर्थनाथ कहे जाते हैं। जिन्होंने अष्टकर्म रूप शत्रुओं के उन्माद से उत्पन्न होने वाले अठारह दोषों को छोड़कर अनुपम अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य संपादन किया है, वे श्रीतीर्थनाथ भगवान् इस भूमंडल में संपूर्ण गुणनिधी हैं।

यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि - जिनमें राग द्वेष का अंकुरोद्भव नहीं है, वे पुरुष सदोष मार्ग कभी नहीं बता सकते। वे तो ऐसा निर्दोष मार्ग ही बतावेंगे जो कि सत्य गुण - सम्पन्न होने से किसी जगह स्खलना को प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि - जो पुरुष स्वयं कुसंग से बचकर सर्वत्र निस्पृह हो, और सदगुणमय शुद्धमार्ग पर दृढ़ रहता हो, वह सब को वैसा ही शुद्ध मार्ग बतलाता है, जिसके आचरण करने से अनेक भव्यवर्ग गुणवान् हो उत्तम योग्यता को प्राप्त करते हैं।

वस्तुतः राग - द्वेष रहित करुणाशाली महोत्तम पुरुष ही संसार में पूज्य पद के योग्य हैं और ऐसे पुरुषोत्तमों का वन्दन पूजन मनुष्यों को अवश्य गुणानुरागी बनाकर योग्यता पर पहुँचा सकता है। सकल कल्याण के स्थान जिनेन्द्र भगवंतों के चरण कमल में नमस्कार करने से अपने हृदय में सदगुण की प्रतिभा प्रकाशित होती है। जिसके बल से गुणनिधान हो, सेवक ही सेव्य पद की योग्यता को अवलम्बन करता है। कहा भी है कि - इक्को वि नमुक्कारो, जिणवर - वसहस्स वद्धमाणस्स। संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारि वा ॥१॥

भावार्थ - सामान्य केवलज्ञानियों में वृषभ समान (तीर्थङ्कर नाम कर्म के उदय से श्रेष्ठ) श्री वर्द्धमानस्वामी के प्रति बहुत नमस्कार तो क्या? किन्तु शुद्धभाव और अनुराग रखकर श्रद्धापूर्वक एक बार भी जो स्त्री अथवा पुरुष नमस्कार करता है, तो उससे वह संसारसमुद्र से तर (पार हो) जाता है। तथा सर्वगुणसम्पन्न जिनेश्वरों की सेवा भक्ति से ही मनुष्यों में सदगुण प्रकट होते हैं, और उत्तमता प्राप्त होती है।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि - परमेश्वर विद्यमान नहीं है, फिर उनके चरणकमलों में नमस्कार किस प्रकार किया जा सकता है?

इसके उत्तर में श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराज ने लिखा है कि-

तुममच्छिहिं न दीससि, नाराहिज्जसि पभूयपूयाहिं।

किं तु गुरुभक्तियेणं, सुवयणपरिपालणेणं च ॥१॥

भावार्थ - हे परमेश्वर ! आप नेत्रों से नहीं दीख सकते और अनेक पूजाओं से भी आपकी आराधना नहीं हो सकती, किन्तु प्रभूत भक्ति (आन्तरिक

श्रद्धा) से आपके यथार्थ दर्शन होते हैं और आपके सुवचन परिपालन (आज्ञानुसार वर्तन) से आराधना भी भली प्रकार हो सकती है।

अतएव आन्तरिक श्रद्धा से सिद्धान्तोक्त परमेश्वर की आज्ञाओं का पालन करना चाहिये। क्योंकि - परमेश्वर के प्ररूपित जो शास्त्र हैं, वे परमेश्वर की वाणी स्वरूप ही हैं। इससे उन शास्त्रों में जो धार्मिक आलम्बन बतलाये हैं, वे आचरण करने के योग्य ही हैं। जैनागमों में स्पष्ट लिखा है कि- चार निक्षेप के बिना कोई भी वस्तु नहीं है; इसलिये परमेश्वर भी चार निक्षेपसम्पन्न है। अतएव स्थापना निक्षेप के अन्तर्गत परमेश्वर की तदाकार मूर्ति भी परमेश्वर के समान ही है। जिस प्रकार परमेश्वर सब प्राणियों के हितकर्ता हैं उसी तरह उनकी प्रतिमा (मूर्ति) भी अक्षय सुख दायिका है। शास्त्रकारोंने चारों निक्षेपों को समान माना है, उनमें एक को मानना और दूसरे को नहीं मानना मिथ्यात्व है। जिस तरह अलंकार सहित निर्जीव स्त्रियों का चित्र मनुष्यों के हृदय में विकार पैदा करता है, उसी प्रकार शान्त स्वरूप परमेश्वर की मूर्ति मनुष्य मात्र के हृदयभवन में वैराग्य वासना पैदा कर देती है और भले प्रकार वंदन पूजन करने से संपूर्ण गुणवान् बना देती है। मूर्ति का अवलम्बन शास्त्रोक्त होने से उसका सेवन व नमस्कार करना योग्य है। वास्तव में उपचरितनयानुसार परमेश्वर के विद्यमान न रहते भी उनकी तदाकार प्रशान्तस्वरूप मूर्ति को परमेश्वर के समान ही मानना निर्दोष मालूम होता है। इससे उनकी वन्दन-पूजन-रूप आज्ञा के आराधन करने से मानसिक भावना शुद्ध होती है, और शुद्ध भावना से शुभ फल प्राप्त होता है।

शास्त्रकारों ने ध्यान के विषय में लिखा है कि वीतराग भगवान् या उपचार से उनकी तदाकार प्रतिमा का ध्यान करने से आत्मा वीतराग बनता है और सरागी का ध्यान करने से सरागी बनता है। क्योंकि - 'यथा सङ्गो तथा रङ्ग' जैसा सङ्ग (आलम्बन) प्राप्त होता है, वैसा ही आत्मीय भाव उठता है और उसीके अनुसार उसका आचरण या स्वभाव बना रहता है। अतएव परमेश्वर की वन्दन पूजन रूप आज्ञा को आराधन करने वाला पुरुष तीर्थनाथ के पद को प्राप्त करता ही है। कहा भी है कि -

वीतरागं स्मरन् योगी, वीतरागत्वमश्नुते।

ईलिका भ्रमरी भीता, ध्यायन्ती भ्रमरी यथा ॥१॥

जिस प्रकार भ्रमरी से डरती हुई ईलिका, भ्रमरी के ध्यान करने से भ्रमरी के समान बन जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा वीतराग (तीर्थनाथ) का ध्यान करता हुआ वीतराग पद को धारण करता है। इससे हितेच्छु पुरुषों को परहितरत, मोक्षमार्ग दाता, इन्द्रों से पूजित, त्रिभुवनजनहितवाञ्छक और सामान्य केवल- ज्ञानियों के नाथक तीर्थनाथ का वन्दन पूजन अवश्य करना चाहिये। क्योंकि सब उत्तममङ्गलों का मुख्य कारण एक आज्ञापूर्वक तीर्थनाथ के चरणयुगल का वन्दन पूजन ही है।

नमस्कार करने का मुख्य हेतु यह है कि - निर्विघ्न ग्रन्थ समाप्ति और सर्वत्र शान्ति प्रचार हो अर्थात् 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस उक्ति की निरर्थकता हो, किन्तु यह बात तभी हो सकती है कि जब आज्ञा की आराधना पूर्वक भाव नमन या पूजन किया गया हो।

सब श्रेयकार्यों की साधिका एक जिनाज्ञा ही है, क्योंकि शास्त्रों में जगह-जगह पर 'आणा-मूलो धम्मो' यह निर्विवाद वचन

लिखा है। अतएव - इसके पालन से गुणानुराग का बीज आरोपित होता है, और मात्सर्य आदि दोषों को छोड़ने से वह बीज वृद्धि के प्राप्त होता है।

केवल द्रव्य नमस्कार ही से आत्महित और सदगुण प्राप्त नहीं होते, किन्तु भाव नमन से होते हैं। भाव नमन (नमस्कार) जिनेन्द्रों की यथार्थ आज्ञा पालन करना ही है।

अतएव जिनाज्ञा पूर्वक भाव नमस्कार कर ग्रन्थकर्ता श्रीमान् पं. श्री जिनहर्षगणिजी महाराज दूसरों के सदगुण ग्रहण करना, अथवा उन पर अनुराग - मानसिक प्रेम रखना; इस विषय का उपदेश देते हैं और साथ-साथ गुणानुराग का महत्व और उसके प्रभाव से जो कुछ गुण प्राप्त होते हैं उनको भी दिखलाते हैं।

संसार में जितनी पदवियाँ हैं, वे सब गुणानुराग रखने से ही प्राप्त होती हैं :-

उत्तमगुणाणुराओ, निवसइ हियए तु जस्स पुरिसस्स।

आ-तित्थयरपयाओ, न दुल्लहा तस्स रिद्धीओ ॥२॥

उत्तमगुणानुरागो, निवसति हृदये तु यस्य पुरुषस्य।

आ- तीर्थकरपदात्, न दुर्लभास्तस्य ऋद्धयः ॥२॥

शब्दार्थ - (जस्स) जिस (पुरिसस्स) पुरुष के (हियये तु) हृदय में (उत्तमगुणाणुराओ) उत्तम गुणों का अनुराग = प्रेम (निवसइ) निवास करता है (तस्स) उस पुरुष को (आ-तित्थयरपयाओ) तीर्थकर पद से लेकर सब रिद्धियाँ = संपत्तियाँ (दुल्लहा) दुर्लभ = मुश्किल (न) नहीं है।

भावार्थ - जो महानुभाव दूसरों के सगुणों पर हार्दिक प्रेम रखते हैं, उनको चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, प्रतिवासुदेव, माण्डलिक आदि संसारिक महोत्तम पदवियाँ, और तीर्थकर, गणधर, आचार्य, उपाध्याय, गणी,

गणावच्छेदक, स्थविर आदि लोकोत्तर महोत्तम पदवियाँ सहज ही में (बिना परिश्रम) प्राप्त होती है, परन्तु गुणानुराग उत्तम प्रकार का होना चाहिये, जिसमें कि किञ्चिन्मात्र भी विकार न हो।

विवेचन - वैर, मात्सर्य, द्वेष और कलह; इन चार दुर्गुणों का प्रादुर्भाव जब तक हृदयक्षेत्र में रहता है, तब तक गुणों पर अनुराग नहीं होने पाता; इससे प्रथम इन्हीं दुर्गुणों का त्याग करना चाहिये।

वैर

वैर एक ऐसा दुर्गुण है, जो प्रचलित संप (मिलाप) में विग्रह खड़ा कर देता है। वैर रखने वाले मनुष्यों को शास्त्रकारों ने अधम प्रकृति वालों में माना है। सकारण या निष्कारण किसी के साथ वैर रखना निकाचित - कर्मबन्ध का कारण है। वैर के प्रसंग से दूसरे अनेक दोषों का प्रादुर्भाव होता है, जिससे भवभ्रमण के सिवाय और कुछ फायदा नहीं मिलता। अनादि काल से इन्हीं दोषों के सबब से यह चेतन महादुःखी हुआ, और पराभव के वश पड़ निजगुण को भूल गया। यहाँ तक कि - तन, धन, स्वजन और कुटुम्ब से विमुख हो नरक गति का दास बना। सूत्रकृताङ्गजी में सुधर्मस्वामी फरमाते हैं कि -

“वैराणुबंधीणि महभयाणि”

वैर विरोध के अनुबन्ध (कारण) महाभय उत्पन्न करते हैं और वे भय मनुष्यों (प्राणीमात्र) को अन्तराय किये बिना नहीं रहते। वैर भयंकर अग्नि हैं, जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव सब को भस्म करने का होता है। उसी प्रकार वैर भी आत्मीय सब गुणों का नाश कर दुर्गति का पात्र बना देता है और प्राप्त गुणों को नष्ट कर देता है।

हृदय क्षेत्र में वैर का असर रहता है जब तक दूसरे गुणों का असा नहीं होने पाता, और किंचिन्मात्र सुखानुभव भी नहीं हो सकता।

इसलिये वैर सब सदगुणों का शत्रुभूत और संसारवर्द्धक है, ऐसा समझ कर कल्याणार्थी - महानुभावों को दुःखमय संसार से छूटने के निमित्त सदगुणी बनकर नित्यानन्द प्राप्ति के लिये इस प्रकार की प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि-

“मित्री में सव्वभूयेसु, वेरं मज्झं न केणइ।”

देव, दानव, आर्य, अनार्य, स्वधर्मी, विधर्मी, स्वगच्छीय-परगच्छीय आदि सब प्राणियों के साथ मेरा मैत्रीभाव है, परन्तु किसी के साथ वैरभाव नहीं है। क्योंकि -

सब के साथ आन्तरिक प्रेम रखना ही मनुष्य का परम कर्तव्य है; अगर किसी के साथ धार्मिक विषय में जो कुछ बोलना सुनना पड़े तो उसके साथ अत्यन्त मधुर वचनों से व्यवहार करना चाहिये, जिससे अपने कहने का असर उस पर जल्दी होवे। बहुत से लोग सत्य और असत्य बात का विचार न कर धार्मिक वैर-विरोध खड़े करते हैं और ममत्व के आवेश में वशीभूत हो, तड़ें पाड कर जाति में कुसंप (भेद) डाल देते हैं। परन्तु वस्तुतः यह सब प्रपंच अवनति कारक और दुर्गतिदायक ही है। ऐसे वैर विरोध खड़े करने से संसार में किसी का लाभ नहीं हो सकता, किन्तु अपनी और दूसरों की हानि ही होती है। हमारे आचार्यवर्यों का तो यही उपदेश है कि- वैर विरोध करना बहुत हानिकारक है, वैर विरोध से ही कौरव और पांडव अपनी राज्य और कुटुम्ब संपत्ति आदि से विमुख हुए। सैकड़ों राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार, वैर विरोध के आवेश में आकर दुर्गति के पात्र बन, मनुष्य जीवन को हार गये। वस्तुतः देखा जाय

तो वैर बड़ा भारी दुर्गुण होने से समग्र दुःखों का स्थान है। इसलिये वैर विरोध बढ़ाकर सर्वत्र अशान्ति फैलाने के समान कोई भी अधर्म नहीं है, और न इसके तुल्य कोई अधमता है। वैरकारक मनुष्य अनेक जीवों को दुःख देता हुआ स्वयं नाना दुःखों को उपार्जन करता है। इस भव में अनेक दुःखदायी कर्म बांधता है और पर भव में भी नरक, तिर्यञ्च आदि स्थानों में जाता है। फिर वहाँ वैरानुबंधी बध बन्धन आदि कर्मों का अनुभव करता है। अतएव सब दुःखों का मूल कारण वैरभाव है उसको परित्याग कर देना ही बुद्धिमान पुरुषों को उचित है।

मात्सर्य -

दूसरा दुर्गुण है 'मात्सर्य' है, मत्सरी मनुष्य निरन्तर आकुल व्याकुल रहने से क्षणमात्र भी सुखी नहीं रहता, इस कारण सद्-असद् वस्तु का विचार भी नहीं कर सकता है। इससे उसको सद्गुण या सद्गुणों पर अनुराग नहीं होने पाता और वह हमेशा कृश (दुर्बलता) बन, असंख्य दुःखों का पात्र बना रहता है। इसलिये आत्महितेच्छुओं को इस दुर्गुण का भी त्याग करना उचित है -

द्वेष -

तीसरा दुर्गुण 'द्वेष' है। यह द्वेष सारे सगुणों का शत्रुभूत है। यही दुर्गुण आत्मीय ज्ञानादि महोत्तम गुणों को नष्ट कर देता है। यदि संसार में राग और द्वेष ये दो दुर्गुण नहीं होते तो सर्वत्र शान्ति का ही साम्राज्य बना रहता। क्योंकि - संसार में जितने बखड़े हैं वे सब रागद्वेष के संयोग से ही है। कहा भी है कि -

रागद्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ।

रागद्वेषौ तु न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ॥१॥

भावार्थ - इस आत्मा में यदि राग और द्वेष ये दो दोष स्थित हैं तो फिर तपस्या करने से क्या लाभ हो सकता है? अथवा यदि राग और द्वेष ये दो दोष नहीं हैं तो तपस्या करने से क्या प्रयोजन है?

जीव को संसार में परिभ्रमण कराने वाले तथा नानाविध दुःख देने वाले राग और द्वेष ही हैं। इसलिये इन्हीं को नष्ट करने के निमित्त तमाम धार्मिक क्रिया अनुष्ठान (तपस्या, पठन, पाठनादि) किया जाता है। परन्तु जिन के हृदय से ये दो दोष अलग नहीं हुए, वे चाहे कितनी ही तपस्या आदि क्रिया करें, किन्तु द्वेषाग्नि से वे सब भस्म हो जाती हैं अर्थात् - उनका यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता। द्वेषी मनुष्य के साथ कोई प्राणी प्रीति करना नहीं चाहता, और न कोई उसको कुछ सिखाता-पढ़ाता है अगर किसी तरह वह कुछ सीख भी गया तो द्वेषावेश से सीखा हुआ नष्ट हो जाता है। क्योंकि द्वेषी मनुष्य सदा अविवेकशील बना रहता है, इससे वह पूज्य पुरुषों का यथेष्ट विनय नहीं कर सकता, और न उनसे कुछ गुण ही प्राप्त कर सकता है यदि कोई उपकारी महात्मा उसको कुछ सिखावे भी तो वह सिखाना उसके लिये उषरभूमिवत् निष्फल ही है। कहा भी है कि -

उपदेशो ही मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।

पयःपानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनम् ॥१॥

भावार्थ - मूर्ख लोगों (द्वेषी मनुष्यों) को जो उपदेश देना है वह केवल कोप बढ़ाने वाला ही है, किन्तु शान्तिकारक नहीं है। जैसे - सर्पों को दूध का पान कराना केवल विष (जहर) बढ़ाने वाला ही होता है।

वर्तमान समय में हमारे जैन भाईयों ने इस दुर्गुण को मानो अपना येक निजगुण मान रखा है। इसी से जहाँ देखते हैं वहाँ प्रायः श्मभाव के सिवाय दूसरा कुछ भी गुण दृष्टिपथ नहीं आता। गच्छों के ममत्व में पड़कर अथवा क्रियाओं के व्यर्थ झगड़ों में पड़कर परस्पर येक दूसरे को 'उत्सूत्रभाषी' 'अविवेकी' 'अज्ञानी' 'भवाभिनन्दी' आदि संबोधनों से सम्बोधित कर द्वेषभाव बढ़ाते हैं और द्वेषावेश में गुणीजनों (महात्माओं) की भी आशातना कर व्यर्थ कर्म बाँधते हैं।

यह 'जैनधर्म' सर्वमान्य धर्म है, इसके संस्थापक सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग भगवान् हैं, जो राग और द्वेष रहित थे और दूसरों को भी राग द्वेष रहित उपदेश देते थे। जैन मात्र उन्हीं से सदुपदेशों के ग्राहक और उनके वचन पर श्रद्धालु हैं। परन्तु खेद की बात है कि आज दिन उन्हीं जैनों ने अपने निजस्वरूप को छोड़ राग द्वेष के आवेश में आकर भगवान् के उपदेश को विस्मरण कर दिन पर दिन परस्पर निन्दा कर द्वेषभाव फैलाते हैं, अर्थात् - श्वेताम्बरी दिगम्बरीयों की और दिगम्बरी श्वेताम्बरियों की, स्थानकपन्थी मन्दिरमार्गियों की तथा मंदिरमार्गी स्थानकपन्थियों की, तेरहपन्थी ढूँढियों की और ढूँढियो तेरहपन्थीयों की अश्लील (अवाच्य) शब्दों से निन्दा कर द्वेष भाव बढ़ाते हैं, परन्तु वास्तविक तत्व क्या है? इस बात का विचार नहीं कर सकते।

जैनी महानुभावों! यह तुम्हारी उन्नति तथा बुद्धि होने का और सदगुण प्राप्ति का मार्ग नहीं है, यह तो केवल अवनति का और अज्ञानी बनने का ही मार्ग है। आचार्यवर्य बहुश्रुतगीतार्थ - शिरोमणि

भगवान् श्रीहरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज धार्मिक शिक्षा देते हुये लिखते हैं कि -

“येस पओसो मोहो, विसेसओ जिणमयठियाणं”

“धर्म के निमित्त अन्य किसी धर्मवाले के साथ द्वेषभाव रखना येक प्रकार का अज्ञान है, किन्तु जिनेन्द्रमत में स्थित पुरुषों को तो विशेषतः अज्ञान का कारण है।” इस वास्ते राग-द्वेष के वश न हो सत्य (सद्गुण) के ओर ही मन को आकर्षित रखना उचित है।
क्योकि-

“जबलों राग द्वेष नहीं जीतहि,
तबलों मुगति न पावे कोई”

जब तक राग द्वेष नहीं जीता जायगा तब तक मुक्ति सुख नहीं मिल सकता, न हृदयक्षेत्र की शुद्धि होकर गुणानुराग का अंकुर ही ऊग सकता है।

कलह

चौथा दुर्गुण 'कलह' है, जो कुसंप बढ़ाने का मुख्य हेतु है। यह बात को निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि - जहाँ संप नहीं है, जहाँ मिलन स्वभाव नहीं है, जहाँ सभी नेता हैं, जहाँ कोई किसी की आज्ञा में नहीं चलता, अथवा जहाँ मनमाने कार्य करने वाले हैं, वहाँ सम्पत्ति और सद्गुणों का अभाव ही है। लोगों की कहावत है कि -

जहँ सब संप रमत है, तहँ सुखवास लहरी।

जहँ चलत फूट फजीता, तहँ नित टूट गहरी ॥१॥

यह कहावत बहुत ही उत्तम है, क्योंकि जिसके यहाँ कलह (कुसंप) उत्पन्न हुआ कि उस का दिनों दिन घाटा ही होगा, परन्तु उसका अभ्युदय किसी प्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि - कलह करने वाला मनुष्य सभी को अप्रिय लगता है इससे उसके साथ सब कोई घृणा रखते हैं, अर्थात् उसको अनादर दृष्टि से देखा करते हैं। अतएव जहाँ संप है, अर्थात् - जहाँ सब कोई संप सलाह से वर्त्ताव रखते हैं. वहाँ अनेक संपत्तियाँ स्वयं विलास किया करती हैं।

निर्बल संघ भी अगर संपीला हो तो बड़े-बड़े बलिष्ठों से भी उसका हानि नहीं पहुँच सकती। और जो सबल संघ (समुदाय) कुसंपीला होगा तो वह एक निर्बल तुच्छ मनुष्य से भी पराभव को प्राप्त हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि -संप से जितना कार्य सिद्ध होगा उतना कलह से कभी नहीं हो सकता। क्योंकि कलह सब संपत्तियों का विनाशक है और कार्य सिद्धि का शत्रु है।

इसलिये हर एक की उन्नति अपनी अपनी एकता (संप) के उपर स्थित है। जो इस एकता के सूत्र को छिन्न-भिन्न करते हैं वे माने कट्टर शत्रु को अपने घर में निवास कराते हैं, क्योंकि - बिना छिद्र पाये शत्रु घर के अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता। तो यदि सब एक प्राण हो भ्रातृभाव धारण कर सत्य मार्ग को प्रकाशित करें तो किसका सामर्थ्य है कि उनके अंगीकार किये हुए मार्ग पर आक्रमण कर सके। जो लोग कलह के वश में पड़े हैं, वे हजार उपाय करें तो भी इतर जनों से परास्त हुए बिना नहीं रहेंगे अर्थात् - सब जगह उनकी हार ही होगी।

पंचतंत्र के तीसरे तंत्र में लिखा है कि -

लघूनामपि संश्लेषो, रक्षायै भवति ध्रुवम् ।
 महानप्यकजो वृक्षो, बलवान् सुप्रतिष्ठितः ॥१॥
 सुमन्देनापि वातेन, शक्यो धूनयितुं यतः ।
 यथा भिन्नत्वमापन्नो, बलवान् सुदृढोऽपिसः ॥२॥
 एवं मनुष्यमध्येकं, शौर्येणापि समन्वितम्
 शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते, हिंसन्ति च ततः परम् ॥३॥
 बलिनाऽपि न बाध्यन्ते, लघवोऽप्येकसंश्रयात् ।
 प्रभञ्जनविपक्षेण, यथैकस्था महीरुहाः ॥४॥

भावार्थ - संप के सदगुण से बलहीन मनुष्य भी सब प्रकार से अपनी रक्षा कर सकता है, जैसे - यदि वृक्ष सघन न लगे हों दूर-दूर पर लगे हों, तौ उन (वृक्षों) को अल्प पवन भी हिला सकता है; उसी प्रकार बलवान् समुदाय में जो ऐक्य का बन्धन न हो, तो उस प्रबल समुदाय को साधारण मनुष्य भी पराजित कर सकता है और सघन (सटे हुए) छोटे-छोटे वृक्षों को जिस प्रकार प्रबल पवन भी बाधा नहीं पहुँचा सकता अर्थात् - हिला नहीं सकता; उसी प्रकार दुर्बल मनुष्य भी जो ऐक्य में स्थित हो जाय तो उनको बलवान् समुदाय भी बाधा नहीं पहुँचा सकता।

इसी से कहा जाता है कि - किंचिन्मात्र भी कलह (कुसंप) गुणों का नाशक है, ऐसा समझ कर कलह को छोड़ना ही अत्युत्तम है।

एक समय वह था जिसमें अनेक भाग्यशाली शासनप्रभावक आचार्य और साधु तथा श्रावक परस्पर एक दूसरों के धर्मकार्यों से प्रसन्न रहते थे और अपरिमित मदद देकर एक दूसरे को उत्साहित

करते थे। उस समय हमारे जैन धर्म की कितनी उन्नति झलकती थी और अभी की अपेक्षा जैनों की कितनी वृद्धि होती थी? इस विषय का जरा सूक्ष्म बुद्धि से विचार किया जाय तो यही मालूम पड़ता है कि - उस समय में ऐक्यता का बंधन प्रशंसनीय था जिससे वे महानुभाव अपनी-अपनी उन्नति करने में कृतकार्य होते थे। अतएव-

महानुभावों ! परस्पर के कुसंप बीजों को जलाञ्जली देकर जैन धर्म की उन्नति करने में परस्पर ऐक्यता रक्खो और परापवाद (निन्दा) आदि दुर्गुणों को छोड़ो, जिससे फिर जैन धर्म और जैन जाति का प्रबल अभ्युदय होवे, क्योंकि - ऐक्यता ही सम्पूर्ण उन्नति मार्ग में प्रवेश कराने वाला अमूल्य रत्न है।

इस प्रकार इन चारों दुर्गुणों को दुःखदायी समझकर समूल परित्याग करने से हृदयक्षेत्र शुद्ध होता है और उसमें प्रत्येक सदगुण उत्पन्न होने की योग्यता होती है। वैर आदि दुर्गुणों का अभाव होते ही शांति आदि सदगुण बढ़ने लगते हैं और सब संसार में शांति फैलाने वाली और कुसंप को समूल नष्ट करने वाली मैत्री १, प्रमोद २, कारुण्य ३ और माध्यस्थ ४ ये चार महोत्तम भावनाएँ पैदा होती हैं। जिनका स्वरूप योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में इस तरह कहा है कि -

मैत्री आदि भावना -

माकार्षीत्कोऽपि पापानि, मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।

मुच्यतां जगदप्येषा मतिमैत्री निगद्यते॥ ११८॥

भावार्थ - समस्त प्राणियों में कोई भी पापों को न करे, और न कोई प्राणी दुःखी रहे तथा समस्त संसार, कर्मों के उपभोग से मुक्त हो जायँ; इस प्रकार की बुद्धि का नाम 'मैत्री भावना' है।

विवेचन - जो मनुष्य ऐसा विचार करता है कि - कोई प्राणी पाप न करे, अर्थात् - पाप करने से कर्म बंध होता है, जिसका परिणाम अनिष्टगति की प्राप्ति है, वह मैत्री भावना रखने वाला कहा जाता है, या कोई दुःखी न हो, जिसके हृदय में ऐसी भावना है, वह पुरुष परम दयालु होने से स्वयं सुखी रहता है और दूसरों को भी सुख पहुँचाने की चेष्टा करता है, जिसका परिणाम उत्तम गति है तथा 'जगत के सभी जीव मुक्त हो जायँ' जिसकी ऐसी भावना है, वह परम कृपालु स्वयं मुक्त करने वाला होता है, क्योंकि जगत का कल्याण करने वाला पुरुष असद् मार्ग से हमेशा दूर रहता है और अपने समागम में आये हुए लोगों को गुणी बनाता है।

महानुभावों ! संसार में ऐसी कोई भी जाति अथवा योनि या स्थान किंवा कुल नहीं है, जहाँ कि - यह जीव अनन्त बार उत्पन्न और मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। इसी से कहा जाता है कि -

“सर्वे सयणा जाया, सर्वे जीवाय परजणा जाया।”

अर्थात् - सब प्राणी परस्पर स्वजन संबंधी हुए और सभी जीव परजन (अपने से प्रेम नहीं रखने वाले) भी हुए। अतएव एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवों के साथ हार्दिक प्रेम रखना चाहिये; किन्तु किसी के साथ राग-द्वेष परिणाम रखना ठीक नहीं है।

प्रमोद भावना -

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।

गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥११९॥

भावार्थ - सम्पूर्ण दोषों को हटा कर सूक्ष्म विचार से वस्तुतत्त्व को अवलोकन करनेवाले मनुष्यों के गुणों पर जो पक्षपात रखना वह 'प्रमोद भावना' कही जाती है।

विवेचन - संसार में सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य, स्थैर्य, प्रियभाषण, परोपकार आदि सदगुणों से विभूषित जो लोग हैं, उनके गुणों पर पक्षपात रखना चाहिये, क्योंकि - उनके गुणों का पक्षपात करने से आत्मा सदगुणी बनती है। जो लोग गुणी जनों के गुणों का बहुमान करते हुए उनकी प्रशंसा बढ़ा कर आत्मा को पवित्र बनाते हैं, वे स्वयं गुणवान् होते हैं।

किसी के अभ्युदय को देखकर अमर्ष (ईर्ष्या) करने के समान संसार में कोई पाप नहीं है। वस्तुतः देखा जाय तो गुणद्वेषी मनुष्य महानिन्दनीय कर्म बाँध कर संसारकान्तार में पशु की तरह परिभ्रमण करता रहता है और अनन्त जन्म-मरण आदि दुःख सहन करता है। बुद्धिवान् पुरुषों को हर एक कार्य करते हुए विचारना चाहिये कि - यह कार्य वर्तमान और अनागत काल में लाभ कारक मालूम होगा या नहीं ? अगर लाभकारक मालूम पड़ता हो, तो उस कार्य में हस्ताक्षेप करना चाहिये। यदि हानि होती हो, तो उससे अलग रहना चाहिये। अतएव महानुभावों ! परदोषों को देखना छोड़ो और गुणीजनों के गुणों को देख कर हृदय से आनन्दित रहो। कहा भी है कि -

लोओ परस्स दोसे, हत्थाहत्थि गुणे य गिण्हंतो।

अप्पाणमप्पण च्चिय, कुणइ सदोसं च सगुणं च॥

भावार्थ - जो मनुष्य दूसरों के दोषों को ग्रहण करता है, वह अपनी आत्मा को अपने ही आत्मा से दोषवाला बनाता है और जो स्वयं दूसरों के

गुणग्रहण करता है, वह अपनी आत्मा को स्वयं सदगुणी बनाता है क्योंकि - गुणी जनों के गुणों का पक्षपात करने वाला पुरुष इस भव और परभव में शरद ऋतु के चन्द्रकिरणों की तरह अत्युज्ज्वल गुण समूह का स्वामी बनता है।

कारुण्य भावना-

दीनेष्वात्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।

प्रतीकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते ॥१२०॥

भावार्थ - दीन, पीड़ित, भयभीत और जीवित की याचना करने वाले मनुष्यादि प्राणियों के दुःखों को प्रतीकार (उपाय) करने की जो बुद्धि हो, उसका नाम 'कारुण्य भावना' है।

विवेचन - दुःख प्राणियों के दुःख हटाने में प्रयत्नशील रहना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। जो लोग दया के पात्र हैं, उनके दुःखों को यथाशक्ति मिटाने वाला पुरुष भवान्तर में अनुपम सुखसौभाग्य का भोक्ता होता है, इसलिये दीन, हीन, पीड़ित और भयभीत प्राणियों को देखकर धर्मात्मा पुरुषों को दयार्द्रचित्त रहना चाहिये। क्योंकि - जिसके हृदय भवन में कारुण्यभावना स्थित है, वह पुरुष सबको सन्मार्ग में चलाने के लिये कटिबद्ध रहता है।

कई एक लोग किसी को शिक्षा देते समय लोगों की निन्दा और उनके अवगुण प्रकट करते हैं, परन्तु ऐसा करने से कोई सदगुणी नहीं बन सकता। संसार में सर्वगुणी वीतराग भगवान् के सिवाय दूसरा कोई प्राणी नहीं है, कोई अल्प दोषी है, तो कोई विशेष दोषी। इससे प्राणिमत्र के दोषों पर दृष्टि न डाल कर उन्हें शांतिपूर्वक सुधारने की चेष्टा रखना चाहिये, जिससे कि वे सन्मार्ग में प्रवृत्ति कर सकें। अतएव प्रत्येक समय और प्रत्येक अवस्था में कारुण्यभाव रखकर

दयापात्र प्राणियों के दुःख मिटाने का प्रयत्न करो कि जिसका परिणाम उभय लोक में उत्तम हो। कहा भी है कि -

परपरिभवपरीवादा - दात्मोत्कर्षाञ्च बध्यते कर्म।

नीचैर्गोत्रं प्रतिभव - मनेकभवकोटिदुमोर्चम् ॥१॥

भावार्थ - दूसरों का तिरस्कार (अपमान) तथा दूसरों की निन्दा और आत्म प्रशंसा से नीच गोत्र नामक कर्म का बंध होता है, जो अनेक भवकोटी पर्यन्त दुर्मोच हो जाता है, अर्थात् बहुत मुश्किल से छूट सकता है। इसलिये परनिन्दा, परापमान और आत्मोत्कर्ष को सर्वथा छोड़कर आत्मा को कारुण्यभावना से भावित करना चाहिये।

माध्यस्थ्यभावना -

क्रूरकर्मसु निःशङ्कं, देवतागुरुनिन्दिषु।

आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥१२१॥

भावार्थ - निःशङ्क होकर क्रूर कर्म करने वाला तथा देवता और गुरु की निन्दा करने वाला एवं आत्मश्लाघा (अपनी प्रशंसा) करने वाला जीव अधम माना गया है, ऐसे जीवों पर भी उपेक्षा करना 'माध्यस्थ्यभावना' मानी गई है।

विवेचन - संसार में लोग भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले होने से परभव में होने वाले दुःखों की परवाह न कर कुत्सितकर्म (निन्दनीय व्यापार) या देव गुरु की निन्दा और अपनी प्रशंसा तथा दूसरों का अपमान करने में उद्यत रहते हैं। परन्तु उन पर बुद्धिमानों को समभाव रखना चाहिये, किन्तु उनकी निन्दा करना अनुचित है। जिनेश्वरों ने यथार्थ रूप से वस्तुस्वरूप दिखलाने की मना नहीं की, किन्तु निन्दा करने की तो सख्त मनाई की है। सदुपदेश देकर ऐसे लोगों को

समझाने की बहुत आवश्यकता है, परन्तु हितशिक्षा देने पर भी यदि कषाय भाव की बहुलता होती हो, तो मध्यस्थभाव रखना ही लाभकारक है। अतएव निन्दा विकथा आदि दोषों को सर्वथा छोड़कर निन्दक और उद्धत मनुष्यों के ऊपर भी मध्यस्थभाव रखना चाहिये और यथाशक्ति समभावपूर्वक हर एक प्राणी को हित शिक्षा देना चाहिये।

इस प्रकार कलहभाव को छोड़ने से मनुष्यों के हृदय भवन में चार सद्भावनाएँ प्रगट होती हैं और इन सद्भावनाओं के प्रभाव से मनुष्य सद्गुणी बनता है।

सर्वत्र 'गुणानुराग' ही प्रशंसनीय है। इससे इसी को धारण करना चाहिये -

ते धन्ना ते पुन्ना, तेसु पणामो हविज्ज मह निच्चं।

जेसिं गुणाणुराओ, अकित्तिमो होइ अणवरयं ॥३॥

ते धन्यास्ते पुण्यास्तेषु प्रणामो भूयान्मम नित्यम्।

येषां गुणानुरागोऽकृत्रिमो भवत्यनवरतम् ॥३॥

शब्दार्थ - (ते) वे पुरुष (धन्ना) धन्यवाद देने योग्य हैं (ते) वेही (पुन्ना) कृतपुण्य हैं (तेसु) उनमें (मह) मेरा (निच्चं) निरन्तर (पणामो) नमस्कार (हविज्ज) हो। (जेसिं) जिन्हों के हृदय में (अकित्तिमो) स्वाभाविक (गुणाणुराओ) गुणानुराग (अणवरयं) हमेशा (होइ) होता है - बना रहता है।

भावार्थ - जिन पुरुषों के हृदय में दूसरों के गुणों पर हार्दिक अनुराग बना रहता है, वे पुरुष धन्यवाद देने योग्य हैं और कृतपुण्य हैं तथा वे ही नमस्कार करने योग्य हैं।

विवेचन - गुणानुरागी महानुभावों की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है। इसलिये जो दूसरों के गुणों को देखकर

उन पर प्रमोद धारण करता है, उसके बराबर दूसरा कोई कृतपुण्य और पवित्रात्मा नहीं है। मत्सरी मनुष्य परगुण ग्रहण करने की सीमा तक नहीं पहुँच सकता, इससे उस मत्सरी के हृदय में गुणों पर अनुराग नहीं उत्पन्न होता। अतएव जिन पुरुषों के हृदय-भवन में यथार्थ गुणानुराग बना रहता है, उनकी इन्द्रभवन में भी स्तुति की जाती है और उन (गुणानुरागी) को सब कोई नमस्कार किया करते हैं। महात्मा भर्तृहरि ने लिखा है कि -

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता,
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाभ्ययम्।
भक्तिः स्वामिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
घ्नेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः।

भावार्थ - सज्जनों के समागम में वाँछा, दूसरों के सदगुणों पर प्रीति, गुरुवर्य में नम्रता, विद्या में व्यसन, अपनी स्त्री में रति^१, लोकापवाद से भय, अपने स्वामी में भक्ति, आत्मदमन करने में शक्ति, खल (दुर्जन) लोगों के संहवास का त्याग, ये निर्मल आठ गुण जिन पुरुषों में निवास करते हैं। उन भाग्यशाली मनुष्यों के लिये नमस्कार है। अर्थात् - इन आठ गुणों से अलङ्कृत मनुष्य नमस्कार और पूजा करने योग्य है। तात्पर्य यह है कि - सर्वत्र गुणानुरागी की ही पूजा होती है और उसी का जीवन कृतार्थ (सफल) समझा जाता है।

जन्म जरा मृत्यु आदि दुःखों से पीड़ित इस संसार में प्रत्येक मनुष्य स्वप्रशंसा, स्वहित, अथवा लोकोपकारार्थ हर एक गुण को धारण करते हैं, अर्थात् - हमारी प्रशंसा बढ़ेगी, सब कोई हमें

१. गृहस्थ की अपेक्षा स्वदार सन्तोष वृत्त में रति और साधु की अपेक्षा - सुमति रूप रमणी में रति।

सदाचारी या तपस्वी कहेंगे, संसार में सर्वत्र हमारी कीर्ति फैलेगी, हमारा महत्त्व व स्वामित्व बढ़ेगा, हमें लोग पूजेंगे तथा वन्दना करेंगे अथवा हमें उत्तम पदवी मिलेगी; इत्यादि अपने स्वार्थ की आशा से बाह्याडम्बर मात्र से शुद्ध आचरण और शास्त्राभ्यासादि करना तब सबके साथ उचित व्यवहार रखना सो सब स्वप्रशंसा के निमित्त है इससे परमार्थतः यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता और जो अनादि काल से यह आत्मा दोषों के वशवर्ती हो, गुणधारण किये बिना नाना दुःखों को सहन करती है, परन्तु लेश मात्र सुख का अनुभव नहीं कर सकता। इस विचार से आप्तप्रणित सिद्धांतों के रहस्यों को स्वक्षयोपशम या गुर्वादिकों की कृपा से समझकर यथाशक्ति सदाचरण को स्वीकार कर दोषों का परित्याग करना; वह स्वहितगुणधारण है। वास्तव में इस विचार से जो गुण आचरण किये जाते हैं, वे ही उभय लोक में सुखानुभव करा सकते हैं।

जो लोग अनेक कष्ट सहन कर परहित करने के निमित्त सद्गुणों का संग्रह करते हैं अथवा परोपकार करने की बुद्धि से शास्त्र अभ्यास व कलाभ्यास करते हैं; तथा सब जीवों का उद्धार करने के लिये संयमपालन करते हैं; और गाँव-गाँव पैदल विहार कर अपने उपदेशों से असद् मार्ग में पड़े हुए प्राणियों को निकालकर सद्धर्ममार्ग में स्थापित करते हैं अथवा हमेशा निःस्वार्थ वृत्ति से दोष रहित आप्तभाषित उत्तम धर्म की प्ररूपणा करते हैं; वह सब आचरण लोकोपकारार्थ है। इससे उत्तमता के और अनुपम सुख के दायक ये ही सद्गुण हैं, इंसोका नाम असली गुणानुराग है। अतएव अकृत्रिम गुणानुरागी सत्पुरुष सब में गुण ही देखते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि दोषों पर नहीं पड़ती।

गुणानुरागी महानुभावों का यह स्वभाव होता है कि अपना उक्त शत्रु या निन्दक अथवा कोई अत्यन्त घिनावनी वस्तु हो, तो भी वह उनके अवगुण के तरफ नहीं देखेगा, परन्तु उनमें जो गुण होंगे उन्हीं को देखकर आनन्दित रहेगा। शास्त्रकारों ने गुणानुराग पर एक दृष्टान्त बहुत ही मनन करने लायक लिखा है कि -

सौराष्ट्र देश में सुवर्ण और मणिमय मंदिर तथा प्राकार से शोभित धनद (कुवेर) की बनाई हुई 'द्वारिका' नाम की नगरी थी। उसमें दक्षिण भरतार्द्धपति, यादवकुलचन्द्र श्रीकृष्ण (वासुदेव) राज्य करते थे। वहाँ पर एक समय घातिकर्म-चतुष्टय को नाश करने वाले, मिथ्यातिमिरदवाग्नि-भगवान् 'श्री अरिष्टनेमी स्वामी' श्री रैवतगिरि पर 'नन्दन' नामक उद्यान में देवताओं से रचित समवसरण में विशेष देशना देने के लिये विराजमान हुए। तदनन्तर वनपालक से भगवान् का आगमन सुनकर प्रसन्न हो, भरतार्द्धपति - श्रीकृष्णजी तीर्थङ्कर भगवान् को वन्दना करने के लिये चले। उनके साथ समुद्रविजयादि दशदशार्ह, बलदेवादि पाँच महावीर, उग्रसेन वगैरह सोलह हजार राजवर्ग और इक्कीस हजार वीर - यौद्धा शाम्ब प्रभृति साठ हजार दुर्दान्त-कुमार, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ राजकुमार, महासेन प्रमुख छप्पन हजार बलवान वर्ग तथा शैठ साहूकार आदि नगर निवासी लोग भी चले।

इसी समय सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से श्रीकृष्ण का मन (स्वभाव) गुणानुरागी जानकर प्रसन्न हो, सभा में अपने देवताओं से कहने लगा कि - हे देवताओं ! देखो - देखो ये महानुभाव 'श्रीकृष्ण' सदा दूसरों के अत्यल्यगुण को भी महान् गुण की बुद्धि से देखता है। इस अवसर पर एकदेवता ने विचार किया कि -

बालकों के समान बड़े लोग भी जो जी में आता है, कहा करते हैं इसलिये इस बात की परीक्षा करना चाहिये कि - वस्तुतः यह बा कैसी है ? ऐसा सोचकर वह देवता श्रीकृष्ण के मार्ग में एक मा हुआ दुर्गन्धि से पूर्ण खुले दाँतवाला काला कुत्ता प्रकट करता हुआ, उसकी दुर्गन्धि से व्याकुल हो सम्पूर्ण सेना कपड़े से नाक तथा मुख को बाँधती हुई इधर-उधर दूर होकर चलने लगी, किन्तु श्रीकृष्ण तो उसी रास्ते से जाते हुए उस कुत्ते को देखकर यों बोले - अहो ! इस काले कुत्ते के मुख में सफेद दंतपंक्ति ऐसी शोभित हो रही है - जैसे मरकत (पन्ने) की थाली में मोती की माला हो।

इस प्रकार श्रीकृष्ण को गुणानुराग में लवलीन देखकर देवता विचारने लगा कि - “कहवि न दोसं वयंति सप्पुरिसा” अर्थात् - सत्पुरुष कभी किसी के दोष अपने मुँह से नहीं बोलते, किन्तु अपकारी के भी गुण ही ग्रहण करते हैं।

पश्चात् उस देवता ने सौधर्मेन्द्र के वचनों को सत्य जानकर और अपना दिव्य रूप प्रकट कर पर गुण ग्रहण करने वालों में प्रधान जो श्रीकृष्ण उसकी बहुत प्रशंसा की और सब उपद्रवों को नाश करने वाली भेरी (दुन्दुभी) दी। फिर श्रीकृष्ण श्री रैवतगिरि के ऊपर समवसरण में प्राप्त हो, भगवान् को वन्दना कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। तब भगवान् ने दुरिततिमिरविदारिणी देशना प्रारंभ की कि - हे भव्यो ! इस भवरूपी जंगल में सम्यक्त्व (समकित) को किसी न किसी प्रकार से प्राप्त करके उसकी विशुद्धि (शुद्धता) के निमित्त दूसरों में विद्यमान गुणों की प्रशंसा करना चाहिये। क्योंकि - जिस प्रकार समस्त तत्त्वों के विषय में अरुचि सम्यक्त्व को मूल से नष्ट कर देती है, उसी प्रकार दूसरों के सद्गुणों की अनुपबृंहणा

अर्थात् - प्रशंसा न करना तत्त्व (सम्यक्त्व) में अतिचार उत्पन्न करने वाली होती है, फिर जीवों में स्थित गुणों की यदि प्रशंसा न की जाय तो अत्यन्त क्लेश से प्राप्त उन गुणों का कौन आदर करे , इसलिये ज्ञानादि के विषय में जहाँ जितना गुण का लेश दिखाई दे, उसको सम्यक्त्व का अंग मानकर उतनी प्रशंसा करनी चाहिये, क्योंकि जो मात्सर्य के वश होकर या प्रमाद से किसी मनुष्य के सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करता, वह “भवदेवसूरि” के समान दुःख को प्राप्त होता है।

पाठक महोदय ! थोड़ा-सा अपना ध्यान इधर आकर्षित कीजिए कि - 'गुणानुराग की महिमा कितनी प्रबल है ? जिसके प्रभाव से गुणानुरागी पुरुष की इन्द्र भी नम्रभाव से आश्चर्यपूर्वक स्तुति करते हैं और अनेक दिव्य वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

क्योंकि गुणानुरागी पुरुष अमत्सरी होता है। इससे वह किसी की निन्दा नहीं करता और मधुर वचनों से सबके साथ व्यवहार करता है। अपना अहित करने पर भी किसी के साथ बिगाड़ करना नहीं चाहता और न किसी का मर्मोद्घाटन करता है, इसी से वह चुगली तथा दुर्जन की संगति, आदि सदोष मार्गों से बिलकुल संबंध नहीं रखता हुआ धार्मिक विचार में भी विवाद और शुष्कवाद को सर्वथा छोड़कर न्यायपूर्वक प्रवृत्त होता है।

वादत्रिपुटी -

तीनों वादों का स्वरूप जो श्रीमान 'श्रीहरिभद्र सूरिजी' महाराज ने स्वकृत 'अष्टक' (अध्यात्मसार) में निरूपण किया है। वही यहाँ प्रसङ्ग वश से दिखलाया जाता है -

अत्यन्तमानिना सार्द्धं, क्रूरचित्तेन च दृढम्।

धर्मद्विष्टेन मूढेन, शुष्कवादस्तपस्विनः ॥२॥

भावार्थ - जो अत्यन्त अभिमानी, दुष्ट अध्यवसाय वाला, धर्म का द्वेषी और युक्त अयुक्त के विचार से शून्य (मूर्ख) पुरुष हैं, उनके साथ तपस्वी को वाद करना वह 'शुष्कवाद' कहलाता है। अर्थात् यह वाद अनर्थ का कारण है; क्योंकि - इस वाद में खाली कण्ठशोष के अतिरिक्त कुछ भी सत्याऽसत्य का निर्णय नहीं होता, प्रत्युत वैर विरोध बढ़ता है, इसीसे संयमघात, आत्मघात और धर्म की लघुता आदि दोषों का उद्भव होकर संसार वृद्धि होती है। अर्थात् - वाद करते समय अभिमानी अगर हार गया, तो अभिमान के कारण आत्मघात करेगा, अथवा मन में वैरभाव रखकर जिससे हार गया है उसका घात करेगा या उसके धर्म की निन्दा करेगा। यदि गुणानुरागी (तपस्वी-साधु) अभिमानी आदि से पराजित हो गया, तो संसार में निन्दा का पात्र बनेगा और अपने धर्म की अवनति करावेगा। इससे ऐसा वाद परमार्थ से हानिकारक ही है।

लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्या-दुस्थितेन महात्मनः

छलजातिप्रधानो यः, स विवाद इति स्मृतः ॥४॥

भावार्थ - सुवर्ण आदि का लोभी, कीर्ति को चाहने वाला, दुर्जन अर्थात् - खींजने वाला - चिढ़ने वाला और उदारता रहित पुरुषों के साथ छल अथवा जाति नामक वाद करना 'विवाद' कहलाता है।

इस प्रकार छल, जाति (दुषणाभास) आदि के बिना किये हुए वाद में तत्त्ववादी को विजय प्राप्त होना मुश्किल है। जो कदाचित् विजय भी प्राप्त हुआ, तो पूर्वोक्त वादियों को धर्म का बोध नहीं होता किन्तु उलटा राग-द्वेष बढ़कर आत्मा क्लेशों के वशीभूत होता है। परस्पर एक-दूसरों के दोषों को देखते हुए निन्दा या मानभंग होने

के सिवाय कुछ भी तत्त्व नहीं पा सकते, इससे यह वाद भी अन्तराय आदि दोषों का उत्पादक और यश का घातक है।

परलोकप्रधानेन, मध्यस्थेन तु धीमता।

स्वशास्त्रज्ञाततत्त्वेन, धर्मवाद उदाहृतः ॥६॥

भावार्थ - परलोक को प्रधान रूप से मानने वाला, मध्यस्थ, बुद्धिमान और अपने शास्त्र का रहस्य जानने वाला तथा तत्त्वगवेषी के साथ में वाद करना उसका नाम 'धर्मवाद' है, क्योंकि परलोक को मानने वाला पुरुष दुर्गति होने के भय से वाद करते समय अयुक्त नहीं बोलता और मध्यस्थ (सब धर्मों की सत्यता पर समान बुद्धि रखने वाला) पुरुष गुण और दोष का ज्ञाता होने से असत्य का पक्षपाती नहीं बनता। एवं बुद्धिवान्-धर्म, अधर्म, सद, असद् आदि का निर्णय स्वबुद्धि के बल से भले प्रकार कर सकता है; इसी तरह स्वशास्त्रज्ञ पुरुष धर्मवाद में दूषित और अदूषित धर्मों की आलोचना (विचार) कर सकता है। इससे इन वादियों के साथ धर्मवाद करने से विचार की सफलता यावपूर्वक होती है।

धर्मवाद में मुख्यतया ऐसी बातों का विषय रहना चाहिए कि जिससे किसी मजहब को बाधा न पहुँचे, अर्थात् - जिस बात को सब कोई मान्य करें। उनमें अपेक्षा या नामांतर भले रहे, परन्तु मन्तव्य में भेद नहीं रहना चाहिये अथवा किसी कारण से मत पक्ष में निमग्न हो, जो कोई मान्य न करे, परन्तु युक्ति और प्रमाणों के द्वारा उनका झण्डन भी न कर सके। जैसे - लिखा है कि -

पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम्।

अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥१॥

भावार्थ - अहिंसा-अर्थात् किसी जीव को मारना नहीं १, सत्य-याने श्रान्त कष्ट आ पड़ने पर भी झूठ नहीं बोलना २, अस्तेय-सर्वथा चोरी नहीं करना ३, त्याग-परिग्रह (मूर्छा) का नियम करना ४, और

मैथुनवर्जन-ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना ५, ये पाँच पवित्र-निर्मल महाव्रत सब धर्मावलम्बियों के मानने योग्य हैं।

अर्थात् - जैन लोगों के धर्मशास्त्र में ये पाँच धर्म 'महाव्रत' नाम से प्रख्यात हैं तथा सांख्यमत वाले इनको 'यम' कहते हैं और अक्रोध, गुरु सेवा, पवित्रता, अल्पभोजन तथा अप्रमाद, इनको "नियम" कहते हैं। पाशुपत मतावलम्बी इन दशों को 'धर्म' कहते हैं और भागवत लोग पाँच यम को 'व्रत' तथा नियमों को 'उपव्रत' मानते हैं। बौद्धमत वाले पूर्वोक्त दश को 'कुशल-धर्म' कहते हैं और नैयायिक तथा वैदिक वगैरह 'ब्रह्म' मानते हैं। इसी से कहा जाता है कि - 'संन्यासी, स्नातक, नीलपट, वेदान्ती, भीमांसक, साङ्ख्यवेत्ता, बौद्ध, शाक्त, शैव, पाशुपत, कालामुखी, जङ्गम, कापालिक, शाम्भव, भागवत, नग्नव्रत, जटिल आदि आधुनिक और प्राचीन सब मतावलम्बियों ने पवित्र पाँच महा धर्मों को यम, नियम, व्रत, उपव्रत, महाव्रतादि नाम से मान्य रक्खा है, किन्तु कोई दर्शनकार इनका खंडन नहीं करता; अतएव ये पवित्र धर्म सर्वमान्य हैं।

ऐसी अनेक निर्विवाद बातों का वादानुवाद चलाकर नीतिपूर्वक सत्यबात को स्वीकार करना और दूसरों को सत्यपक्ष समझा कर सद्धर्म में स्थापित करना यही उत्तम वाद 'धर्मवाद' कहलाता है। धर्मवाद करते समय पक्षापक्षी (ममत्व) को तो बिलकुल छोड़ देना ही चाहिये, क्योंकि - ममत्व को छोड़े बिना धार्मिक निवेड़ा हो ही नहीं सकता है।

धर्मवाद में पक्षपात को सर्वथा छोड़कर सत्य बात पर कटिबद्ध रहना चाहिये और सत्यता की तरफ ही अपने मन को आकर्षित रखना चाहिये। यद्यपि यह नियम है कि सत्याऽसत्य का

निर्णय हुए बिना अपनी पकड़ी बात नहीं छूटती, तथापि प्रतिपक्षी की तरफ अनादरता जाहिर करना उचित नहीं है, क्योंकि धर्मवाद में कदाग्रह-दुराग्रह, मतममत्व, अहंकार, तिरस्कार, आत्मश्लाघा, मर्मभेदिता, दुर्गुणोद्भावना, दिल्लगी, उपहास्य, छल, प्रपञ्च, कपट, कुटिलता आदि दोषजन्य दुर्गुणों का सर्वथा अभाव होता है और शील, संतोष, विवेक आदि की प्रधानता रहती है, इससे इस वाद में अश्लील शब्दों का व्यवहार नहीं किया जा सकता, किन्तु परस्पर प्रेमपूर्वक मधुर वचनों से सशास्त्र पारमार्थिक विचार किया जाता है। इसलिये गुणानुरागी महानुभावों को मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावनाओं को धारण कर जहाँ खलपुरुषों का विशेष प्रचार न हो १, जहाँ दुर्भिक्ष या कृपण लोग न हों २, जहाँ राजा और सभासद सत्यप्रेमी हों ३ तथा प्रतिवादी परगुणग्रहणशाली हों ४, इत्यादि वादयोग्य सब तैयारी मिलने पर सत्तत्त्व का निर्णय करने के वास्ते धर्मवाद करना चाहिये।

इस प्रकार के वाद से ही अज्ञान का विनाश और सद्धर्म का प्रकाश होता है। कहा भी है कि “वादे वादे जायते तत्त्वबोधः” वास्तव में धर्मवाद से ही सर्वत्र शांतिभाव फैल कर वैर विरोध का अभाव होता है और सत्य धर्म की शुद्धि का उत्साह बढ़ता है तथा हर एक शिक्षा का प्रभाव पड़कर मात्सर्यभाव मिटता है और संसार में पूज्य पद मिलता है। इससे पुरुषों को अपने प्रत्येक भाषण में मधुर और प्रिय वचनों का प्रयोग करना चाहिये। अपने शत्रु या अहितकर्ता के दोषों पर भी ध्यान न रखकर उनके गुणों के ऊपर ही अनुरागी बना चाहिये

गुणानुराग के बिना विद्याऽध्यासाऽऽदि सब व्यर्थ हैं -

किं बहुणा भणिणं, किं वा तविण दणेणं।

इक्कं गुणाणुरायं, सिक्खह सुक्खाण कुलभवणं॥

(किं बहुना भणितेन, किं वा तपसा दानेन ?

एकं गुणानुरागं शिक्षय सुखानां कुलभवनम्।)

शब्दार्थ - (बहुणा) अधिक (भणिणं) पढ़ने से (वा) अथवा (तविण) तपस्या करने से और (दणेणं) दान देने से (किं) क्या होने वाला है ?, किन्तु (इक्कं) एक सुक्खाण) सब सुखों का (कुलभवणं) उत्तम गृह (गुणाणुरायं) गुणानुराग - महागुण को (सिक्खह) सीखो ॥४॥

भावार्थ - पढ़ने से, अनेक प्रकार की तपस्या करने से और दान देने से; फिजूल खोटी होना है, अर्थात् इनसे कुछ भी फायदा नहीं हो सकता ? इसलिये केवल एक गुणानुराग महागुण का ही अभ्यास करना चाहिये, जो अनेक उत्तम गुणों का कुलगृह है ॥४॥

विवेचन - हर एक गुण को प्राप्त करने के लिये प्रथम मनःशुद्धि की आवश्यकता है, क्योंकि मनःशुद्धि हुए बिना कोई भी अभ्यास फलीभूत नहीं होता और न आत्मा निर्मल होती है। अहङ्कार, मद, मात्सर्य आदि दोषों को हटा देने से मन की शुद्धि होती है और मनःशुद्धि होने से यह आत्मा नम्रस्वभावी बनकर गुणानुरागी बनता है। जिसका हृदय अहंकार आदि दोषों से रहित नहीं है तथा वैरविरोधों से दूषित बना रहता है। उसका पढ़ना, तपस्या करना, दान देना आदि क्रियाएँ यथार्थ फलदायिका नहीं हो सकतीं। कहा भी है कि -

मन्त्रजपै अरु तन्त्र करै, पुनि तीरथ वर्त रहै भरमाए;

ग्रन्थ पढ़ै सब पन्थ चढ़ै, बहु रूप धरै नित वेष बताए।

योग करै अरु ध्यान धरै, चहे मौन रहै पुनि स्वास चढ़ाए;

शुद्धानन्द एको न सधै जबलों चित चंचल हाथ न लाए।

इसलिये जब तक अहंकार, परपरिवाद, वैर, कलह, और मात्सर्य आदि दोषों से मन को रोक कर परगुणानुरागी न बनाया जायगा, तब तक घठन-पाठनादि से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

संसार में मुख्यतया जितनी विद्याएँ या कलाएँ उपलब्ध हैं, उनको पढ़ लिया और शास्त्रावगाहन करने में सुरगुरु को भी चकित कर दिया तथा वाद-विवाद करके अनेक जयपताकाएँ भी संग्रहित करलीं और दर्शनों की युक्ति प्रयुक्ति समझ कर सर्वमान्य भी बन गये, परन्तु जो सब सुखों का कुल भवन एक गुणानुराग नहीं सीखा, तो वे सब व्यर्थ है, क्योंकि ये सब योग्यताएँ गुणानुराग से ही शोभित होती हैं। अगर विद्या पढ़ने पर भी दूसरों के दोष निकालने की खराब आदत न मिटी तो वह विद्या किस काम की, यदि तपस्या करने पर भी शान्तिभाव न आया तो वह तपस्या किस काम की ? और दान देने से आत्मा में आनन्द न हुआ तो वह दान भी किस काम का ? अर्थात् सब कामों की सिद्धि गुणानुराग के पीछे होती है, इसलिये एक गुणानुराग महागुण को ग्रहण करने का ही विशेष प्रयत्न रखना चाहिए। क्योंकि - गुणानुराग पूर्वक स्वल्प शिक्षण भी विशेष फलदायक होता है। लिखा भी है कि -

‘शिवं पि अणुद्वाणं, आणपहाणं हणेइ पावभरे।

लहुओ रविकरपसरो, दहदिसितिमिरं पणसेई ॥१॥

भावार्थ - आज्ञा प्रधान थोड़ासा भी अनुष्ठान अनेक पाप समूहों का नाश करता है; जैसे - छोटा भी सूर्यकिरणों का जत्था (समूह) दस दिशाओं में व्याप्त अंधकार का विनाश करता है।

शास्त्रकारों के मत से धर्म का अभ्युदय, आत्मोन्नति, शासनप्रभावना आदि कार्यो में सफलता जिनाज्ञा के बिना नहीं हो

सकतीं। जिनाज्ञा एक अमूल्य रत्न है, अतएव आज्ञा की आराधना से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं और उसी के प्रभाव से सब जगह विजय प्राप्त होती है। यहाँ पर स्वाभाविक प्रश्न उठ सकता है कि - जिनेन्द्र भगवान् की सर्वमान्य आज्ञा क्या है ? इसका उत्तर यह है कि -

किं बहुणा इह जह जह, रागदोसा लहू विलिज्जंति।

तह तह पवट्टियच्चं, एसा आणा जिणिदाणं ॥१॥

भावार्थ - आचार्य महाराज आदेश करते हैं कि हे शिष्य ! बहुत कहने से क्या लाभ है ? इस संसार में जिस-जिस रीति से राग और द्वेष लघु (न्यून) होकर विलीन हों, वैसी-वैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये, ऐसी जिनेन्द्र भगवान् की हितकर आज्ञा है। अर्थात् - जिस प्रवृत्ति या उपाय से राग-द्वेष की परिणति कम पड़े, उसी में दत्तचित्त रहना चाहिये। क्योंकि - "राग-द्वेष दो बीज से, कर्मबन्ध की व्याध" अर्थात् - राग और द्वेष इन दोनों बीज से कर्म बन्धरूप व्याधि होती है और नाना प्रकार के वैर विरोध बढ़ते हैं। इससे जिनेश्वरों ने सबसे पहले राग-द्वेष को कम करने की आज्ञा दी है, किन्तु गुणानुराग बिना, राग-द्वेष कम नहीं होते और राग-द्वेष के कम हुए बिना आत्मा में किसी गुण का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

कहने का तात्पर्य यह है कि - पढ़ना, तप करना, दान देना, क्रियाकांड, साँचवना इत्यादि बातें तो सहज हैं, परन्तु दूसरों के गुणों पर प्रमुदित हो, उनका अनुमोदन करना बहुत ही कठिन बात है। इसमें कारण यह है कि - दूसरों के गुणों पर अनुरागी होना अभिमान दशा को समूल छोड़े बिना नहीं बन सकता, किन्तु अभिमान, को छोड़ना अत्यंत दुष्कर है। इससे गुणानुराग का धारण करना अति दुर्लभ माना जाता है, क्योंकि - गुणानुराग की सुगंधि उसी जगह आ सकती है, जहाँ अहंकार रूप दुर्गंधि नहीं आती हो।

“बहुत पढ़ने, तपस्या करने और दान देने से क्या होने वाला है ?” ऐसा जो ग्रंथकार ने उपदेश दिया है, उसका उद्देश्य यह नहीं है कि बिलकुल पढ़ना ही नहीं या तपस्या आदि करना नहीं, किन्तु वह गुणानुराग पूर्वक ही पठन-पाठनादि करना चाहिये, क्योंकि - गुणानुराग से ही सब क्रियाएँ सफल होती हैं। इसलिये प्रथम अन्य क्रियाओं का अभ्यास न कर, एक गुणानुराग को ही सीखना चाहिये।

इसी विषय को ग्रंथकार फिर दृढ़ करते हैं -

जइ वि चरसि तवविउलं, पढसि सुयं करिसि विविहकट्टाइं।

न धरिसि गुणाणुरायं, परेसु ता निष्फलं सयलं ॥५॥

यद्यपि चरसि तपोविपुलं, पठसि श्रुतं, करोषि विवधकष्टानि।

न धारयसि गुणानुरागं, परेषु ततो निष्फलं सकलम् ॥५॥

शब्दार्थ - (जइवि) यद्यपि तू (तवविउलं) बहुत तपस्या (चरसि) करता है, तथा (सुयं) श्रुत को (पढसि) पढ़ता है और (विविहकट्टाइं) अनेक प्रकार के कष्टसाध्य कार्यों को (करिसि) करता है, परन्तु (परेसु) दूसरों के विषे (गुणाणुरायं) गुणानुराग को (न) नहीं (धरिसि) धारण करता है (ता) तिससे (सयलं) पूर्वोक्त सब परिश्रम (निष्फलं) निष्फल है।

विवेचन - गुणानुराग का इतना महत्त्व दिखलाने का कारण यही है कि इसके बिना तप करने, श्रुत अर्थात् - शास्त्र पढ़ने और अनेक कष्ट साध्य कार्यों के करने का यथार्थ फल नहीं मिलता और दूसरे सदगुणों की प्राप्ति ही होती है। अभिमान, आत्मप्रशंसा और ईर्ष्या; ये दोष हर एक अनुष्ठान के शत्रुभूत हैं। संसार में लोग घर, सब्ब, लक्ष्मी आदि माल मिलकत छोड़कर अनेक प्रकार के तपोऽनुष्ठान करने में अडग (निश्चल) बने रहते हैं, तथा स्वाधीन

स्त्रियों के स्नेह को छोड़ना भी कुछ कठिन नहीं समझते एवं व्याकरण-कोष-काव्य-अलंकार-न्याय-वेदान्त-आगम-निगम आदि शास्त्रों को पढ़ कर विद्वत्ता भी प्राप्त कर लेते हैं और अनेक कष्ट उठाते हैं, परन्तु प्रायः अभिमान, स्वप्रशंसा, परनिन्दा और ईर्ष्या आदि दोषों को नहीं छोड़ सकते। यह बात कही हुई भी है कि -

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।

मान बड़ाई ईर्ष्या, दुरलभ तजनी एह ॥१॥

इसलिये अभिमान को छोड़कर गुणानुराग पूर्वक जो अनुष्ठानादि क्रिया की जायँ, तो वे फलीभूत हो सकती हैं, क्योंकि - दूसरों के गुणों पर अनुराग या उनका अनुमोदन करने से निर्गुण मनुष्य भी गुणवान बन जाता है।

हर एक दर्शनकारों का मुख्य सिद्धांत यह है कि अभिमान और मात्सर्य, विनय-शील-तप-सन्तोष आदि सदगुणों के घातक और सत्यमार्ग के कट्टर द्रोही हैं। अभिमान से गुणी जनों के सदगुणों पर अनुरागी न बनकर दुर्गति के भाजन बनते हैं और इसी के आवेश में लोग दृष्टिरागी बन कर "मैं जो कहता हूँ या करता हूँ सोही सत्य है, बाकी सब असत्य है" ऐसी भ्रांति में निमग्न हो, विवेक शून्य बन जाते हैं।

दृष्टिराग से अंधे लोग सत्य के पक्षपाती न बनकर असदाग्रह पर आरूढ़ रहते हैं, अर्थात् वीतराग भगवान् के वचनों का आदर न कर केवल अपनी पकड़ी हुई कल्पित बात को ही सिद्ध करने में दत्तचित्त रहते हैं और उसी की सिद्धि के लिये कुयुक्तियाँ लगाकर जिन वचन विरुद्ध कल्पित पुस्तकें निर्मित कर भद्र जीवों को सत्य

मार्ग से भ्रष्ट करने में उद्यत बने रहते हैं। अभिमान के वश से दृष्टिराग में फंसे हुए लोगों को चाहे जिस प्रकार से समझाया जाय, परन्तु वे अपने असदाग्रह को छोड़ते नहीं है। प्रत्युत सत्य बातों को दूषित करने में सावधान रहते हुए सत्य मार्ग को स्वीकार नहीं करते, और न उनका अनुमोदन ही करते हैं। श्री हेमचन्द्राचार्य स्वकृत 'वीतरागस्तोत्र' में लिखते हैं कि -

कामरागस्नेहरागा - वीषत्करनिवारणौ।

दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि ॥१॥

भावार्थ - कामराग, (विषय की अभिलाषा से स्त्री में रहा हुआ जो प्रेम) तथा स्नेहराग (स्नेह के कारण से पुत्रों के उपर रहा हुआ माता-पिताओं का जो प्रेम) ये दोनों राग तो थोड़े उपदेश से निवारण किये जा सकते हैं, किन्तु दृष्टिराग (स्वगच्छ में बंधा हुआ दुराग्रह - ममत्वभाव) तो इतना खराब होता है कि - सत्पुरुषों की भी छोड़ना कठिन है, अर्थात् - गच्छममत्त्व में पड़े हुए अच्छे-अच्छे विद्वान् - आचार्य-उपाध्याय-साधु वर्ग भी अपना दुराग्रह शास्त्रविरुद्ध होते हुए भी उसे छोड़ते नहीं है और कुयुक्तियों के द्वारा सत्य बात का उपहास कर अनीति मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। दृष्टिराग से ही मैत्री, प्रमोद, क्रुणा और माध्यस्थ-भावना का नाश होता है और लोग कलह में प्रवृत्त होते हैं तथा धर्म के रास्ते को भूल कर दुर्गति के भाजन बनते हैं किन्तु, सत्य धर्म को अंगीकार नहीं कर सकते।

यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि - दृष्टिराग तो दूसरे मतवालों के होता है, जैनों के तो नहीं ?

इसका उत्तर यह है कि जैन दो प्रकार के हैं - एक तो द्रव्यजैन और दूसरे भावजैन।

“द्रव्यजैन” वे कहे जाते हैं, जो आंतरिक श्रद्धा से नहीं, किन्तु परम्परा या रूढ़ि से धार्मिक व्यवहार साँचवते हैं, तथा जो कन्याविक्रय करते हैं, और जो अपने स्वधर्मियों का अपमान कर विधर्मियों की उन्नति करने में तत्पर रहते हैं एवं जो लोक दिखाऊ या अपनी प्रशंसा के वास्ते धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, और जो अपनी बात रखने के लिये सद्गुरुओं की अवहेलना (तिरस्कार) करते हैं और जो अपने गच्छ के ममत्व में पड़कर जाति या धर्म में विग्रह फैलाते हैं, और जो मद मात्सर्य आदि अनेक दुर्गुणों में लीन रहते हैं। वास्तव में द्रव्यजैन दृष्टिरागान्ध होकर वास्तविक धर्म से पराङ्मुख रहते हैं।

“भावजैन” उनको कहते हैं, जो अनन्त सुखात्मक जिनाज्ञाओं का पालन करते हैं, तथा कषायभाव से अपनी आत्मा को बचा कर हर एक कार्य में प्रवृत्त होते हैं, और निरपेक्ष होकर गुणीजनों की प्रशंसा; जिनेश्वरों की आराधना और सत्तत्त्वों का अभ्यास करते हैं तथा जिह्वा को नियम में रखकर मधुर और सत्यवचन बोलते हैं, एवं किसी का मर्मोद्घाटन नहीं करते और जो आपत्ति काल में भी धर्म को नहीं छोड़ते और जो दुराचारियों की संगति छोड़कर सबके साथ समभावपूर्वक उचित व्यवहार रखते हैं तथा जो स्वधर्मों को अपने भाई से भी अधिक सन्मान देते हैं, और जो वैभव में मान अथवा दरिद्रता में दुःख लेशमात्र भी नहीं रखते, एवं जो शत्रु की भी निन्दा नहीं करते तथा जो अपनी सभ्यता का कभी त्याग नहीं करते।

भावजैनों का हृदय उदार, गंभीर और गुणानुराग सम्पन्न होता है, इसीसे दृष्टिराग में न पड़कर सत्समागम और सत्यमार्ग पर कटिबद्ध रहते हैं।

महानुभावों ! शस्त्राकारों ने द्रव्यजैन, और भावजैनों का स्वरूप अनेक प्रकार से प्रतिपादन किया है, यदि वह यहाँ लिख दिया जाय तो ग्रन्थ बहुत बढ़ जाने की संभावना है; इसलिये यहाँ संक्षेप से दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। वर्तमान समय में द्रव्यजैन प्रायः विशेष दिखाई देते हैं, परन्तु बुद्धिमानों को चाहिये कि भावजैनत्व के गुणों को धारण करें, क्योंकि भावजैनत्व के बिना आत्मसुधार नहीं हो सकता, इससे कदाग्रह और आत्मश्लाघा को छोड़कर गुणानुरागी बनो और उत्तरोत्तर सद्गुण संग्रह करने में प्रयत्नशील रहो, जिससे कि आत्मकल्याण होवे।

मात्सर्यदुर्गुण ही सर्वत्र पराभव का हेतु है -

सोऽण गुणुक्करिसं, अन्नस्स करेसि मच्छरं जइ वि।

ता नूनं संसारे, पराभवं सहसि सव्वत्थ ॥६॥

(श्रुत्वा गुणोत्कर्षमन्यस्य करोषि मत्सरं यद्यपि।

ततो नूनं संसारे, पराभवं सहसि सर्वत्र ॥६॥)

शब्दार्थ - (जइवि) यद्यपि - जो तूँ (अन्नरस) दूसरे के (गुणुक्करिसं) गुणों के उत्कर्ष को (सोऽण) सुन करके (मच्छरं) मात्सर्यभाव को (करेसि) धारण करता है (ता) तिससे (नूनं) निश्चय से (संसारे) संसार में (सव्वत्थ) सब जगह (पराभवं) पराभव को (सहसि) सहन करता है ॥६॥

भावार्थ - यदि गुणवानों के उत्तम गुणों को देख या सुनकर अपने मन में मात्सर्यभाव को अवकाश देगा, तो तूँ सब जगह संसार में पराभव (मिथ्य अवस्था) को सहेगा, अर्थात् - प्राप्त होगा।

विवेचन - महात्माओं और गुणवान् पुरुषों की समृद्धि विद्वत्ता, योग्यता और यशःकीर्ति अथवा अर्चना (पूजा) को देख कर सुनकर अपने हृदय में आकुलित (दुःखित) होने का नाम 'मात्सर्य' है। संसार में मात्सर्य-ईर्ष्यालुस्वभाव ऐसा निन्दनीय दुर्गुण है, जो समाज गुणों और उन्नति मार्गों पर पानी फेर देता है और सब जाग वैर-विरोध बढ़ा कर निन्द्य अवस्था पर पहुँचा देता है।

सब दर्शनकारों का यही मन्तव्य है कि - भूमण्डलस्थित सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं को सीख कर ऐहिक (इस लोक संबंधी) योग्यताओं को प्राप्त कर लो, परन्तु जब तक मुख से दूसरों की निन्दा, आंतरिक मात्सर्य और दोषारोप आदि का अश्लील (लज्जाजनक) स्वभाव न मिटेगा, तब तक वे ऐहिक योग्यताएँ सप की तरह भयङ्कर और पलालपुञ्ज की तरह असार-व्यर्थ ही हैं। यहाँ पर विचार करने से स्पष्ट जान पड़ता है कि - मत्सरी लोगों में जो ज्ञान, ध्यान, कला आदि सद्गुण देखे जाते हैं, वे केवल बाह्याङ्क मात्र, निस्सार और अज्ञान रूप ही हैं, क्योंकि - मात्सर्ययुक्त मनुष्य अधम लोगों की गणना में गिना गया है। इससे मत्सरी में जो गुण हैं, वे अधमस्वभाव से मिश्रित होने से अधमरूप (दोषदूषित) ही है। वास्तव में मत्सरी सदा दोष संग्राहक ही होता है, इसलिए कोई पुरुष चाहे जैसा गुणवान् और क्रियापात्र हो, परन्तु वह उसमें भी दोषों के सिवाय और कुछ नहीं देखता।

जैसे काकपक्षी सरस और सुस्वादु जल व भोजन को छोड़ कर अत्यंत दुर्गंधि जल व भोजन के उपर ललचाता है। उसी प्रकार मत्सरी लोग गुणीजनों के उत्तम सद्गुणों पर अनुरागी न बन कर

दोषारोप रूप अमेध्य भोजन और निन्दा रूप दुर्गन्धित जल की नित्य चाहना किया करते हैं। कहा भी है कि -

प्रायेणाऽत्र कुलान्वितं कुकुलजाः श्रीवल्लभं दुर्भगाः,

दातारं कृपणा ऋजूनृजवो वित्ते स्थितं निर्धनाः।

वैरुष्योपहताश्च कान्तवपुषं धर्माऽऽश्रयं पापिनो,

नानाशास्त्रविचक्षणं च पुरुषं निन्दन्ति मूर्खाः सदा॥

भावार्थ - प्रायः इस संसार में अधम लोग कुलीनों (उत्तम पुरुषों) की, निर्भाग्य लोग भाग्यवानों की कृपण (सूम-कंजूस) लोग दाताओं की कुटिल लोग सरलाशय वाले सत्पुरुषों की, निर्धन, धनवानों की, रूप विहीन रूपरूपवानों की, पापी लोग धर्मात्माओं की और मूर्ख निरक्षर या मत्सरी लोग अनेक शास्त्रों में विचक्षण (चतुर) विद्वानों की; निरंतर निन्दा किया करते हैं।

मत्सरी लोगों का स्वभाव ही होता है कि वे पंडित, गुणवान और महात्माओं के साथ द्वेष रख, हर जगह उनकी निन्दा में तत्पर हो उसी में अपना जीवन सफल समझते हैं। मत्सरी लोग मिटे हुए कलह को फिर से उदीर्ण करने में नहीं सरमाते। उन्हें संसार परिभ्रमण करने का भी भय नहीं रहता, इससे निर्भय होकर दुराचार में प्रवृत्त रहते हैं। बहुत लोग तो मत्सरभाव से धार्मिक झगड़े खड़े कर कुसंप बढ़ाने में ही उद्यत होने से इस भव में निन्दा के भाजन बनते हैं और परभव में भी मात्सर्य के प्रभाव से अनेक दुःख भोगने वाले होते हैं, क्योंकि मात्सर्य करना भवभीरुओं का काम नहीं है, किन्तु प्रवाभिनन्दियों का काम है। कहा भी है कि -

“शुद्रो लोभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः।

अज्ञो भवाभिनन्दीत्या - निष्फलारम्भसङ्गतः ॥१॥

भावार्थ - जो मनुष्य क्षुद्र-मिन्दाखोर हो, लोभान्ध हो, दीर्घ (धर्मोत्साह रहित) हो, मत्सरी हो, भयवान् हो, मायावी हो, अज्ञ (ज्ञानादि गुण से रहित) हो, और विफलारम्भ कार्य करने वाला हो; ये सब भवाभिनन्दी पुरुषों के लक्षण हैं।

भवाभिनन्दियों के अंतःकरण में वैराग्य की वासना बिलकुल नहीं होती, इससे वे स्वार्थ और कपटलीला में विशेष निमग्न होकर मात्सर्य दुर्गुण के सेवन में ही सदा आनन्द मानते हैं। यद्यपि कोई बाह्यवृत्ति से नीति कुशलता का डोल बताता है, परन्तु वह गुप्तपणे अनीति का ही सेवन करता रहता है, क्योंकि इसकी मनोवृत्ति दुष्ट और स्वार्थनिष्ठ बनी रहती है, इससे यह यथार्थ नीति युक्त नहीं बन सकता और न कोई कार्य में विजय पा सकता है।

मात्सर्यपरित्यागः -

अतएव प्रत्येक मनुष्य को इस महादुर्गुण को सर्वथा छोड़कर गुणवानों के गुणों को देख या सुनकर आनन्दित रहना चाहिये। सबसे पहले हमारे धर्म गुरुवर्यों को उचित है कि - वे अपने पूर्वाचार्यों की निष्क्षयात बुद्धि, उनकी उत्तम शिक्षा और सहनशीलता का परिपूर्णरूप से अनुकरण कर श्रोतावर्ग में जो भवाभिनन्दी पन के दोष हैं, उनको अपने नीतिमय उपदेशों और व्याख्यानों के द्वारा मूल से नष्ट करें, क्योंकि - धर्म की उन्नति का आधार, उस धर्म को पालन करने वाली प्रजा के नीति सुधार पर निर्भर है और उस नीति का सुधार होना धर्मगुरुओं के आधीन है। यद्यपि बोर्डिंग हाऊस, स्कूल, पाठशाला आदिकों में भी नीति का शिक्षण मिल सकता है, परन्तु गुरुकुल में जितना नीति शिक्षण का यथार्थ प्रभाव पड़ता है, उतना दूसरी जगह नहीं। यह नियम सिद्ध बात है कि - जहाँ ईर्ष्या

आदि दोषों का अभाव है, और जहाँ स्वार्थ रहित हो परहित परायणता है वहाँ पर अनीति मार्ग का अनुकरण स्वप्न में भी नहीं किया जायगा और न वैसा शिक्षण ही दिया जायगा।

इसी वास्ते ग्रन्थकारों ने हर एक नीति का शिक्षण गुरुगम से प्राप्त करना उत्तम कहा है। परिपूर्ण विद्वान होने पर भी गुरुगम्य-धार्मिक रहस्यों को अच्छी तरह नहीं जान सकता।

कहा भी है कि -

विनो गुरुभ्यो गुणनीरधीभ्यो, धर्मं न जानाति विचक्षणोऽपि।

आकर्णदीर्घोज्ज्वललोचनोऽपि, दीपं विना पश्यति नास्यकारे ॥१॥

भावार्थ - सदगुणरत्नों के रत्नाकर (समुद्र) गुरुवर्य की कृपा के बिना बुद्धिमान मनुष्य भी धर्म को नहीं जान सकता है। जैसे - कोई मनुष्य बड़े-बड़े निर्मल लोचन होत्रे पर भी अंधकार स्थित वस्तुओं को दीपक के प्रकाश के बिना नहीं देख सकता।

दीपक की तरह गुरुवर्य धार्मिक मर्मों को स्पष्ट रूप से दिखाते हुए हृदय स्थित मिथ्यात्व रूप अंधकार को नष्ट कर नीति का प्रकाश कर सकते हैं। श्रावक वर्ग में नीति का सुधार तभी हो सकता है कि - जब गच्छनायक परस्पर सहनशीलता और मैत्रीभाव को धारण कर सर्वत्र नीति मय उपदेश देवें और उसी के अनुसार उनसे बर्ताव करा कर उनको मात्सर्य से विमुक्त करें। क्योंकि मात्सर्य दोष पराभव और अवनति का मुख्य धाम है, इसके विनाश किये बिना उन्नति और विजय नहीं हो सकता। ईर्ष्या ही मनुष्यों के उत्तम विचार, बुद्धि, सत्कार्य और उत्साह आदि को नष्ट कर देती है। जैन समाज का वर्तमान समय में जो अधःपतन होकर प्रतिदिन ह्रास हो रहा है,

उसका मूल कारण ईर्ष्या ही है। पूर्व समय में जो जो गच्छनायक थे, वे एक-दूसरे की उन्नति देख आनन्दित होकर परस्पर एक-दूसरे के सहायक बनते थे, किन्तु ईर्ष्याभाव कोई किसी से नहीं रखता था, इससे उन्होंने सर्वत्र धर्म की महोन्नति और धर्म प्रचार किया है।

महानुभावो ! थोड़ा अपने पूर्वाचार्यों के किये हुए उन्नति मार्ग के कारणों को खोजों और मात्सर्य के दुर्गुण को विचार कर, छोड़ो तो तुम्हारा भी अभ्युदय शीघ्र ही होगा। यदि गुणवानों के गुणों को देखकर आनन्दित न होगे, तो विशेष पराभव होगा और कहीं भी सुख-शांति का मार्ग नहीं मिलेगा, प्रत्युत भवभ्रमण ही करना पड़ेगा। मत्सर से की हुई निन्दा का फल-

गुणवंताण नराणं, ईसाभरतिमिरपूरिओ भणसि।

जइ कह वि दोसलेसं, ता भमसि भवे अपारम्भि ॥७॥

गुणवंता नराणाभीर्ष्याभरतिमिरपूरितो भणसि।

यदि कथमपि दोषलेशं, ततो भमसि भवेऽपारे॥

शब्दार्थ - (जइ) तो तू (ईसाभरतिमिरपूरिओ) अत्यन्त ईर्षारूप अंधकार से पूरित अर्थात् - अंधा बन (गुणवंताण) गुणवान (नराणं) मनुष्यों के (दोसलेसं) थोड़े भी दोषों को (कहवि) किसी प्रकार से (भणसि) बोलेगा (ता) तो (अपारम्भि) अपार (भवे) संसार में (भमसि) परिभ्रमण करेगा।

विवेचन - मत्सरी मनुष्य दिनान्ध हो घुग्धूकी तरह सद्गुण रूपी सूर्य के प्रकाश को नहीं देख सकता, न सद्गुणों पर आनन्दित होता है, किन्तु दोष (रात्रि) के समान दोषी के दोषों को देखा करता है, मात्सर्य के कारण गुणवान महात्माओं की निन्दा कर मत्सरी संसार भ्रमण का भाजन बनता है। ईर्ष्यालु मनुष्य अविवेकों से लिपट कर गुरु-शिष्य के

संबंध में, पिता-पुत्र के संबंध में और सहोदरों में या जाति में कुसंपरूप वज्रपात किए बिना नहीं रहता, अर्थात् - पूज्यवर्गों की आशातना या निन्दा करने से बिलकुल नहीं डरता, किन्तु जहाँ तक उससे बन पड़ता है, उनकी निन्दा कर महापातिका बनता है और हृदय की उदारता सुजन वर्ग से गुण प्राप्ति, गुणी-समागम आदि सन्मार्गों से शीघ्र पतित हो जाता है, क्योंकि ईर्ष्या-दूसरों का खंडन, अपना मण्डन, दूसरों का अपकर्ष और अपना उत्कर्ष आदि को उत्तेजन करने की आकांक्षा बढ़ाती है, जैसे - हाथी छाया का अर्थी होकर किसी वृक्ष का आश्रय लेता है और आश्रय (विश्राम) के बाद उसी वृक्ष को छिन्न-भिन्न करने का उद्योग करता है, उसी प्रकार मत्सरी मनुष्य गुणीजनों के आश्रय में रहकर भी उनको पतीत करने में उद्यत बना रहता है और हर एक तरह से उनको दूषित करने के जाल फैलाया करता है। संसार में ऐसा कौन सदगुण हैं, जो कि मत्सरी लोगों से दूषित न किया गया हो ?

कहा भी है कि -

जाडूयं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं,

शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनी।

तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तुर्यशक्तिः स्थिरे,

तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः॥

भावार्थ - दुर्जन - मात्सर्यादि दोष सम्पन्न लोग लज्जा संयुत पुरुष को जड़-मूर्ख कहते हैं और व्रतधारक को दंभी-ठगोरा कहते हैं, निर्मल आचार पालन करने वालों को धूर्त, पराक्रमी मनुष्य को निर्दयी-दयाहीन, सरल को बुद्धिहीन प्रिय-मधुर हितकारी वचन बोलने वालों को दीन, तेजस्वी को गर्विष्ठ-अभिमानी, बुद्धिमान् को वाचाल, स्थिर चित्तवाले को अर्थात् - संतोषी

को अशक्त-शक्तिहीन कहते हैं। इसलिए संसार में गुणीजनों का ऐसा कौन सा गुण है, जो मत्सरी लोगों के द्वारा दोषों से अङ्कित न किया जाता हो, किन्तु मत्सरी सब में कुछ न कुछ दोषऽऽरोप करते ही रहते हैं।

मत्सरी - लोगों में प्राणी मात्र की हिंसा करना, जाति या धर्म में विग्रह खड़ा करना, परदुःख में आनन्दित होना, परस्त्रीगमन करना, गुणीजनों की निन्दा करना, असदाग्रह में तत्पर रहना, विद्वानों के साथ द्वेष रखना, गुणवानों की सम्पत्ति देख दुःखी रहना, परद्रव्य हरण करना, पापोपदेश देना; इत्यादि दुर्गुण स्वाभाविक होते हैं। इसी सबब से मत्सरी लोगों को दुर्जन, खल, दुष्ट आदि शब्दों से शास्त्रकारों ने व्यवहार किया है।

लोक में उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, सदाचार और परोपकार; आदि सदगुणों से मनुष्यों की प्रख्याति या प्रशंसा सर्वत्र होती है, परन्तु मत्सरी ज्यों-ज्यों सत्पुरुष के गुणों का अनुभव करता जाता है, त्यों-त्यों उसे अनेक दुःख सताने लगते हैं, क्योंकि सदगुणों का अभ्युदय ईर्ष्यालुओं के हृदय में कंटक के समान गुचा करता है। पीलिया रोगवाला मनुष्य सब वस्तुओं को पीले रंगवाली ही देखा करता है, उसी तरह मत्सरी भी सदगुणों को दोष रूप समझकर हृदय दग्ध बना रहता है और इसी आवेश में वह अपने अमूल्य मनुष्य जीवन को व्यर्थ खो बैठता है, किन्तु उससे उत्तम गुण प्राप्त नहीं कर सकता।

इसलिये जो अपार संसार के दुःख से छूटना हो तथा सर्वत्र अपना या धर्म का अभ्युदय करना हो और अनुपम सुख की चाहना हो, तो गुणवानों के गुणों पर ईर्ष्या लाना या दोषऽऽरोप देना बिलकुल छोड़ दो और मैत्री धारण कर सर्वत्र शांति प्रचार का

उद्योग। करो क्यों कि - गुणवानों के दोष निकालने से या उनका बुरा चाहने से बहुत खराबी होती है।

महानुभावों ! इस बात पर ध्यान दो और शांत दृष्टि से विचारो कि - पुण्यशाली श्रीपाल राजा के उत्तम गुणों और सम्पत्ति को सहन न करने से धवल सेठ अपनी कीर्ति, धनश्री और योग्यता से भ्रष्ट हो नरक का भागी बना और भाग्यशाली धन्नाजी के तीन भाई इसी मात्सर्य दोष के वश घर-बार, कुटुम्ब से विमुख हो, अनेक दुःखों के पात्र बने हैं। कुटुम्ब और राज्य के सहित कौरवों का नाश भी इसी के प्रभाव से हुआ। बहुत क्या कहा जाय, जहाँ मत्सर का सेवन किया जाता है, वहाँ लेशमात्र सुख नहीं है। अतएव मात्सर्य भाव का त्याग कर सबके साथ भ्रातृभाव धारण करो, और प्रत्येक प्राणियों के अवगुणों पर दृष्टि न डालकर गुणानुरागी व गुणग्राही बनो, तभी महत्त्व बढ़ेगा और सब प्रकार से उन्नति भी होगी।

मत्सरि - मनुष्य पलालपुंज से भी तुच्छ है -

जो जंपइ परदोसे, गुणसयभरिओ वि मच्छरभरेणं।

सो विउसाणमसारो, पलालपुंजु व्व पडिभाइ ॥८॥

यो जल्पति परदोषान्, गुणशतभृतोऽपि मत्सरभरेण ।

स विदुषामशारः, पलालपुञ्जवत्प्रतिभाति ॥८॥

शब्दार्थ - (गुणसयभरिओ) सैकड़ों गुणों से युक्त होने पर (वि) भी (जो) जो कोई मनुष्य (मच्छरभरेणं) अधिक मत्सर भाव से (परदोसे) दूसरों के दोष को (जंपइ) बोलता है (सो) वह (विउसाणं) विद्वानों के मध्य में (असारो) तुच्छ (पलालपुंजुव्व) पलाल समूह की तरह (पडिभाइ) शोभता है।

विवेचन - जो सब के साथ उचित व्यवहार रखता है, किसी की भी निन्दा नहीं करता और सबका भला ही चाहता है, वह चाहे मूर्ख ही क्यों न हो, परन्तु सब लोग उसका मैत्रीपूर्वक आदर करेंगे और जो कुछ वह कहेगा, उसको भी सादर मानेंगे। यदि कोई मनुष्य सत्यवक्ता, विभव सम्पत्ति और विचारोत्कर्ष आदि अनेक गुणयुक्त भी है, परन्तु उसमें सहनशीलता नहीं है, याने दूसरों का अभ्युदय देख दुःखी होने का, या दोषाऽऽरोप करने का स्वभाव विद्यमान है, तो वह गुणीजनों के बीच में मात्सर्य के कारण शोभा नहीं पा सकता, किन्तु सब जगह अनादर ही पाता है।

यदि मत्सरी पुरुष सत्य बात का शुद्ध उपदेश भी देता हो, तो भी लोग उस पर विश्वास नहीं लाते, क्योंकि - हजारों सद्गुणों को कलङ्कित करने वाला मात्सर्य दुर्गुण उसमें भरा हुआ है। इसीसे उसका हितकर और मधुर वचन भी लोगों को अरुचिकर हो जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु मत्सर के प्रभाव से मनुष्य स्वयं शरीर शोभा, राज्यसंमान और योग्यता से भ्रष्ट होकर अत्यन्त दुःखी बन जाता है।

यहाँ पर एक 'धन्लाल' चौधरी का मात्सर्य पर दृष्टांत बहुत ही मनन करने लायक है -

इस भरत क्षेत्र में 'श्रीपुर' नाम का सब देशों में विख्यात एक नगर, किसी समय धनद की लक्ष्मी को लूटने वाला और व्यापारोन्नति का मुख्य धाम था। वहाँ अनेक सौधशिखरी जिन मंदिरों की श्रेणियाँ शुद्धधर्म की ध्वजा फरका रही थीं और जहाँ पंथियों के विश्राम के निमित्त अनेक धर्मशालाएँ बनी हुईं तथा याचक लोगों को निराश न होने के वास्ते अनेक दानशालाएँ खुली हुई थीं और विपणिहाट श्रेणियों की अपरिमित शोभा झलक रही थी और

प्रायः जहाँ राजभवन से अनीति को देश निकाला दिया गया था तथा जहाँ सदगृहिणी-शौभाग्यवती स्त्रियों ने अपने पवित्र आचरणों से नगर की अद्भुत शोभा को विस्तृत की थी। ऐसे सुगुणसम्पन्न उस 'श्रीपुर नगर' में नीतिनिपुण और सप्ताङ्ग राजलक्ष्मी से अलङ्कृत 'तत्त्वसिंह' नाम का राजा राज करता था। उसी नगर में राज माननीय और वणिग्जाति में अग्रगण्य 'धनूलाल' नामक चौधरी रहता था।

किसी विदेशी सेठ ने लोगों के मुख द्वारा सुना कि 'श्रीपुर नगर' व्यापार का और राजनीति का केन्द्र है। अतएव वहाँ जाकर "यावद्वृद्धिबलो-दयम्" व्यापार में उन्नति प्राप्त करूँ। ऐसा विचार कर अपने विनीत कुटुम्ब के सहित 'श्रीपुर' में आया और बीच बाजार में दुकान लेकर ठहरा। भाग्यवशात् अल्पकाल में ही करोड़ों रुपये कमाये, इतना ही नहीं, किन्तु धन के प्रभाव से सब साहूकारों में मुख्य माना जाने लगा। यहाँ तक कि पंच पंचायती या पानड़ी वगैरा कोई भी कार्य इस सेठ को पूछे बिना नहीं हो सकते थे और राज्य में भी इसका प्रभाव अच्छा जम गया, क्योंकि धन का प्रभाव ही इतना तीव्रतर है कि - धन सब योग्यताओं को बढ़ा कर प्रशस्य बना देता है। यथा -

"वन्द्यते यदवन्द्योऽपि, यदपूज्योऽपि पूज्यते।

गम्यते यदगम्योऽपि, स प्रभावो धनस्य तु ॥१॥"

भावार्थ - जो नमस्कार करने के योग्य नहीं है, वह नमस्कार करने योग्य बनता है और जो अपूज्य है, वह भी पूज्य बनता है तथा जो अगम्य परिचय के अयोग्य है, वह परिचय करने योग्य बनता है, यह सब धन का ही प्रभाव है, अर्थात् - जो अटूट धनवान् होता है, वह प्रायः कुलीन, पण्डित, श्रुतवान्, गुणज्ञ, वक्ता, दर्शनीय, वन्द्य, पूज्य, गम्य और श्लाघ्य समझा जाता

है। बहुत क्या कहा जाय विद्यावृद्ध, राजा, महाराजा आदि सब लोग प्रायः धनी के अधीन रहते हैं।

अतएव उस विदेशी सेठ का प्रभाव सब जातियों और राज्य में परिपूर्ण रूप से जम गया और सारे शहर में उसी की प्रशंसा होने लगी।

परन्तु 'गाँव तहाँ ढेडवाडा होय' इस कहावत के अनुसार जहाँ सज्जनों की बहुलता होती है, वहाँ प्रायः दो-चार दुर्जन भी हुआ करते हैं। इसलिये सेठ का अभ्युदय देख 'धन्लाल' चौधरी से रहा नहीं गया, अर्थात् - सेठ के उत्तम गुणों का अनुकरण नहीं कर सका, किन्तु ईर्ष्या के आवेश में आकर सेठ की सर्वत्र निन्दा करने लगा, लेकिन लोगों ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया, किन्तु प्रत्युत धन्लाल को ही फटकारना शुरू किया, तब वह दीनबदन हो सेठ के छिद्रों का अन्वेषण करने में उद्यत हुआ, परन्तु जो लोग हमेशा दोषों से बच कर रहते हैं और जो सदाचारशाली पुरुष कुमार्गों का अनुकरण ही नहीं करते, उनमें दोषों का मिलना बहुत कठिन है। धन्लाल सिर पीट-पीट कर थक गया, तो भी सदाचारी सेठ के अन्दर वह किसी हालत में छिद्र नहीं पा सका।

एक दिन सेठ ने पिछली रात को निद्रावसान में विचार किया कि मैंने पूर्वभवोपाजित पुण्योदय से इतनी लक्ष्मी प्राप्त की है और सब में अपना महत्त्व जमाया है, इस वास्ते अब कुछ न कुछ सत्कार्य करना चाहिये, क्योंकि - सद्धर्ममार्ग में व्यय की हुई लक्ष्मी ही पुण्यतरु की वर्द्धिका है; जिन्होंने लक्ष्मी पाकर उन्नतिमय कार्य नहीं किये, उनका जीना संसार में व्यर्थ है। ऐसा विचार कर सेठ ने निश्चय कर लिया कि - अच्छा दिन देख के सकुटुम्ब शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा करनी चाहिये।

तदनन्तर शुभ दिन, वार और नक्षत्र देखकर सेठ ने सकुटुम्ब यात्रा के लिए प्रयाण किया। सब लोग गाँव के बाहर तक पहुँचाने आये। इस अवसर में धनूलाल ने 'विनाशकाले विपरीत बुद्धि' इस वाक्य का अनुकरण कर विचारा कि - आज कोई अपशकुन हो जावे तो ठीक है, जिससे सेठ यात्रा न कर सके, परन्तु सेठ के भाग्योदय से सब शुभ शकुन ही हुए। तब धनूलाल शीघ्र स्वयं अपनी नाक काट कर सेठ के सम्मुख आया, उस समय साथ के लोग बोले सेठ साहब ! आज शकुन खराब मालूम होते हैं, इससे प्रयाण करना इच्छा नहीं है। कहा भी है कि -

मदपानी पागल पुरुष, नकटा संमुख आया।

खोड़ा भूखा बाँझनी, न करहु गमन कदाय॥

भावार्थ - अगर दारू का घड़ा, पागल, नकटा, लूला, भूखे मरता मनुष्य और बाँझनी स्त्रियाँ गमन करते समय सामने मिल जावें, तो पीछे लौट आना ही हितकर है, किन्तु आगे जाना ठीक नहीं है।

इस बात को सुनते ही सेठ सकुटुम्ब पीछा चल आया और सोचा कि - फिर दूसरे दिन अच्छा शकुन देखकर प्रयाण करूँगा। इधर चौधरी भी आनन्द मनाता हुआ शाम को बाजार में आया, तब उसे नकटा देखकर सब लोग उपहास करने लगे और सब जगह वह तिरस्कार दृष्टि से देखा जाने लगा, क्योंकि संसार में अत्यन्त सफाई से बोल कर उद्वेग करने वाला, हास्य से मर्मों का उद्घाटन करने वाला, सदगुणविहीन और गुणीजनों का निन्दक मनुष्य करौती के समान माना जाता है, अर्थात् - इस प्रकार का मनुष्य किसी का प्रिय नहीं रहता है।

'धनूलाल' को निन्दक, मत्सरी और दुष्ट स्वभावी जान कर लोगों ने उस को जाति बाहर किया और राजा के द्वारा उस विदेशी सेठ को नगरसेठ की उपाधि से अलंकृत कराया।

पाठक वर्ग ! मात्सर्य स्वभाव के दोषों को भले प्रकार विचार पूर्वक छोड़ो और अपनी आत्मा को गुणानुरागी बनाओ। यदि गुण सम्पन्न होने पर भी दूसरों के गुण का ग्रहण नहीं करोगे, तो सर्वत्र तुमको निन्द्य अवस्था प्राप्त होने का अवसर आवेगा और धर्म की योग्यता से पराङ्मुख रहना पड़ेगा, क्योंकि - मत्सरी मनुष्य धर्मरत्न की योग्यता से रहित होता है, किन्तु धर्मरत्न के योग्य वही पुरुष है, जो निम्नलिखित सदगुण सम्पन्न हो -

१. अक्षुद्र - गंभीर बुद्धिवाला हो, क्योंकि - गंभीर मनुष्य मद मात्सर्य से रहित हो धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझकर दुर्गुणों से अपनी आत्मा को बचा सकता है।

२. रूपवान - सर्वाङ्ग सुन्दर मनुष्य धर्म के योग्य होता है, क्योंकि - "यत्राकृतिस्तत्रगुणाः वसन्ति" अर्थात् - जहाँ पर सुन्दर मनोहर आकृति हो, वहाँ पर गुण निवास करते हैं। अतएव रूपहीन मनुष्य प्रायः धर्म के योग्य नहीं हो सकता।

कहा भी है कि -

जिसके हाथ रक्त हों, वह धनवन्त, जिसके नीले हों, वह मदिरा पीने वाला, जिसके पीले हो वह परस्त्रीगमन करने वाला, जिसके काले हो, वह निर्धन होता है और जिसके नख श्वेत हों, सो साधु, जिसके हाड़सदृश नख हों, सो निर्धन, जिसके पीले नख हो सो रोगी, पुष्य के समान नखवाला दुष्ट स्वभावी और व्याघ्रसदृश नख वाला क्रूर होता है, जिसके नख पतले हों, वह पुरुष सब का

राजा, गुणवान, दीर्घायु और गुणानुरागी होता है। जिसका स्कंध ऊँचा हो, वह राजमान्य और यशः कीर्ति का पात्र बनता है, जिसकी नासिका ऊँची और सुशोभित हो वह सबका उपकारक तथा जगन्मान्य होता है, जिसका मस्तक ललाट आदि अवयव विस्तीर्ण और मानोपेत हो, वह शूरवीर, सौभाग्यवान, सबके साथ मित्रता रखने वाला और सबका उद्धारक होता है।

इसलिये कहा जाता है कि - उत्तमलक्षण सम्पन्न सर्वाङ्ग सुन्दर रूपवान मनुष्य ही धर्म की योग्यता को प्राप्त कर सकता है और वही पुरुष दूसरों की आत्मा में धर्म का प्रतिभास करा सकता है, क्योंकि - प्रायः देखने में आता है कि जैसी आकृति वाला उपदेश देता है, वैसा ही उसका दूसरों पर प्रभाव पड़ता है, यदि काला कुरूपी अंधा उपदेश करे, तो लोगों के चित्त पर अच्छा असर नहीं पड़ता।

३. प्रकृति सौम्य - सुन्दर स्वभाव वाला धर्म के योग्य होता है, अर्थात् - पापकर्म, आक्रोश, बध और चोरी आदि करने का स्वभाव जिसका नहीं होता, वह पुरुष अपने शांत स्वभाव से सब प्राणियों को आनन्दोत्पन्न कराने वाला हो सकता है, इसलिये धर्मरत्न की योग्यता प्रकृति सौम्य पुरुष को ही प्राप्त होती है।

४. लोकप्रिय - संसार में जो लोकविरुद्ध कार्य हैं, उनको छोड़ने वाला पुरुष लोगों में प्रियपात्र बन कर गुणग्राही बन सकता है। इहलोकविरुद्ध १. परलोकविरुद्ध २ और उभयलोकविरुद्ध ३. यह तीन प्रकार की विरुद्धताएँ हैं।

परापवाद, धार्मिक पुरुषों का हास्य पूज्यवर्ग में ईर्ष्या सदाचार का उल्लंघन दाताओं की निन्दा और सत्पुरुषों को दुःख में डालने का प्रयत्न करना इत्यादि 'इहलेकाविरुद्ध' कहा जाता है।

परलोक विरुद्ध वह है कि - पन्द्रह कर्मादान का व्यापार करना, यद्यपि व्यापार करना लोकविरुद्ध नहीं है, तथापि हिंसक व्यापारों के करने से परलोक में सद्गति की प्राप्ति नहीं हो सकती, इससे हिंसक व्यापारों का करना 'परलोकविरुद्ध' है।

जिन कार्यों के करने से इस लोक में निन्दा और परलोक में दुर्गति के दुःख प्राप्त हों, उसे उभयलोकविरुद्ध कहते हैं। जैसे जुआँ खेलना, माँस खाना, मदिरा पीना, वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री से संभोग करना इत्यादि कार्य लोक में निन्द्य तथा तिरस्कार जनक और दुःख के दाता हैं। कहा भी है कि -

इहैव निन्द्यते शिष्टैर्व्यसनासक्तमानसः ।'

मृतस्तु दुर्गतिं याति, गतत्राणो नराधमः ॥१॥

भावार्थ - व्यसनों में आसक्त मनुष्य इसी लोक में सत्पुरुषों के द्वारा निन्दा का भाजन बनता है और वह नराधम अशरण होकर मर दुर्गति को प्राप्त होता है, अतएव व्यसनों का सेवन करना 'उभयलोकविरुद्ध' है।

इसलिये लोक विरुद्ध कार्यों का त्याग करने वाला सबका प्रिय बनता है और लोकप्रिय मनुष्य का ही सदुपदेश सबके ऊपर असर कर सकता है।

५. अकूरता - मद, मात्सर्य आदि दोषों से दूषित परिणाम वाला पुरुष धर्म का आराधन भले प्रकार नहीं कर सकता, इसलिये सरलपरिणामी मनुष्य ही धर्म के योग्य हो सकता है, क्योंकि - सरल स्वभाव वाला मनुष्य किसी के साथ वैर-विरोध नहीं रखता, यहाँ तक कि वह अपने अपराधी पर भी क्षमा करता है, इससे उसको धार्मिक तत्त्व सुगमता से प्राप्त हो सकता है।

६. भीरुता- पापकर्मों से डरते रहने को भीरुता कहते हैं। जिन कार्यों के करने से राजदंड, लोक में निन्दा और परलोक में कुत्सित गतियों की प्राप्ति होती हो, वैसे कार्यों का त्याग करने वाला मनुष्य सुखों का भाजन बनता है, क्योंकि - भीरु मनुष्य भवभ्रमण से डरता हुआ असद् व्यवहार में प्रवृत्त नहीं होता, इसी से उसको सद्गति प्राप्त होती है।

७. अशठता - निष्कपट भाव रखना, अर्थात् प्ररूपणा, प्रवर्तना और श्रद्धा इन तीनों को समान रखना, सो 'अशठता' कहाती है। जिसकी रहनी कहंनी समान होती है, वहीपुरुष अनेक गुणों का पात्र बनता है। जो लोग कपट पूर्वक हर एक धर्म क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, वे धर्म के वास्तविक फल को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। कपट क्रिया धर्म की हानि करने वाली होती है, अतएव कपटरहित मनुष्य ही धर्म के योग्य है।

८. सुदाक्षिण्य - दूसरोंको तिरस्कार करने का स्वभाव नहीं रखना, किन्तु परोपकार-परायण ही रहना। जो काम इस लोक और परलोक में हितकारक हो, उसमें प्रवृत्ति रखना तथा किसी मनुष्य की प्रार्थना का भंग नहीं करना। उसको 'सुदाक्षिण्य' कहते हैं। दाक्षिण्य गुण सम्पन्न पुरुष अपने सदुपदेशों द्वारा सबका भला चाहता रहता है, किन्तु किसी को दुःख में डालने की योजना नहीं करता, इससे वह धर्म के योग्य हो सकता है।

९. लज्जालु - देशाचार, कुलाचार और धर्म से विरुद्ध कार्य में प्रवृत्त न होने वाले को लज्जालु कहते हैं अर्थात् - मरणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी स्वयं की हुई प्रतिज्ञा का भंग नहीं करना। लज्जावान्

मनुष्य हजारों विपत्तियाँ होने पर भी अकार्य में प्रवृत्त नहीं होता, इससे वह धर्म के योग्य हो सकता है।

१०. दयालुता - सब जीवों के ऊपर करुणाभाव रखना और जो हीन-दीन दुःखी जीव है, उनके दुःख हटाने का प्रतीकार करना 'दयालुता' कहाती है। दयालु स्वभाव वाला ही मनुष्य धर्म के योग्य है। सर्वज्ञ भगवन्तो ने अहिंसा धर्म को सबसे उत्तम बताया है। जैसे पर्वतों में मेरु, देवताओं में इन्द्र, मनुष्यों में चक्रवर्ती, ज्योतिष्को में चन्द्र, वृक्षों में कल्पवृक्ष, ग्रहों में सूर्य, जलाशयों में सिंधु और देवेन्द्रों में जिनराज उत्तम हैं। उसी प्रकार समस्त व्रतों में श्रेष्ठ पदवी को अहिंसा ही प्राप्त करती है, अर्थात् अहिंसा ही सर्व से उत्तम है, क्योंकि जिस धर्म में दया नहीं, वह धर्म ही नहीं है।

दयालु पुरुष ही सर्वत्र समदृष्टी होने से आदेयवचन, पूजनीय, कीर्तिवान, परमयोगी और परोपकारी आदि शब्दों से श्लाघाऽऽस्पद होता है और महात्मा गिना जाता है, क्योंकि दयालु मनुष्य के पास धर्मच्छु लोग निर्भय होकर धर्म प्राप्त करते हैं; जबकि शांति में लीन योगिराजों को इतर जीव देखते हैं, तब वे भी जन्मजात, वैरभाव को जलाञ्जलि दे देते हैं, इसलिए दयालु स्वभाव ही धर्म की योग्यता को बढ़ा सकता है, जिस प्रकार शस्त्र रहित सुभट, विचाररहित मंत्री, नायक रहित सेना, कला शून्य पुरुष ब्रह्मचर्यरहीन व्रती, विद्याहीन विप्र, गन्धहीन पुष्य, पतितदन्त मुख और पातिव्रत्य धर्मरहिता स्त्री, शोभा को प्राप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार दयालु स्वभाव के बिना शुद्धकर्म की शोभा नहीं हो सकती।

११. मध्यस्थ सौम्य दृष्टि - पक्षपात और राग-द्वेष रहित दृष्टि रखना अर्थात् - सब मतों में से 'कनक परीक्षा निपुण पुरुषवत्'

सद्वस्तु को ग्रहण करना, किन्तु किसी के साथ राग-द्वेष नहीं रखना 'मध्यस्थ सौम्य दृष्टि गुण' कहता है। इस गुणवाला मनुष्य सौम्यता से ज्ञानादि सदगुणों को प्राप्त और गुणों के प्रतिपक्षभूत दोषों को त्याग कर सकता है, अतएव मध्यस्थ स्वभावी और सौम्य दृष्टि पुरुष ही धर्म के योग्य है।

१२. गुणानुरागी - गुणीजनों के गुण पर हार्दिक प्रेम रखना और गुणवान साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका और सन्मार्गानुसारी पुरुषों का बहुमान करना, यहाँ तक कि अपना अपकारी भी क्यों न हो, किन्तु उसके ऊपर भी द्वेष-बुद्धि नहीं लाना 'गुणानुरागी' कहाता है। इसलिये गुणानुरागी हुए बिना पुरुष धर्म के योग्य नहीं हो सकता है।

१३. सत्कश्रक - वैराग्यभाव को उत्पन्न करने वाली तीर्थंकर, गणधर, महर्षि और उत्तमशील-सम्पन्न सतियों आदि की कथा कहने वाला पुरुष धर्म करने के योग्य होता है, क्योंकि धार्मिक कथानुयोग के ग्रन्थ और सत्पुरुषों के जीवन चरित्र वाँचने से उत्तमता, सहनशीलता आदि सदगुणों की प्राप्ति होती है, इसीलिये विकथाओं का त्याग करने वाला पुरुष भी धर्म के योग्य हो सकता है। अतएव सत्कथी पुरुष जिनसे कर्म का बंधन होता हो, ऐसी श्रृंगार आदि की कथाओं से बिलकुल अलग रहता है, इससे उसको कर्मबंधन नहीं होता।

१४. सुपक्षयुक्त - जिसका कुटुम्ब परिवार और मित्रवर्ग सदाचारी, गुणानुरागी, सुशील और धर्मपरायण तथा सत्संगी हो, वह सुपक्षयुक्त गुणवाला पुरुष कहा जाता है। सुपक्षवाला पुरुष धार्मिक क्रियाओं को और सदगुणों को निर्विघ्नता से प्राप्त कर

सकता है, क्योंकि - अपने सदाचारी समुदाय के बल से वह अनेक गुणों को प्राप्त करता हुआ, अन्य मनुष्यों को भी धर्मविलासी बना सकता है।

१५. दीर्घदर्शिता - जिस कार्य का भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में सुन्दर परिणाम हो, वैसा कार्य करना और जिस कार्य की सज्जन लोग निन्दा करें अथवा जिसका परिणाम (फल) उपहास या दुःख का कारक हो, उसका परित्याग करना दीर्घदर्शिता कहाती है। दीर्घदर्शी पुरुष ही अपनी उत्तमता से उभयलोक में प्रशंसा का पात्र बनकर सुखी होता है।

१६. विशेषज्ञता - वस्तुधर्म के हिताऽहित, सत्याऽसत्य, तथा साराऽसार को जानकर गुण और दोष की परीक्षा करना। विशेषज्ञता कहाती है। विशेषज्ञ (विवेकवान्) पुरुष आग्रह को छोड़कर निष्पक्षपात बुद्धि से सत्य मार्ग में अपनी श्रद्धा को स्थापित करता है, इससे वह आत्मा दुर्गति का भाजन नहीं बन सकता।

१७. वृद्धानुग - सदाचारी, विवेकवान् उत्तम पुरुषों के मार्गानुसार वर्तना अर्थात् अशुभचार और दुर्गतिदायक कार्यों को छोड़कर पूर्वाचार्यों के उत्तम मार्ग में प्रवृत्ति करना वह 'वृद्धानुग' गुण कहा जाता है। शिष्ट पुरुषों की परम्परा के अनुकूल चलने वाला पुरुष उत्तमोत्तम सद्गुणों का पात्र बनता है, क्योंकि उत्तमाचरण से अधम मनुष्य भी उत्तम बन सकता है, अतएव शिष्ट पुरुषों के मार्ग पर चलने वाला ही धर्म के योग्य हो सकता है।

१८. विनयवान - माता, पिता और धर्मचार्य तथा श्रीसंघ आदि पूज्य पुरुषों की आदर से सेवा भक्ति करना और पूज्यवर्गों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना और नम्र स्वभाव से बरतना वह 'विनय' गुण कहा जाता है।

विनयवान् मनुष्य बहुत शीघ्र उत्तरोत्तर सदगुणों को प्राप्त करता है। देखिये विनय के द्वारा तपस्वियों को पुण्य प्राप्ति होती है, सुखाभिलाषी पुरुषों के लिए सम्पदा अनुकूल होती है और योगी लोगों के लिए भी मुक्ति का परिणाम प्राप्त होता है, फिर कहिये विनय - पूज्य पुरुषों को या किसी भी पुरुष को प्रिय क्यों न हो ? विनीत शिष्यों को ही गुरु महाराज शास्त्रों और परम्परागत समाचारियों के भेद (रहस्य) बतलाते हैं। विनीत पुत्रों को ही माँ-बाप शुभाशीर्वाद देकर कृतार्थ करते हैं। इसीसे कहा जाता है कि - विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष (सदा शाश्वत सुख) प्राप्त होता है। जहाँ विनय का अभाव है, वहाँ धार्मिक तत्त्वों की प्राप्ति नहीं हो सकती और न कोई सदगुण ही मिल सकता है। अतएव विनयवान् पुरुष ही धर्म के योग्य होता है।

१९. कृतज्ञता - उपकारी पुरुषों के उपकारों को नहीं भूलना कृतज्ञता कहलाती है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि - निरंतर कृतज्ञ गुण को धारण करें, किन्तु कृतघ्न नहीं बनें। जो लोग कृतज्ञ होते हैं, उनकी प्रशंसा होती है और सब कोई उनके सहायक बनते हैं। संसार में माता-पिता, कलाचार्य (विद्यागुरु) और धर्माचार्य आदि परमोपकारी कहे जाते हैं।

माता-पिता अनेक कष्ट उठाकर बचपन में पालन-पोषण करते हैं और सुख-दुःख में सहायक बनते हैं।

कलाचार्य - पढ़ना, लिखना, व्याख्यान देना, वाद विषयक ग्रंथों की युक्ति बताना, सांसारिक व्यवहार सिखाना इत्यादि शिक्षाओं को देकर उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ाते हैं।

धर्माचार्य - धर्म और अधर्म का वास्तविक स्वरूप दिखला कर धर्ममार्ग में स्थिर करते हैं और दुर्गतिदायक खोटे मार्गों से बचाकर सुखैषी बनाते हैं।

इसलिये इन पूज्य पुरुषों के उपकार को कभी भूलना नहीं चाहिये। जो पुरुष इनके उपकारों को भूल जाता है, वह कृतघ्न कहलाता है और वह सर्वत्र निन्दा का पात्र बनता है। मनुष्यों को चाहिये कि - पूर्वोक्त उपकारी पुरुषों की शुद्धांतःकरण से सेवा करते रहें और वे जो आज्ञा देवें, उसके अनुसार चलते रहें तथा ऐसा कार्य कभी न करें कि जिससे उनके कुल और कीर्ति को लाञ्छन लगे।

यों तो जन्म पर्यन्त सेवा करने पर भी माँ-बाप कलाचार्य और धर्माचार्य के उपकार रूप ऋण से मुक्त कोई नहीं हो सकता, परन्तु वे यदि विधर्मी हो या धर्म में उनको किसी तरह की बाधा पड़ती हो, तो उसको मिटाकर शुद्ध धर्म में स्थिर किये जावें तभी उपकार रूप ऋण से मुक्त होना संभव है। अतएव कृतज्ञगुण सम्पन्न मनुष्य ही धर्म के योग्य हो सकता है, न कि कृत उपकारों को भूलने वाला।

२०. परहितार्थकारी - हीन, दीन, दुःखी और संसार दावानल से संतप्त प्राणियों का भला करने वाला पुरुष धर्म के योग्य अवश्य होता है, क्योंकि परहित करना यही मनुष्यों का यथार्थ धर्म है, जो लोग अनेक विपत्तियाँ सहकर भी परहित करने में कटिबद्ध रहते हैं, उन्हीं का जीवन इस संसार में सफल गिना जाता है।

इस संसार में कई एक मनुष्य नाना भाँति के श्रोजन करने में, कई एक सुगंधित फूलमालाओं में, कई एक शरीर में चोवा चन्दन वगैरह द्रव्य लगाने में रसिक होते हैं और कई एक गीत (गान)

सुनने के अभिलाषी रहते हैं, कई एक घूत, विकथा मृगया, मदिरापान आदि व्यसनो से आसक्त होते हैं, कई एक नृत्यादि देखने के उत्साही रहते हैं, कई एक घोड़ा, रथ, हाथी, सुखपाल आदि पर सवार होने में अपना जीवन सफल समझते हैं, परन्तु वे धन्यवाद देने योग्य नहीं हैं। धन्यवाद के योग्य तो वे ही सत्पुरुष हैं, जो निरंतर परहित करने में लगे रहते हैं। परहित करने वाला पुरुष दूसरों का हित करता हुआ वास्तव में अपना ही हित करता है, क्योंकि जब वह दूसरों का भला करेगा और दूसरे जीवों के दुःख को छुड़ा कर सुखी करेगा, तब वे जीव उसको हार्दिक शुभाशीर्वाद देंगे, जिससे उसका भी भला होगा। परिहितार्थकारी मनुष्य महासत्त्ववाला होता है, इससे उसमें परोपकार तत्परता, विनीतता, सत्यता, मन की तुच्छता का अभाव, प्रतिदिन विद्या का विनोद और दीनता का अभाव इत्यादि गुण स्वाभाविक होते हैं।

जिस मनुष्य ने यथाशक्य भी दीनों का उद्धार नहीं किया, स्वधर्मी भाइयों को सहायता नहीं दी और जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण सच्चे दिल से नहीं किया। उनका जन्म व्यर्थ ही है। अतएव संसार में मनुष्य जन्म पाकर जहाँ तक बन सके, सबका हित करने में उद्यत करना चाहिये, जिससे अपनी आत्मा का उद्धार और जीवन की सफलता हो।

२१. लब्धलक्ष - ज्ञानावरणीय कर्म के कम होने से गहन से गहन शास्त्रीय विषयों और नीति वाक्यों को शीघ्र जान लेना, अर्थात् - प्रतिजन्म में किये हुए अभ्यास की तरह हर एक बात को समझ लेना 'लब्धलक्ष' कहलाता है। लब्धलक्ष गुण सम्पन्न मनुष्य को हर एक बात समझाने में परिश्रम नहीं उठाना पड़ता और थोड़े परिश्रम

में बहुत समझाया जा सकता है, इसलिये इस गुणवाला पुरुष सुशिक्षणीय होने से अल्पसमय में धार्मिक तत्त्वों का पारगामी हो जाता है और इसी से वह धर्म के योग्य भी होता है, किन्तु मत्सरी इस गुण से रहित होने से धर्म के योग्य नहीं होता।

पाठकगण ! पूर्वोक्त सदगुणों वाला मनुष्य अपनी योग्यता से धार्मिक रहस्यों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु ईर्ष्यालु मनुष्यों में पूर्वोक्त सदगुणों का बिलकुल अभाव होता है, इससे वह धार्मिक रहस्यों की प्राप्ति से शून्य रहता है। अतएव बुद्धिमानों को अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए मात्सर्य दुर्गुण को सर्वथा छोड़ ही देना चाहिए।

इस भव में किये हुए अभ्यास के अनुसार गुण या दोषों की परभाव में भी प्राप्ति होती है -

जं अब्भसेइ जीवो, गुणं च दोसं च इत्थ जन्मिम्।

तं परलोए पावइ, अब्भासेणं पुणो तेणं ॥९॥

यमभ्यसेज्जीवो, गुणं च दोषं चाऽत्र जन्मनि।

तं परलोके प्राप्नोत्य - भ्यांसेन पुनस्तेनु ॥९॥

शब्दार्थ - (जीवो) आत्मा (इत्थ) इस (जम्मिम्) जन्म के विषे (जं) जिस (गुणं) गुण (च) और (दोसं च) दोष का (अब्भसेइ) अभ्यास रखता है - सीखता है (तेणं) उस (अब्भासेणं) अभ्यास से (तं) उस गुण और दोष को (परलोए) परलोक में (पुणो) फिर (पावइ) पाता है।

भावार्थ - यह आत्मा इस जन्म में जिन गुण और दोषों का अभ्यास रखता है, उन्हीं को भवान्तर में भी पाता है, अर्थात् इस जन्म में किए हुए अभ्यास के अनुसार अन्य जन्म में भी गुण और दोष का भाजन बनता है।

विवेचन - स्मृति पथ में दृढीभूत करने के लिए एक वस्तु को बार-बार याद करते रहना, अर्थात् इष्ट वस्तु की पूर्णता प्राप्त करने के लिए एक या अनेक क्रिया का अवलम्बन करने का नाम 'अभ्यास' है। यह एक साधारण नियम भी है कि -

“करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।

रसरी आवत जावते, शिलपर परत निसान॥”

जैसे - बार-बार कुएं पर रस्सी के आने जाने से पत्थर ऊपर निशान पड़ जाता है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी अभ्यास को करते-करते विद्वान बन जाता है।

कई जगह सुना जाता है कि अमुक मनुष्य मूर्खकुल में उत्पन्न होकर अभ्यास के करने से सर्वत्र प्रतिष्ठा पाकर एक नियन्ता बन गया। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि - अभ्यास के आगे कोई कार्य दुःसाध्य हो, क्योंकि-अभ्यास की प्रबलता से निर्बल बलवान, निर्गुणी गुणवान, निर्धनी धनवान, मूर्ख विद्वान, सरागी वीतराग बन जाता है, अतएव यदि मनुष्य सच्चे मन से धार ले तो तीन भुवनपति-योगीन्द्र बन सकता है, अभ्यास के जरिए वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति होते देर नहीं होती, इसीसे कहा जाता है कि- 'अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति' अर्थात् - अभ्यास संसार में सब कुशलता को परिपूर्ण रूप से धारण करता है। जो लोग अभ्यास के शत्रु हैं वे लोग अभागी हैं, उन्हें किसी सद्गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती, और न वे किसी उन्नति मय मार्ग पर आरूढ़ हो सकते हैं।

अभ्यास - टेव पाडना, परिचय करना, गिनती करना, भावना - पुनः पुनः परिशीलन (विचार) करना।

अभ्यास से ही सकलक्रिया में कुशलता प्राप्त होती है, यह बात लिखना, पढ़ना, गिनना, नृत्य करना, वगैरह सर्व कलाओं में अनुभव सिद्ध है। कहा है कि - अभ्यास से ही सम्पूर्ण कला और क्रिया आती हैं तथा अभ्यास से ही ध्यान मौनव्रत आदि क्रियाएं सहज में कर सकते हैं, अभ्यास से कौन बात होना कठिन है? निरन्तर विरति परिणाम का अभ्यास करने से परलोकगमन होने पर भी अभ्यास का संस्कार जमा रहता है।

इस पर शास्त्रकारों ने अनेक उदाहरण दिए हैं। लेकिन यहाँ एक दो उदाहरण (दृष्टान्त) दिखाये जाते हैं कि -

“एक अहीर अपनी गौ के बच्चे को उठाकर नित्य जंगल में ले जाया करता था और शाम को फिर घर लाता था। इसी तरह अभ्यास करते-करते दो तीन वर्ष के बैल को भी वह अहीर उठाकर ले जाता और ले आता था।”

“एक राजकुँवर हाथी के बच्चे को प्रातः समय उठकर निरन्तर उठाया करता था, इसी तरह नित्य उठाने का अभ्यास करने से वह बड़ा होने पर भी उस हाथी को हाथों में ऊँचा उठा लेता था।”

इसी से कहा जाता है कि अभ्यास से सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

अभ्यास - शब्द ध्यान और एकाग्रता पूर्वक चित्त को स्थिर रखना इन अर्थों में भी है। सांसारिक वृत्ति से विरक्त चित्त को स्वपरिणाम में स्थापित करने का प्रयत्न करना उसका नाम 'शुद्ध अभ्यास' है। मैत्री आदि का मूलाधान (बीजस्थापन) युक्त और गोत्रयोगी व्यतिरिक्त जो कुलयोगी आदि, उनको प्रायः शुभ अभ्यास होता है। जिसने योगियों के कुल में जन्म पाया है और उनके

धर्मानुकूल चलता है, उसको कुलयोगी समझना चाहिए। सामान्यतः जो उत्तम भव्य किसी के ऊपर द्वेष नहीं रखने वाला, दयालु, नम्र, सत्याऽसत्य की पहचान करने वाला, और जितेन्द्रिय हो उसको 'गोत्रयोगी' कहते हैं।

किन्हीं आचार्यों ने तीन प्रकार का अभ्यास माना है। सतताभ्यास १. विषयाभ्यास २. और भावाभ्यास ३. माता-पिता आदि का विनय आदि करने को 'सतताभ्यास' कहते हैं। मोक्षमार्ग में श्रेष्ठतम (नायक) श्री अरिहंत भगवान की वारंवार पूजनादि में प्रवृत्ति को 'विषयाभ्यास' कहते हैं। भवभ्रमण से उद्विग्न होकर सम्यग् दर्शनादि भावों का पुनः परिशलीन (विचार) करने को 'भावाभ्यास' कहते हैं। यहाँ निश्चयानुसार सतताभ्यास और विषयाभ्यास ये दो युक्त नहीं हैं? क्योंकि - माता पिता आदि का वैयावृत्यादि स्वरूप सतताभ्यास करेंगे तो सम्यग्दर्शनादि के आराधन का अभ्यास न होने से धर्मानुष्ठान नहीं सध सकता, और अर्हदादि का पूजन स्वरूप विषयाभ्यास करने पर भावसहित भववैराग्य नहीं होने से धर्मानुष्ठान की मर्यादा नहीं प्राप्त होती। अतएव परामार्थोपयोग रूप धर्मानुष्ठान होने से निश्चय नय के द्वारा भावाभ्यास ही आदर करने योग्य है। और व्यवहारनय से तो अपुनर्बन्धकादि में प्रथम के दोनों अभ्यास समाचरण करना आवश्यक है। क्योंकि - व्यवहारनयाभ्यास के बिना निश्चयनयाभ्यास नहीं हो सकता, इसलिए सतताभ्यास और विषयाभ्यास करते-करते भावाभ्यास प्राप्त होता है। तीव्रभाव से पाप को नहीं करना उसका नाम 'अपुनर्बन्धक' है। अपुनर्बन्धक में आदि पद से अपुनर्बन्धक की उत्तर अवस्था विशेष को भजने वाला

मार्गाभिमुख और मार्गपतित तथा अविरतसमगृह्ण आदि भी ग्रहण करना।

जैसा अभ्यास वैसा असर -

अभ्यस्त वस्तुओं का इतना दृढ़ संस्कार हो जाता है कि - वे भवान्तर में भी नहीं भूली जा सकतीं। जो लोग हमेशा सद्-गुणों का ही अनुकरण किया करते हैं उनको भवान्तर में विशेष रूप से वे गुण प्रगट होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण का अभ्यास होने से सद् गुण सद् गुण की अपेक्षा अधिकता से पैदा हुआ करते हैं। इस जन्म में दया, दान, उदारता, विनय आदि सद्गुणों की प्राप्ति का अभ्यास करते समय यदि उसमें कुछ स्वभाव का परिवर्तन हो गया, तो भवान्तर में भी सद् गुण प्राप्त होने पर भी कुछ परिवर्तन अवश्य हुए बिना नहीं रहेगा।

मनुष्यादि प्राणी बालकपन से अपने माता पिता आदि के आचरणों को देख, प्रायः उसी तरफ झुक जाया करते हैं। अर्थात् वैसा ही व्यवहार सीख लेते हैं, और उसी के अनुसार प्रवर्तन करने लग जाते हैं क्योंकि शुरू से उनको वही अभ्यास पड़ जाता है, इसी से मनुष्यादि प्राणियों की जीवनयात्रा का मार्ग सर्वथा दूसरों के आचरणों पर ही निर्भर है।

इसके सिवाय पाश्चात्य विद्वानों ने इसका अनुभव भी किया है कि - यदि मनुष्य उत्पन्न होते ही निर्जन वन में रक्खा जावे तो वह बिल्कुल मानुषी व्यवहार से विरुद्ध पशुवत चेष्टा करने वाला बनजाता है। सुनते हैं कि -

किसी बालक को उसके उत्पन्न होने के कुछ समय बाद एक भेड़िया उठा ले गया और अपने निवास स्थान (भाठी गुफा) में जा रक्खा, किन्तु उस बालक को भेड़िया ने खाया नहीं, प्रत्युत अपने बच्चों की तरह उसको भी पालन किया। बहुत दिनों के बाद लोगों ने उसे जंगल में फिरते देखा। तब उसे बड़े यत्न से पकड़ कर ग्राम में ले गए तो वह बालक मनुष्यों के समान भाषा को न बोल कर भेड़िया के सदृश घुर घुर ~~बोल~~ बोलता, और मनुष्यों को देखकर भाग जाता तथा जीभ से चपचप कर जल पीता और उसी तरह खाया करता था। अर्थात् भेड़िया के समान ही उसके सब आचरण देख पड़ते थे। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि प्राणियों का अभ्यास क्रम दूसरों के आचरणों के अधीन है, अर्थात् - "तुझे तासीर सोहबते असर" याने जैसा सहवास मिलता है वैसा ही अभ्यास कर लेता है और तनुसार उसका स्वभाव भी पड़ जाता है। लिखा है कि -

अंबस्स या निंबस्स य, दुण्हं पि समागयाइँ मूलाइँ।

संसर्गेण विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥१॥

भावार्थ - आम और नीम दोनों वृक्ष की जड़ें शामिल ही उत्पन्न हुई, परन्तु नीम की जड़ के संसर्ग से आम भी अपनी मधुरता के गुण से नष्ट हो कर कडुआपन को धारण कर लेता है। अर्थात् उस आम का स्वभाव छूट जाता है, और कडुआपन के अधीन हो जाता है।

इसी तरह बालक भी संसर्गानुसार आचरणों को स्वीकार कर लेता है। इसलिए माता-पिता आदि को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि बालक दुरात्माओं के संसर्ग से असद् व्यवहार का अभ्यासी न होने पावे। क्योंकि जहाँ माता पिता मोह के वश हो

बालक को उत्तम शिक्षण में नहीं स्थापित करते। वहाँ बालक जन्म से मरण पर्यन्त दुर्गुणी बन जाते हैं और उनका वह जन्म ही नष्ट हो जाता है। इससे बालकों को सुशील और सुशिक्षित लोगों के सहवास में रखना बहुत ही आवश्यक है। बालकों का हृदय कच्चा होता है, उनके हृदय में सगुण या दुर्गुण की छाया बहुत ही शीघ्र दृढ़ीभूत हो जाती है। इससे माता पिता और अध्यापकों को भी सगुणी होने की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि बालकों का विशेष परिचय इन्हीं लोगों के साथ रहता है। इससे वे इनकी देखादेखी ही अपनी भी प्रवृत्ति कर बैठते हैं। इससे पूज्य वर्गों को उचित है कि अपने सहवासी बालकों के समकक्ष अपनी कोई ऐसी चेष्टा न करें, जिससे उनके हृदय दर्पण पर बुरा प्रतिमास हो, और बालकों को हमेशा सद् गुणी बनाने का प्रयत्न करते रहें, और उनको निन्दा करने की आदत से बचावें। इस प्रकार की व्यवस्था रखने से बालकों के सद्गुणी होने या उत्तम गुण सम्पादन करने का उत्साह नष्ट नहीं होता और वे सदा उत्तम अभ्यास में लीन रहते हैं।

पूर्वोक्त बातों के कहने का तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य सत्समागम से सुधरता है और कुसंग से बिगड़ता है। जैसे - बारिश का जल मधुर या सुगन्धित वस्तुओं के संसर्ग से मधुरता या सुगन्धता को, और मलमूत्र या जहरीली वस्तुओं के संसर्ग से तदनुरूप स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार मनुष्य का जैसा अभ्यास पड़ता है वैसी ही उसको उत्तमता अथवा अधमता प्राप्त होती है। 'जैसा आहार वैसा उद्गार' इस कहावत के मुताबिक यदि मनुष्य पराये दोषों के तरफ ताक-ताक कर निन्दा करता रहेगा तो वह अवश्य दुर्गुणी हुए बिना नहीं रहेगा। क्योंकि गुण और दोष का अभ्यास

संसर्गाधीन है। इसीलिए यहाँ पर अवसर प्राप्त कुछ सत्सङ्ग की महिमा दिखा दी जाती है।

सत् = गुणवानों का, सङ्ग = परिचय (सहवास) करने का नाम 'सत्सङ्ग' है। अच्छा मनुष्य उत्तम ग्रन्थ, सुन्दर भाषण, सुयोग्य मंडली, सुशिक्षित सभासद, उत्तम पाठशाला, सद्विचार और गुण सम्पन्न चरित्र, इन सब को सू पद से लक्षित (प्रकट) किया जा सकता है। उनका सङ्ग याने सोहबत, परिचय, प्रसङ्ग, अभ्यास, मनन, अवलोकन, निवास आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध सत्सङ्ग कहाते हैं। अर्थात् - अनेक तरह से सत्सङ्ग का सेवन किया जा सकता है।

शास्त्रकारों ने जो आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और उत्तम जाति में जन्म लेना अच्छा बताया है। इसका कारण यही है कि उत्तम क्षेत्रादि में जन्म होने से आर्यजनों का समागम हमेशा मिलता रहता है, जिससे मनुष्यों का चित्त बाल्यावस्था से ही सगुणों के तरफ आकर्षित (खिंचा हुआ) बना रहता है और निरन्तर सगुणों को प्राप्त करने का उत्साह बढ़ा करता है। इसलिए सत्संग की महिमा अवर्णनीय है। संसार में अनेक दुःखों से पीड़ित जीवमात्र के लिए सत्सङ्ग विश्राम स्थान है। इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक वस्तुगत सुख और दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव कराकर महोत्तम पदाधिकारी बना देने वाला है। यहाँ पर एक ब्राह्मण का दृष्टान्त अत्यन्त मनन करने लायक होने से लिखा जाता है -

सत्समागम पर दृष्टान्त -

किसी सुयोग्य ब्राह्मण की अत्युत्तम भक्ति से सन्तुष्ट हो एक महात्मा बोले कि - हे विप्र ! तू क्या चाहता है?

विप्र विद्वान् था, उसने विचारा कि - महात्मा संपूर्ण सुखानुभव कराने में समर्थ होते हैं। इसलिए संसार में कौन सुखी है? इस बात का पहिले अनुभव करके पीछे वैसा ही सुखी होना माँगू तो ठीक होगा। ऐसा विचार कर ब्राह्मण ने कहा कि - महाराज ! यदि आप प्रसन्न हुए हैं तो मुझे कुछ दिनों की अवधि दीजिए, फिर जो चाहना होगी वह माँग लूंगा।

महात्मा ने उत्तर दिया कि - यथेच्छा। ब्राह्मण सुखानुभव करने के लिए वहाँ से निकला और प्रथम राजवंशीय लोगों की सेवा में अपना समय व्यतीत करना आरम्भ किया, इससे कुछ दिन के बाद अनुभव हुआ कि - राजवंशीय लोग एक दूसरे की विभूति को छीनने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, एक दूसरे की ईर्ष्या में निमग्न हो और एक दूसरे को नष्ट करने का इरादा कर रहे हैं, निरन्तर कलह के सबब से क्षणभर भी सुखपूर्वक नहीं बैठ सकते। इस प्रकार की राजवंशियों की दशा देखकर ब्राह्मण पंडितों की सेवा में उपस्थित हुआ, तो थोड़े दिनों में ही उसको अनुभव हुआ कि पंडित लोग एक दूसरे की प्रशंसा सुन सहन नहीं कर सकते, वाद विवाद में पड़कर शास्त्रविरुद्ध भी आचरण करते देरी नहीं करते, प्रतिवादी को किस प्रकार परास्त करना चाहिए? इसी परामर्श (विचार) में निमग्न बने रहते हैं, व्यर्थ बातों के ऊपर वाद विवाद कर बैठते हैं, अपना उत्कर्ष और दूसरों का अपकर्ष करने के लिए नवीन पुस्तकें बनाने में लगे रहते हैं, छात्रों को उपकारित्व भाव से विद्याध्ययन कराने में आनन्दित नहीं रहते और द्रव्य देने वालों को ज्ञानी ध्यानी वा उत्तम वंशोत्पन्न समझकर पढ़ाने में दत्त चित्त रहते हैं। सिवाय अपने पाण्डित्य को संसार में प्रकट करने के और कुछ भी नहीं करते। इत्यादि बातों से पंडितों

की अवस्था देखकर, ब्राह्मण व्यापारी वर्ग का सुखानुभाव करने के इरादे से बाजार में आया और वहाँ व्यापारियों को लेन देन का झगड़ा करते और न्यायाऽन्याय का विचार न कर क्रय विक्रय के मध्य में एक दूसरे की वज्रना करते और मिथ्या बोलने का स्वाभाविक व्यवहार करते हैं, बल्कि भोजन करने का भी जिन्हें समय नहीं मिलता। इस प्रकार लेतान में लगे देख ब्राह्मण घबराया और सोचने लगा कि -यहाँ तो हलाहल दुःख मचा हुआ है। इससे यहाँ पर सुखानुभव करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि जहाँ केवल दुःख ही उपलब्ध है, वहाँ सुख की संभावना करना भी व्यर्थ है।

बाजार से निराश होकर ब्राह्मण एक प्रतिष्ठित साहूकार की हवेली के समीप आया। यहाँ हवेली की तरफ दृष्टि डाली तो मालूम हुआ कि इसमें एक श्रीमंत 'सेठ' गादी तकिया लगाकर आनन्दपूर्वक बैठे हुए हैं और उसके आगे अनेक गुमास्ते काम कर रहे हैं। कई लोग सेठ की हाजरी बजा रहे हैं, अनेक पंडित लोग स्तुति पाठ पढ़ रहे हैं, बन्दीजन नाना प्रकार का कीर्तन कर रहे हैं और हाथी, घोड़ा, गाड़ी, इक्का, बग्घी और हथियारबन्ध सिपाही आदि सजकर हाजर खड़े हुए हैं। इत्यादि धामधूम से संयुक्त सेठ को देखकर ब्राह्मण मन में विचार करने लगा कि बस यह सेठ सम्पूर्ण सुखी दिखाई देता है। इसलिए महात्मा से इसके समान सुख माँग लूं, परन्तु साथ ही भाग्यवश यह विचार उठा कि एक वखत सेठ से मिल कर इसके सुख का निर्णय तो अवश्य कर लेना चाहिए। क्योंकि - अनिर्णीत विषय की याचना, पीछे से अहितकर होती है।

ऐसा हार्दिक विचार कर ब्राह्मण उस हवेली के भीतर जाने लगा कि चौकीदार ने उसे रोका, और कहा कि - 'अरे! कहाँ जाता है?', 'ब्राह्मण ने जवाब दिया कि मैं सेठजी से कुछ पूछने के लिए जाता हूँ', चौकीदार ने कहा 'यहाँ ठहर, मैं सेठ साहब को इत्तला (सूचना) देता हूँ' ब्राह्मण दरवाजे पर खड़ा रहा और चौकीदार ने भीतर जाकर सेठजी से कहा कि - "हज़ूर! एक ब्राह्मण आपसे मिलने आया है, यदि आज्ञा हो तो उसको आने दूँ" सेठ ने जवाब दिया 'अभी अवकाश नहीं है।' चौकीदार ने वापस जाकर ब्राह्मण से वैसा ही कहा, तब वह बाहर की एक चबूतरे पर बैठ गया।

इधर सेठ किसी कार्य के निमित्त गाड़ी में बैठकर बाहर निकला, इस समय ब्राह्मण आशीर्वाद देकर कुछ पूछने का इरादा करता है, इतने में तो सिपाही लोगों ने उसे बन्द कर दिया, सेठ की गाड़ी रवाना हो गई। कार्य होने के बाद सेठ पीछा लौटकर आया कि - फिर वह ब्राह्मण खड़ा होकर पूछने लगा कि सेठ ने इसकी बात को न सुनकर मुनीम से कहा, 'इसको सीधा पेटिया दिलवा दो।' हुक्म पाते ही मुनीम ने ब्राह्मण से पूछा कि तेरे को क्या चाहिए? ब्राह्मण ने जवाब दिया कि मैं तो सेठजी से केवल मिलना ही चाहता हूँ और कुछ नहीं। मुनीम ने सेठ के पास जाकर उसी प्रकार कहा, सेठ ने सोचा कि वह मेरे पास आने पर कुछ अधिक मांगेगा, और मुझे मिलने का अवकाश भी नहीं है। मुनीम को हुक्म दिया कि, 'उसको दो चार रुपया देकर रवाना कर दो।' सेठ की आज्ञा पाकर मुनीम ने ब्राह्मण से वैसा ही कहा, किन्तु उसने तो वही पूर्वोक्त वचन कहा। तब मुनीम बोला - ब्राह्मण! तुम भूखे मर जाओगे तो भी सेठ तो आपसे मिलने वाला नहीं है।

ब्राह्मण सेठजी से मिलने के लिए दो तीन दिन तक भूखा बैठा रहा, सेठजी को खबर हुई कि ब्राह्मण केवल मुझे से मिलने के निमित्त ही भूखा मर रहा है। अन्त में सेठ ने बाहर आकर कहा कि - हे ब्राह्मण! बोलो क्या काम है? मुझे तो भोजन करने का भी अवकाश नहीं है, तथापि तुम्हारे आग्रह से आना पड़ा है। सेठ के वचनों को सुनकर ब्राह्मण तो समझ गया, परन्तु विशेष स्पष्ट करने के लिए कहा कि -

मेरे उपर एक महात्मा प्रसन्न हुए हैं और वे मेरी इच्छा के अनुकूल सुख देने को तैयार हैं किन्तु प्रथम सुखानुभव कर सुख माँगने का मैंने इरादा किया है। इसलिए बतलाइये कि "आप सुखी हैं या दुःखी? अगर आप सुखी हों तो मैं महात्मा से आपके समान सुख माँगलूँ।" सेठ ने कहा कि - अरे महाराज ! मैं महा दुःखी हूँ, मुझे खाने पीने या सुखपूर्वक क्षणभर बैठने तक का समय नहीं है, यदि मेरे समान सुख माँगोगे तो आप महादुःखी हो जाओगे, अतएव भूलकरके भी मेरे समान सुखी होने की याचना मत करना। बस, इस प्रकार सुनते ही तो ब्राह्मण अन्यत्र सुखानुभव करने की आशा से निराश हो विचारने लगा कि -

वस्तुगत्या संसार में महात्माओं के सिवाय दूसरा कोई मनुष्य सुखी नहीं दिख पड़ता। क्योंकि संसार जाल महाभयंकर है, इसमें मग्न होकर, सुखी होने की अभिलाषा रखना सर्वथा भूल है। मनुष्य जबतक धन, स्त्री, पुत्र, क्षेत्र आदि की चिन्ता में निमग्न हो इधर उधर भटकता रहता है, तब तक अनुपम आनन्ददायक और सब दोषों से रहित मोक्ष स्थान का अधिकारी ही नहीं बन सकता।

क्योंकि भोग में रोग का, धन में राज्य का, मौन में दीनता का, बल में शत्रु का, रूप में जरा (वृद्धता) का, शास्त्र में वाद का, गुण में दुर्जन का और काया में काल का भया लगा हुआ है, अर्थात् मनुष्यों को संसार में सर्वत्र भय ही भय है, परन्तु निर्भय तो एक महात्मा का समागम ही है, जो कि सुख और दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाला है। इसीलिये संसार में सब संयोग प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन सत्पुरुषों का समागम मिलना बहुत कठिन है। लिखा भी है कि -

मात मिले सुत भ्रात मिले।
 पुनि तात मिले मनवंचित पाई॥
 राज मिले गज वाजि मिले।
 सब साज मिले युवती सुखदाई॥
 लोक मिले परलोक मिले।
 सब शोक मिले वैकुंठ सिधाई॥
 'सुन्दर' सब सुख आन मिले।

पण 'सन्तसमागम' दुर्लभ भाई ॥१॥

अर्थात् - इस संसार में माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री आदि अपनी मनसा के अनुकूल मिल सकते हैं, दिव्य राज, हाथी, घोड़ा, पायदल आदि सब साज मिल सकते हैं, लोक और परलोक सुधरने संबंधी सब सामग्रियाँ मिल सकती हैं, बहुत क्या कहें सब सुख सहज में प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु मोक्षधाम में पहुँचाने वाला और समग्र उपाधियों को मिटाने वाला एक 'सत्समागम' का ही मिलना दुर्लभ है।

शास्त्रोक्त गुण सम्पन्न महात्मा इस संसार में विरले हैं, उनका समागम होना सहज नहीं है, जिन लोगों ने अखंडित दान, दया, संजम आदि सत्यव्रत पालन किये हैं और परापवाद से अपने आत्मा को बचाकर सहनशीलता आदि सद्गुणों का अभ्यास किया है या करने का उत्साह जिनके हृदय में रहता है, उन्हीं को संत समागम मिलता है।

अशुभ व्यापारों से रहित मन, वचन और काया इन त्रिकरण योग को जिसने स्थिर कर लिया है। ऐसे योगीश्वर गाँव, नगर, अरण्य, दिवस, रात्रि, सोते या जागते सर्वत्र समभाव में रमण करते रहते हैं। कहा भी है कि - 'आत्मदर्शी कुंवसति, केवल आत्मशुद्धि' जो केवल आत्मनिष्ठ हुए हैं, जो निज स्वरूप में ही रमण करते हैं, ऐसे महात्माओं का निवास शुद्ध आत्मप्रदेश ही है, अर्थात् उन्हें आत्मरमणता सिवाय निन्दा, ईर्ष्या, कषाय आदि अशुभ स्थानों में निवास करने की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रकारों ने महात्माओं के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं कि -

सत्पुरुषों के लक्षण -

उदारस्तत्त्ववित्स्त्व-सम्पन्नः सुकृताऽऽशयः ।

सर्वसत्त्वहितः सत्य-शाली विशदसद्गुणः ॥१॥

विश्वोपकारा सम्पूर्ण - चन्द्रनिस्तन्द्रवृत्तभूः ।

विनीतात्मा विवेकी यः, स 'महापुरुषः' स्मृतः ॥२॥

भावार्थ - उदार जिनके हृदय में नीच लोगों की तरह 'यह मेरा यह तेरा' इत्यादि तुच्छ बुद्धि उत्पन्न नहीं हो और सारी दुनिया जिनके कुटुम्ब रूप हो १, तत्त्ववित्स्त्वबुद्धि बल से साराऽसार, सत्याऽसत्य, हिताऽहित,

कृत्याऽकृत्य, यावद् गुण और दोष की परीक्षापूर्वक सत्यमार्ग का आचरण करते हैं २, सत्त्वसम्पन्न स्वपुरुषार्थ का सदुपयोग करते हैं, प्रारंभ किए हुए कार्य को पार करें और आचरित प्रतिज्ञा को अन्तः पर्यन्त निर्वाह करने वाले हैं ३; सुकृताऽऽशय जिनका आशय निरंतर निर्मल रहता हो, किसी समय दुर्ध्यान के वशीभूत न हों ४, सर्वसत्त्वहित प्राणीमात्र का हित करने में दत्तचित्त रहते हों और मन, वचन, काया से नित्य सबका भला ही करना चाहते हों ५, सत्यशालीजो अत्यन्त मधुर हितकारी वचन बोलते हों, प्राणसंदेह होने पर भी सत्य सीमा का उल्लंघन नहीं करते हों और राज्यादि - सांसारिक पदार्थ प्राप्ति के लिए भी असत्य वचन नहीं बोलते हों ६; विशदसद्गुणी उत्तम क्षमा, नम्रता, सरलता, संतोष, तप, संयम, सत्य, प्रामाणिकता, निस्पृहता और ब्रह्मचर्य आदि सदगुण धारण करने वाले हों ७, विश्वोपकारी अनेक उपायों से प्राणियों का उपकार करने में प्रयत्न करते रहते हों और सबके पूज्य होने पर भी निरहंकार रहते हों, किन्तु किसी का उपकार कर प्रत्युपकार (बदला) की इच्छा (दरकार) नहीं रखते हों ८, सम्पूर्ण चन्द्र मंडल की तरह शुद्ध निरतिचार चरित्र धारक हों, समभाव (शान्तरस) में लीन रहते हों और सब किसी को वैर-विरोध कम करने का उपदेश देते हों ९, विनीत आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल, गण, शास्त्र और चैत्य (जिन प्रतिमा) आदि का यथार्थ विनय साँचवते हों १०, विवेकी राजहंस की तरह दोषों को तजकर गुणों का ही ग्रहण करते हों, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार आप्तप्रणीत निर्दोष मार्ग ही आचरण करते हों ११, एतद् गुण विशिष्ट पुरुष ही 'महापुरुष' कहे जाते हैं।

न व्रूते परदूषणं परगुणं वक्तव्यमप्यन्वहं,

सन्तोषं वहते परर्धिषु पराबाधासु धत्ते शुचम्।

स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नयं नौचित्यमुल्लङ्घय

त्युकोऽप्यप्रियमक्षमां न रचयत्ये तच्चरित्रं सताम् । ११।

भावार्थ - किसी मनुष्य के दोष न देखते हों १, दूसरों के अल्प गुणों की भी नित्य प्रशंसा करते हों २, दूसरों की वृद्धि या समृद्धि देखकर संतोष रखते हों ३, दुःखियों को देख कर करुणा (शोक) करते हों ४, आत्म प्रशंसा न करते हों ५, दुःखित होने पर भी नीतिमार्ग न छोड़ते हों ६, सभ्यता रखते हों ७ और अपनी निन्दा सुनकर भी क्रुद्ध न होते हों ८, ये सब महात्माओं के चरित्र हैं। **अर्थात्** - जिन पुरुषों का आचरण दोष रहित हो, जो सच्चरित्रवान तथा विद्या बुद्धि से सम्पन्न हों, जिनका अंतःकरण निर्मल तथा वाणी मधुर मनोहर प्रियंवदा हो और जो जितेन्द्रिय सन्तोषी हो, जिनका जीवन उच्च आदर्शमय हो, वे ही सज्जन पुरुष हैं और यही सज्जन का लक्षण भी है। अतः सत्संगति संसार में मनुष्य के लिए स्वजीवन का उन्नत बनाने का, दिग्दिगन्तव्यापी यशोपार्जन करने का मार्ग और सन्तति को आनन्द प्राप्त करने का पथ है।

सत्समागम से अनुभव मार्ग में प्रवेश होकर अप्रतिम सुख प्राप्त होता है और पर वस्तुओं पर उदासीनता होती है। बाह्यदृष्टि का अभाव, वैराग्यदृष्टि का पोषण और निर्दोष सत्यमार्गाभिमुख गमन होता है। मिथ्यामति का विनाश, शुभमति का प्रकाश और उत्तरोत्तर गुणश्रेणी में प्रवेश होता है।

इस प्रकार वह ब्राह्मण शास्त्रोक्त युक्तियों के द्वारा विचार करता हुआ और सांसारिक क्षणिक सुखों का अनुभव कर जगज्जाल माया में मोहित न होकर, छह महीना तक पर्यटन करने की प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाने से उन्हीं महोत्तम सर्वत्र स्वतंत्र परमोपकारी महात्मा के समीप आया और हाथ जोड़कर विनयावनत भाव से कहने लगा कि -

“अब हम सन्तसमागम पाया, निज पद में जब आया ॥ टेर ॥ एक भूल के कारण मैंने, कितनी भूल बढ़ाया। अन्तर नयन खोल

के देखा, तब निज रूप लखाया ॥ अ. ॥१॥ इतने दिन हम बाहर खोजा, पास हि सन्त बताया। तिन कारन गुरु सन्त हमारे, छूवत नहिं धन माया ॥ अ. ॥२॥ सहस जन्म जो नजर न आवे, छिन में सन्त बताया। संतगुरु हैं जग उपकारी, पल में प्रभु दरसाया ॥ अ. ॥३॥ तीन लोक की सम्पत् सब ही, हिरदय में प्रकटाया। शिवानन्द प्रभु सब जग दीसत, आनन्द रूप बनाया ॥ अ. ॥४॥”

हे महात्मन् ! आपकी अनुपम कृपा से मैंने छ महीने पर्यन्त भ्रमण कर अनेक स्थानों में सांसारिक विनाशी सुखों का अनुभव कर लिया, परन्तु किसी जगह सुख का अंश भी नहीं दिखाई पड़ा।

संसार में जिधर दृष्टि डाली जाय, उधर प्रायः दुःख ही दुःख है, किन्तु सुख नहीं है। मनुष्यादि प्राणी दुःखमय माया जाल में फँस कर अपने कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के शरीर धारण कर जन्म-मरण संबंधी असह्य क्लेशों को सहन करते फिरते हैं। संसार असार है और अज्ञान दशा से लोगों ने उसको सुखरूप मान रखा है, जैसे जल के अन्दर ऊँची-ऊँची लहरें उठतीं और तत्काल ही में विलीन हो जाती हैं। इसी प्रकार भोग विलास भी चंचल अत्यन्त दुःखदायक है। यह युवावस्था भी स्वल्पकालगामी ही स्वप्ननादिक में प्रीति भी चिरस्थायी नहीं है, इन्द्रियों की शक्ति भी प्रबल नहीं रहती और इच्छाओं की पूर्ति भी परिपूर्ण नहीं हो सकती, क्योंकि जो मनुष्य अपनी इच्छाओं को बढ़ाता रहता है, उसको शांति कभी नहीं हो सकती ? जैसे अग्नि पर जितना घी डालोगे, उतनी ही वह अग्नि बढ़ती जाएगी। इसी तरह इच्छाओं को बढ़ाने में जो सदा लगा रहता है, उसका चित्त प्रतिसमय उद्विग्न और इच्छाओं की

पूर्ति न होने से महा दुःखी बना रहता है। इसी भावार्थ का यह श्लोक भी है -

· 'न जातु कामः कामाना - मनुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मैव, भूय एवाभिवर्द्धते' ॥१॥

इससे यह संसार अध्यात्म दृष्टि से केवल दुःखात्मक और नीचगति दायक ही दिख पड़ता है, परन्तु जिन महानुभावों के ऊपर संत-महात्माओं की दया हो गई है, वे महानुभाव संसार में स्थित रहने पर भी महात्माओं के समान स्वजीवन को व्यतीत करते हैं और सदा निर्भय रहते हैं, क्योंकि उन्हें सांसारिक विषयों से उदासीनता बनी रहती है, इससे वे संसार में लिप्त नहीं होते। अतएव हे कृपानिधान ! हे जगदुद्धारक ! हे मुनिशक्रचक्रचूडामणे ! अब मुझे आप अपने अनुसार शुद्धमार्ग अर्पण कर, अनुपम आनन्दाधिकारी बनाइये, क्योंकि - अब मुझे कोई भी आपके सिवाय दूसरा सुखी सुखदायक नहीं देख पड़ता और न कोई आपके सिवाय स्वजन दुःखी वर्ग ही है। अतः परं -

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव ! ॥१॥

भावार्थ - हे देवदेव ! महात्मन् ! मेरे आप ही माता सदृश और आप ही पिता सदृश हैं, आप ही बंधु और आप ही (उत्तम) मित्र सदृश हैं, आप ही विद्या और आप ही बल व धन सदृश हैं, आप ही सर्व - कुटुम्ब के समान हैं।

क्योंकि - सांसारिक कुटुम्ब तो विनाशवान् है, किन्तु एक आपका ही समागम अविनाशी है, अर्थात् आपकी सेवा से ही

अविनाशी अविच्छिन्न (शाश्वत) सम्पत्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं; इसलिये आपकी सेवा में ही रह कर मैं अपना जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ, क्योंकि संसार रूपी दावानल में सन्तप्त जीवों के लिये आपका ही समागम विश्रामस्थान होने से आनन्द कारक है।

इस प्रकार उस ब्राह्मण का चित्त संसार से उद्विग्न और वैराग्यवान् देखकर विधिपूर्वक उन महात्मा ने उसको पारमेश्वरी दीक्षा दे दी, फिर वह ब्राह्मण संत सेवा में रहकर आत्मीय ज्ञान का सम्पादन करने लगा एवं निरतिचार (निर्दोष) धर्मानुष्ठान को परिपालन करता हुआ शाश्वत सुख को प्राप्त हुआ।

सत्संग की महिमा -

“सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ?”

संसरणशील संसार में सज्जनों का संग क्या नहीं करा योग्य है, अर्थात् इहलोक में सानन्द आयु को बिताकर अंत में कैवल्य प्राप्ति कराने का यह एक ही उपाय है। नीतिकारों ने भी इस महिमा का वर्णन किया है कि -

“चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चन्द्रमाः।

चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधुसङ्गतिः ॥१॥

साधु सङ्गतयो लोके, सन्मार्गस्य प्रदीपकाः।

हार्दान्धकारहारिण्यो, भासो ज्ञानविवस्वतः” ॥२॥

भावार्थ - संसार में चन्दन शीतल कहा जाता है और चन्दन से भी विशेष चन्द्रमा शीतल माना गया है, परन्तु चन्दन और चन्द्रमा से भी उत्तम सत्संग ही बतलाया है। इस लोक में साधु समागम ही सन्मार्ग का दीपक और

चिताऽऽकाश में परिपूर्ण अज्ञानान्धकार घटा को दूर कर ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश है।

वाचकवर्ग ! यह सत्संग की ही महिमा है कि नाना वृक्षलताओं से सुशोभित, विविध फल पुष्पों से प्रफुल्लित, रमणीय अरण्य में चन्दन वृक्ष के समीपवर्ती अन्य पादप भी चन्दन वृक्ष की अपूर्व सुगंध से चन्दनवृक्षवत् हो जाते हैं। सत्संगति की ही महिमा है कि - जो मणि सर्प के मस्तक पर रह कर नाना चोटों को खाया करती है, पुनः वही राजा के मुकुट में वास कर सुशोभित हो सत्कार का भाजन बनती है। सत्संगति की ही महिमा का प्रताप है कि जो पुष्प अधम माली के हाथ से लालित पालित हुआ भी भगवान के शरण में जाकर सबका आदरणीय होता है। जो लोहा अधम पुरुषों के हाथ में रहकर कभी अग्नि में जलाया जाता है, कभी मुद्गरों से पीटा जाता है और रात्रि दिवस असंख्य जीवों की हिंसा करने में लगा रहता है, परन्तु उसको कहीं पारस पत्थर के साथ समागम हो जाय, तब वह सुवर्णमय हो कर नृपतिवरो के करकमलों में प्रतिदिन कङ्कण कुंडलादि पदवी पाकर विलास किया करता है। इसी से कहा है कि -

“पारस और सत्संग में बड़ो अन्तरो जान।

वह लोहा कञ्चन करे, वह करे सन्त समान ॥”

सत्संग के विषय में एक कवि ने भी वर्णन किया है कि -

यदि सत्सङ्गनिरतो, भविष्यसि भविष्यसि ।

यदि दुःसङ्गविषये, पतिष्यसि पतिष्यसि ॥१॥

काचः काञ्चनसंसर्गाद्, धत्ते मुक्ताफलद्युतिम् ।

तथा सत्सन्निधानेन, मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥२॥

भावार्थ - यदि सन्त समागम में निरत होंगे, तो इस लोक में सुख प्राप्त कर अन्त में परमपद के अधिकारी बनेंगे, यदि दुर्जन के सहचारी बनेंगे, तो नीचे ही गिर जाओगे। जिस प्रकार काँच काञ्चन के संसर्ग से मुक्ताफल की छवि को धारण करता है, उसी प्रकार सत्संग से मूर्ख भी प्रवीण (बुद्धिमान) हो जाता है।

सत्संगति ही वाणो में सत्यता का प्रादुर्भाव करती है, और यही विद्वज्जनों में मानप्रदायिनी तथा पापप्रणाशिनी, शोकादि को दूर कर चित्त प्रसन्न करने वाली और निखिल दिशाओं में यश कीर्ति फैलाने वाली है। जिस देश में सत्संगति का प्रचार है। उस देश में सदैव सुख-शांति तथा एकता की धारा मंदाकिनी (स्वर्गगंगा) की धारा के समान आनन्द की लहरें लेती हुई बहा करती हैं और उस देश के वासी स्वप्न में भी दुःख के भागी नहीं होते और उस देश की उन्नति को देख देव, गंधर्व, किन्नर आदि आकाश में विराजमान हो कीर्ति का गान किया करते हैं। जिस देश के पुरुष सज्जन पुरुषों के अनुकूल नहीं चलते या जिस देश में सज्जन पुरुषों का आदर नहीं है, अथवा जिस देश में सज्जन पुरुषों का वास नहीं है, उस देश को जड़ता, द्वेष, कलह, अशांति आदि दोष शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं। परस्पर क्रोध बढ़ जाने से भ्राता भ्राता में, पुत्र पिता में, माता पुत्र में, भगिनी भ्राता में, पति पत्नी में लड़ाई उत्पन्न होकर उस देश, उस कुल और उस जाति का बहुत शीघ्र ही नाश हो जाता है।

इसलिये महानुभावो ! यदि अपना, अपने धर्म, देश और जाति का अभ्युदय करना चाहते हो, तो असत्संग से दूर होने का उपाय तथा सज्जन पुरुषों की आज्ञा पालन और उनका आदर करना सीखो। जब तक सत्संग नहीं किया जायगा, तब तक अभ्युदय की अभिलाषा करना मृगतृष्णा के समान है। कहा भी है कि -

“सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः, स चेद्र हातुं न शक्यते।

सं सद्भिः सह कर्तव्यः, सङ्गसङ्गाहिभेषजम् ॥१॥”

भावार्थ - हर तरह से 'सङ्ग' त्याग करना चाहिये, किन्तु यह बहुत कठिन है, इसलिये वह सङ्गः सज्जनों का ही करना चाहिये, क्योंकि सङ्गरूपी सर्प का भेषज (औषधि) सत्सङ्ग ही है।

पाठकगण ! इन सब बातों का परिणाम भी यही है कि मनुष्यों को संसार का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिए सत्संगम करने का अभ्यास करते रहना चाहिये, जो निरन्तर सत्समागम करने में उद्यत रहते हैं, वे उक्त ब्राह्मण की तरह अवश्य अपनी उन्नति कर सकते हैं, क्योंकि - अभ्यास से ही सब गुण साध्य हैं । कहा भी है कि -

अभ्यासेन क्रियाः सर्वाः, अभ्यासात्सकलाः कलाः।

अभ्यासाद्द्यानमौनाऽऽदि, किमभ्यासस्य दुष्करम् ? ॥१॥

भावार्थ - अभ्यास से सब क्रियाएँ, अभ्यास से सब कलाएँ, और अभ्यास से ही ध्यान, मौन आदि होते हैं। संसार में ऐसी क्या बात है, जो अभ्यास से साध्य न हो ? अर्थात् - अभ्यास से सभी बात सिद्ध हो सकती हैं।

अतएव अपनी उन्नति होने के लिए प्रत्येक मनुष्य को सद्गुणों का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये, जिससे भवान्तर में भी सद्गुण की प्राप्ति हो।

परदोष ग्रहण करने से निरर्थक पाप का बंध होता है -

जो परदोसे गिणहृ, संताऽसंते वि दुदुभावेणं ।

सो अप्पाणं बंधइ, पावेण निरत्थएणा वि ॥१०॥

यः परदोषान् गृह्णाति, सतोऽसतोऽपि दुष्टभावेन ।

स आत्मानं बध्नाति, पापेन निरर्थकेनापि ॥९॥

शब्दार्थ - (जो) जो मनुष्य (संताऽसंते वि) विद्यमान और अविद्यमान भी (परदोसे) दूसरों के दोषों को (दुष्टभावेणं) राग-द्वेष आदि कलुषित परिणाम से (गिण्हइ) ग्रहण करता है (सो) वह (निरत्यएणा वि) निरर्थक ही (पावेणं) निन्दारूप पाप से (अप्पाणं) आत्मा को (बंधइ) बाँधता है।

भावार्थ - जो लोग दुष्ट स्वभाव से दूसरे मनुष्यों के सत्यवा असत्य दोषों को ग्रहण करते हैं, वे अपनी आत्मा को बिना प्रयोजन व्यर्थ ही संसार भ्रमण रूप महायन्त्र में डालते हैं, अर्थात् दुर्गति का भाजन बनाते हैं।

विवेचन - निन्दा करना निरर्थक पाप है, अर्थात् - निन्दा करने से आत्मा में अनेक दुर्गुण पैदा होते हैं, जिससे आत्मा दुर्गति का भाजन बनकर दुःखी होता है। जो लोग अपनी चिह्ना को यश में न रखकर दूसरों की निन्दा किया करते हैं, वे संसार में अत्यंत दुःखी होते हैं। लोभ, हास्य, भय और क्रोध आदि अनेक प्रकार से निरर्थक ही पाप लगता है। निन्दा करने में प्रायः असत्यता अधिक हुआ करती है, जिससे भवान्तर में निकाचित कर्म का बंध होता है, जिसका फलोदय रोते हुए भी नहीं छूट सकता। परापवाद से जिह्वा, मन और घर्म अपवित्र होता है, इसी से उसका फल कटु और निन्द्य मिलता है। निन्दा करने से यत् किञ्चित् भी शुभ फल नहीं मिल सकता, प्रत्युत सद्गुण और निर्मल यश का सत्यानाश होता है, क्योंकि निन्दा करना अविश्वास का स्थान, अनेक अनर्थों का कारण और सदाचार का घातक है।

इसी से शास्त्रकारों ने जातिचंडाल, कर्मचंडाल और क्रोधचंडाल के उपरांत निन्दक को भी चौथा चंडाल कहा है, क्योंकि

निन्दा करने वाला पृष्ठ मांसखादक है, वह निरन्तर दूसरों के निन्दारूप मैल (विष्टा) को साफ किया करता है। निन्दा करने वालों को परापवाद बोलने में बहुत आनन्द होता है, परन्तु वह आनन्द उनका भवान्तर में अत्यंत दुःखदायक होता है। संसार में और पापों की अपेक्षा निन्दा करना महापाप है, इसी विषय की पुष्टि के लिए 'श्रीसमयसुन्दरसूरिजी' लिखते हैं कि -

निन्दा म करजो कोइनी पारकी रे,

निन्दाना बोल्यां महापाप रे।

बैर-विरोध बाँधे घणो रे,

निन्दा करतो न गणे माय बाप रे॥ ॥ निन्दा. ॥१॥

दूर बलन्ती कां देखो तुम्हे रे ?,

पगमां बलती देखो सहु कोय रे।

परना मेलमां धोया लूगड़ा रे,

कहौ केम ऊजला होय रे ? ॥ ॥ निन्दा. ॥२॥

आप संभालो सहु को आपणी रे,

निन्दानी मूको पड़ी टेव रे।

शोड़े घणे अवगुणें सहु भरया रे,

केहना नलिया चूवे, केहना नेव रे॥ ॥ निन्दा. ॥३॥

निन्दा कर ते थाये नारकी रे,

तप जप कीधुं सहु जाय रे।

निन्दा करो तो करजो आपणी रे,
 जेम छूटकवारो थाय रे॥ ॥ निन्दा. ॥४॥
 गुण ग्रहजो सहु को तणा रे,
 जेहमां देखो एक विचार रे।
 'कृष्ण' परे सुख पामशो रे,
 'समयसुन्दर' सुखकार रे॥ ॥ निन्दा. ॥५॥

इस पद्य का तात्पर्य यही है कि - दूसरों के दोष देखने की आदत छोड़ ही देना चाहिये, क्योंकि परदोष ग्रहण करने से केवल क्लेशों की वृद्धि ही होती है और तप-जप आदि का फल नष्ट होता है। 'थोड़े घणे अवगुणें सहु भरया, इस लोकोक्ति के अनुसार किसी में एक, तो किसी में अनेक दोष होते ही हैं, अतएव दूसरों के दोष न देखकर अपने ही दोषों का अन्वेषण करना चाहिये, जिससे कि सदगुणों की प्राप्ति हो। जो पुरुष परापवाद आदि दोषों को छोड़कर, सभी के गुणों को ग्रहण करता है, संसार में वहीं सुखी होता है। कहा भी है कि -

यदीच्छसि वशीकर्तुं, जगदेकेन कर्मणा ।

परापवादस्येथ - श्चरन्तीं गां निवारय ॥१॥

भावाथ - जो एक ही कर्म (उपाय) से जगत मात्र को अपने वश में करना चाहते हो, तो परापवाद (परनिन्दा) रूप घास को चरती हुई वाणीरूप गौ को निवारण करो, अर्थात् स्ववश में रक्खो।

वास्तव में जो मनुष्य प्रियवचनों से सबके साथ बात करता है, और स्वप्न में भी किसी की निन्दा नहीं करता। उसके वश में

सब कोई रहता है और जो दूसरों के अवगुणों को ही देखा करता है, उससे सारा संसार पराङ्मुख रहता है। अतएव जिस बात के कहने से दूसरों को अप्रीति होती हो। यदि वह सत्य भी हो, तो उसे न बोलो, क्योंकि वैसा वचन अनेक विपत्तियों का पैदा करने वाला है, इससे दूसरों के विद्यमान व अविद्यमान दोषों को छोड़कर नीचे लिखे सुशिक्षावचनों को धारण करना चाहिये।

१. "सच्चरित्र बनो, धार्मिक बनो, शिष्ट बनो, क्योंकि जब तुम मृत्यु शय्या पर होगे, तो शुभ कार्यों के सिवाय और कोई शांति न दे सकेगा।"

२. "जो वस्तु उत्तम होती है, उसका शीघ्र मिलना भी कठिन होता है। इसलिये उत्तमता की खोज में यदि कठिनता पड़े, तो धबराना नहीं चाहिये।"

३. "मनुष्यों के साथ व्यवहार करने में सदा न्याय और विषयक्षता का विचार रखो और उनके साथ वैसा ही वर्ताव करो, जैसा कि तुम अपने लिये उनसे चाहते हो।"

४. "जो काम तुमको सोंपा गया है, उसको धर्म और सच्चाई से करो। उस मनुष्य के साथ कभी विश्वासघात न करो, जो तुम्हारे ऊपर भरोसा रखता है। चोरी करने की अपेक्षा विश्वासघात करना महापाप है।"

५. "अपनी बड़ाई अपने मुंह से मत करो, नहीं, तो लोग तुमसे घृणा करने लग जाएँगे और न दूसरों को तुच्छ समझो, क्योंकि इसमें बड़ा भय है।"

६. "कठिन उपहास मित्रता के लिए विष है; क्योंकि जो अपनी जिह्वा को नहीं रोक सकता, अंत में वह दुःख पाता है।"

७. “किसी की बिना परीक्षा किय, उस पर विश्वास मत करो, परन्तु बिना कारण किसी को अविश्वासी भी न समझो।”

८. “धार्मिक सत्पुरुषों को अमूल्य रत्न के समान सदा अपने पास रक्खो या उनके पास रहो। सत्संग करना स्वजीवन को उच्चतम बनाना है।”

९. “जो समय बीत गया, वह फिर कभी न आवेगा; और जो दिन आने को है, कौन जाने तुम उसे देख सकोगे या नहीं, इसलिये जो कुछ करना है, उसे वर्तमान काल में करलो, जो बीत गया, उस पर सोच मत करो और जो आने वाला काल है, उस पर भरोसा भी मत रक्खो !”

१०. “कोई काम कल पर न उठा रक्खो, क्योंकि ऐसा करने वालों को कल (स्वास्थ्य) कभी नहीं मिलता।”

११. “आलस्य से दरिद्रता और दुःख उत्पन्न होता है, परन्तु परिश्रमी पुरुष दरिद्रता और दुःख को धक्का मार कर निकाल देता है।”

प्रिय पाठक ! उक्त सुशिक्षा वचनों से आत्मोन्नति बहुत शीघ्र हो सकती है, इससे इन्हों को तुम अपनी आत्मा में धारण करो और सज्जनता से व्यवहार करो, जिससे तुम्हारी आत्मा निरर्थक पापकर्म से बचकर सुखी बने, यदि तुम परापवाद प्रिय बनोगे, तो आत्मोद्धार कभी नहीं हो सकेगा।

वे स्त्री, पुरुष; जो गुणी और चतुर हैं, संसार में अपनी समुन्नति बहुत जल्दी कर पाते हैं और अपनी सोबत में रहने वाले गुणहीन स्त्री, पुरुषों को गुणी बनाकर समुन्नत दशा पर पहुँचा देते

हैं। पुरुषों के बजाय स्त्रियों को सद्गुणी बनना अत्यावश्यकीय है, क्योंकि पुरुषों के सारे जीवन का सुधार-भार स्त्रियों पर ही निर्भर है और प्रायः पुरुषों को बालक अवस्था से ही स्त्रियों के संसर्ग में उछरना (बड़ा होना) पड़ता है। अतएव पुरुषों के हृदय पट पर जितना प्रभाव स्त्रियों का पड़ता है, उतना दूसरे किसी का नहीं पड़ सकता।

एक सद्गुणी स्त्री अनेक दुर्गुणी स्त्री-पुरुषों का सुधार बड़ी आसानी से कर सकती है। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए नीचे का दृष्टान्त जरा ध्यान पूर्वक पढ़िये -

गृहदक्षा-रानी का दृष्टान्त -

किसी नगर में अरिमर्दन नामक राजा था। उसकी रानी का नाम सुविद्या था। वह बड़ी चतुर, पण्डिता, गृहकार्य, प्रबंध और व्यय उठाने में महादक्षा थी। जब उसके पुत्र का जन्म हुआ, तब राजा ने ज्योतिषियों को बुला कर ग्रह आदि का विचार कराया। उन्होंने पुत्र को बड़ा तेजस्वी, प्रतापी, ऐश्वर्यवान् आदि गुण वाला बताया। राजा को यह सुनकर विस्मय (आश्चर्य) हुआ और वह मन ही मन विचारने लगा कि, क्या इस समय संसार में दूसरे किसी का जन्म न हुआ होगा ? बस, इस मानसिक विचार को गुप्त रख कर राजा ने अपने दूतों को आज्ञा दी कि - जो मनुष्य इसी लग्न और मुहूर्त में उत्पन्न हुआ हो, उसको खोज करके ले आवो। वे दूर ढूँढते-ढूँढते किसी एक महादरिद्री कठियारे (लकड़हारे) को पकड़ लाये। राजा ने ज्योतिषियों की सभा करके पूछा कि इस मनुष्य का भी जन्म उसी लग्न में हुआ है, जिसमें कि राजकुमार का। फिर यह ऐसा दरिद्री क्यों है ? उन्होंने भाँति-भाँति के उत्तर दिये, परन्तु राजा को

संतोष नहीं हुआ। इसी सोच-विचार में वह रानी सुविद्या के राजभवन में चला गया। रानी ने यथोचित आदर-सत्कार करके हाव-भाव कटाक्ष से सदैव की भाँति राजा के मन को प्रसन्न करना चाहा। पर राजा को उदासीन और किसी विचार में निमग्न जान, वह कारण पूछने लगी। राजा ने टालाटूल की, पर रानी ने हठ करके पूछ ही लिया और राजा ने सब वृत्तान्त कह सुनाया। रानी ने उत्तर दिया कि यह तो अति सहल बात है। उसके घर में उसकी स्त्री मूर्ख और फूहर होगी, जिस कारण वह निर्धन रहता है। ऐसा उत्तर रानी के मुख से सुनकर राजा को क्रोध आ गया कि इस रानी को अपनी गृहदक्षता का गर्व है कि मेरा राजपाट भी सब इसी के बुद्धिबल से है। ऐसी ठान, रानी को एकदम देश निकाला दे दिया। इसमें कोई संदेह न करे, राजाओं की ऐसी ही दशा होती है। कहा भी है कि -

राजा योगी अग्नि जल, इनकी उलटी रीति।

जो इनके नियरे वसे, थोड़ी पालें प्रीति ॥१॥

रानी ने भी ठान ली कि अब चलकर उसी कठियारे के यहाँ रहूँगी और राजा को अपने वचन का परिचय दिखाऊँगी। ऐसा विचार कर वह उसी कठियारे के घर चल दी। जब वहाँ पहुँची, तो उससे निवेदन कर कहने लगी कि हे पिता ! तू मुझे अपने यहाँ रख ले। तेरी टहल (चाकरी) कर दिया करूँगी। जो कुछ मिस्सा-कुस्सा, रुखा-सुखा होगा, खा लिया करूँगी। यह कहते-कहते उसके संग झट से लकड़ी बिनवाने लग गई। लकड़हारा बोला कि - हम आप एकादशी करते हैं। जिस दिन लकड़ी बिक जाती है, उस दिन आधी परधी रोटी मिल भी जाती है। जिस दिन नहीं बिकती, उस दिन तो घर के मूसे भी एकादशी ही करते हैं।

तब रानी ने गिड़-गिड़ाकर कहा कि - जो कुछ मेरे भाग्य का होगा, वह मुझे भी मिल जायगा। इस पर लकड़हारे को कुछ दया आ गई। मन में विचार कर कह दिया कि अच्छा जैसे हम रहते हैं, वैसे ही तू भी हमारे संग दुःखी सुखी रह। विधाता तेरे भाग्य का भी टुकड़ा देगा। क्या जाने, तेरे भाग्य से हमें ही लेना बंधा हो। यह रानी चतुर तो थी ही, एक बोझ उसी लकड़हारे की बराबर थोड़ी ही देर में बिन लिया। दूसरे दिनों में तो उसको चार पैसे की ही लकड़ियाँ मिलती थी, आज उससे दूनी हो गई। जब वह लकड़ी की भारी उठा कर चला, तो यह भी सिर पर लकड़ी रख कर, साथ ही चल दी। उस लकड़हारे की स्त्री का स्वभाव बहुत ही क्रूर था। रात-दिन घर में कलह किया करती थी और उसका नाम भी कुबुद्धि था। दूर ही से दूसरी स्त्री को संग आते देख कर वह बोली कि आज इतनी देर क्यों लगा दी ? हम तो सब भूखे बैठे हैं, बाल-बच्चे न्यारे प्राण खाये जाते हैं और मन में कुछ और भी संदेह करने लगी। सुविद्या तुरंत ताड़ गई और कहने लगी कि माता ! आज और दिन से लकड़ी भी तो दूनी आई है। इसी कारण देर लग गई और मेरे पिता ने मुझ पर दया करके जीवदान दिया है और तेरी सेवा - टहल करने के लिए मुझ पुत्री को लाया है, उस पर क्रोध मत कर। इस देर होने का कारण मैं ही हूँ। इस प्रकार मीठे-मीठे वचन कहकर उसे शांत किया और उन लाई हुई लकड़ियों के तीन बोझ (भारे) बनाकर बाप-बेटों पर रख दिए कि बेच आओ और दिनों में तो चार पैसे की लकड़ी बिकती थी, आज वे ही दस पैसे की बिकीं, क्योंकि तीन बोझ थे। उस दिन छह पैसे का तो भोजन मँगवाया और चार पैसे को बचा रक्खा। दूसरे दिन इस सुविद्या ने उसके दोनों लकड़ों

को भी पिता के संग बहला-फुसला कर, एक-एक पैसे का लालच दे लकड़ी बीनने और बेचने को भेजा और आप एक पड़ोसिन के यहाँ आटा पीसने की युक्ति लगा लीं। यह लकड़हारा पकी हुई रोटी लाता था, परन्तु उस दिन भी जब एक-एक पैसे देकर चार पैसे बच रहे और घर ही भोजन बनाने से सबका पेट उसी में भर गया, जिसमें और दिन भूखे रहते थे, तब उन बचे हुए पैसों की इसने रुई मँगवाई और उसे अपनी पड़ोसिन के खाली चर्खे से कात-कात कर सूत बेचा। इसी प्रकार महीने में इसके पास एक रुपया बच गया। उसकी उसने लकड़हारे को एक कुल्हाड़ी मोल दिलवा दी और कहा कि बीनने से तो ईंधन थोड़ा और छोटा-छोटा आता है। इस कुल्हाड़ी से काट-काट कर अच्छी मोटी-मोटी लकड़ी लाया करो, जो अधिक दामों की बिके और कुछ पड़ोसिन से उधार लेकर उससे सुई, कतरनी, पेचक और कपड़ा मँगवा लिया। उससे ही आप टोपियाँ बनाने लगीं। उधर दस-बीस घरों से मेल-मिलाप कर लिया। जब कोई वस्तु चाहिये, माँग लावे और काम निकाल कर दे आवे। किसी के लड़के की टोपी सी दे और किसी का कुर्ता। खाँसी और दस्तों की औषध बनाकर रख ली और सब को बाँटने लगीं। इससे तो यह रानी सब की बहुत ही यानी बन गईं।

लकड़ी अब पाँच-छह आने की नित्य बिकने लगीं। दो-दो, तीन-तीन आने की टोपियाँ बिकने लगीं, थोड़े ही दिन में दस पाँच रुपए जुड़ गए। अब इसने रसोइ के बर्तन खरीदे और रहने का मकान भी लीप-छाव कर स्वच्छ किया, जिससे कि बाहर से आने वालों को बैठने का सुभीता हो गया। आप भी टोपियाँ आदि बनाती थीं और पड़ोसिनों की लड़कियों को भी बनाना सिखाती थीं। इसके

बने हुए रुमाल, दुपट्टे, सुन्दर और चिकने होने से अधिक मूल्यों में बिकने लगे। जब कुछ फिर द्रव्य एकत्र हुआ, तो इसने धर्म पिता को दो गदहे मोल ले दिए और कहा कि अब लकड़ी इन पर लाद कर लाया करो और बेचो मत, इकट्ठी करते जाओ, जब वर्षा होगी, तब बेचेंगे, जिससे दाम अधिक मिलेंगे और लिये लिये भी बेचने को मत फिरो। एक टाल कर लो, वहाँ बैठे-बैठे वर्षा में बेचा करना। अब तो ला लाकर केवल जोड़ते ही जाओ।

लकड़हारे ने सोचा, बात तो अच्छी है। जब पेट भर खाना मिलने, लगा तो कुबुद्धि भी प्रसन्न रहने लगी और मन में विचार करने लगी कि एक यह भी स्त्री है, जो ऐसी चतुर है कि जब से हमारे यहाँ आई है, क्या से क्या हो गया और एक मैं हूँ कि नित्य कलह करती हूँ। जिस दिन से यह आई है, उस दिन से हमारे घर में लड़ाई का अब कोई नाम भी नहीं जानता। ऐसे ऐसे विचार करके थोड़े ही दिनों में कुबुद्धि भी बुद्धिमती हो गई। जब लकड़हारे के यहाँ इतना हो गया, तब सुविद्या ने अपना और भी वैभव फैलाया। वह क्या था कि अब स्त्रियों और बालक-बालिकाओं की दवाई करने लगी। रानी तो थी ही, सब जानती ही थी। इससे यह नगर भर में प्रसिद्ध होने लगी और घर-घर से बुलावे आने लगे। एक तो इसकी दवाई बहुत अच्छी थी, दूसरी इसकी बोलचाल, रहन-सहन, शील-स्वभाव, दया, नम्रता आदि ऐसे थे कि मन हर लेती थी। जिसके यहाँ एक बार हो आई, उसके यहाँ से सदा के लिए आह्वान (बुलावे) आने लगे। यहाँ तक कि अनेक घरों से अनेक वस्तुएँ भेंट आने लगीं। अब तो इसका घर सब प्रकार से भरा-पूरा रहने लगा तथा एक बात और कि पड़ोस की लड़कियों को अपने पास ले बैठे

और उन को पढ़ाया करे। उनके संग अपने दोनों भाइयों (लकड़हारे के दो पुत्रों) को भी पढ़ा लिया और थोड़ा-सा लेखा-जोखा अपने पिता (लकड़हारे) को भी सिखा दिया। इसका ऐसा नाम नगर में हुआ कि भले घर की बहू-बेटियों के यहाँ भी यह जाने लगी और कुछ मासिक वेतन भी दो-चार बड़े-बड़े घरों से पाने लगी। सेठ-साहूकारों के घरों में जाने से इसकी प्रतीति और भरोसा बढ़ गया। यदि इसको १०० या ५० रुपये की आवश्यकता हो, तो मिलने लगे।

जब इसका ऐसा हाल हो गया, तब इसने दो-चार साहूकारों से कह सुनकर अपने नाम का माल उनके रूपयों से भरवा और उन्हीं से एक भरोसे का गुमाश्ता नौकर रखवा कर अपने पिता को उसके संग भेजा और कहा कि इसको जाकर दूसरे देशों में बेच लाओ और जो कुछ वस्तु उन देशों में सस्ती हो, इसके पलटे में भरते लाना। यह कह उनको तो वहाँ रवाने किया और भाइयोंसे कहा कि अब तुम सेठ-साहूकार और भले मनुष्यों में बैठते - उठते हो, तो अब इस प्रकार रहना चाहिए कि कोई अपने मन में तुम से घृणा न करे और पास बैठने और बैठाने में सकुचे नहीं, सो यह करना चाहिए कि, प्रथम तो रहने का घर उत्तम प्रकार का बनाना चाहिये, जिसमें किसी ऊँचे कुल की बहू-बेटी आवे, तो अच्छी तरह सभ्यता से बैठे उठे। इसलिये प्रथम किसी साहूकार की हवेली भाड़े पर ले लो, उनसे हमारी रीति भाँति भी अधिक प्रशंस्य हो जावेगी। ऐसा विचार कर एक हवेली भाड़े पर लिवा ली और उसी में सब रहने लगे। दूसरी बात यह कि सदा से अपना धंधा लकड़ी का है। यद्यपि हम उत्तम कुलीन हैं और धंधा अधम है, तथापि उसे नहीं छोड़ना चाहिये,

परन्तु तुमको मैं बताऊँ सो करो कि इस टाल में तो लाभ थोड़ा होता है और लकड़ी बेचने वाले टालवाले ही कहलाते हैं। तुम कुछ मिस्तरी रख लो और बड़े-बड़े, पेड़ - साल, शीशम, आम, नीम आदि को मोल ले लेकर उनकी कुर्सी, मेज, संदूक आदि ऐसी ऐसी कारीगरी की चीजों बनवाओ और रुपया जितना चाहिये, कारखाने के लिए उधार ले लेवें। नदी के तिरवर्ती किसी बड़े वन से काट-काट कर अच्छी लकड़ी मँगवाओ, जिनकी ये वस्तुएँ सुन्दर बनने में आवें। ऐसा विचार एक साहूकार से दो हजार रुपया उधार लिये। इन रुपयों से उन्होंने लकड़ी मोल लेकर वे वस्तुएँ बनवाईं, जो दुगुने-चौगुने दाम की बिकीं। उधर लकड़हारा माल को दुगुने मूल्य पर बेचकर और दूसरी नाना जाति की वस्तु लादकर लाया, जो हाथों हाथ दूने और चौगुने दाम में उसी वक्त बिक गई, जिससे इनको खूब लाभ हुआ। जो रुपया लोगों का उधार लिया था, वह ब्याज समेत चूकता दे दिया और जो बचा, उसको अपने घर में रख लिया।

अब तो थोड़े ही दिन में दस-बीस हजार की पूँजी इनके घर में हो गई। दूसरे से भी उधार लेने की कुछ आवश्यकता न रही, पर सुविद्या ने सोचा कि अभी अपने घर के रुपयों से व्यवहार करना अच्छा नहीं है। एक बार और इसी प्रकार अपने पिता को भेज दूँ और जब अब के लाभ हो। तब उसके पीछे फिर उधार न लेंगे। ऐसा सोच कर एक-दो महीने पीछे फिर अपने पिता और गुमास्ते को पहले की बराबर माल भरवा कर साहूकारों से लदवा दिया।

अब तो सेठ-साहूकारों में इनकी बड़ी साख (इज्जत) हो गई थी। सबने बे कहे सुने माल भर दिया। इधर इसने किसी ब्राह्मण के अच्छे कुल में अपने दोनों भाइयों के विवाह की सट्ट लगाई और

तुरंत दोनों की सगाई करके चट्ट विवाह करा दिया, क्योंकि अब तो बहुत से अपनी-अपनी बेटी देने को चाहते थे। जब इसका पिता लकड़हारा परदेश से उलट कर आया और पहले से भी अधिक लाभ हुआ, तब तो इन्होंने हुण्डी की कोठियाँ खोल दीं, दूसरे नगरों में आढ़त डाली और सेठ बन बैठे और ये सुविद्या के सुप्रबंध से जगत् सेठ की पदवी भी पा गए।

सुविद्या ने देखा कि अब अवसर है कि राजा को अपने धर्म का परिचय दिखाऊँ कि मेरा कहना सत्य था, या असत्य। यह विचार वह अपने धर्मपिता से बोली कि अब आप जगह सेठ कहलाते हो और देश-देश की अलभ्य वस्तुएँ आपके यहाँ आती हैं। कुछ अच्छी-अच्छी वस्तुएँ लेकर राजा को भेंट करना चाहिये। अपना यह धर्म है कि अपने देश के राजा को अपने से प्रसन्न रखें। अब तक तो हम लोग किसी गिनती में न थे, पर अब तो बड़े हो गए, न जाने, किस समय काम पड़े। इस कारण आप अमुक-अमुक कामदार से मिलो, फिर पीछे उनके द्वारा आपका मिलाप राजा से हो जायगा।

यह तो रानी थी, सब रीति भाँति राजद्वार की जानती थी। इसके पिता ने कहा कि, मैं क्या जानूँ इन बातों को। मैं तो लकड़हारा हूँ। नहीं जानता कि राजा से कैसे मिलते हैं ? रानी ने उसको इस प्रकार की सब बातें समझा-बुझाकर उसे राजा के पास भेज दिया। जिस प्रकार कि सुविद्या ने पेश्तर इसको बताया था, यह उसी प्रकार राजा से मिला और घर आकर सब वृत्तांत कहा। थोड़े दिन पीछे सुविद्या ने इसे फिर भेजा। इसी प्रकार दो-चार मर्तवा मिला - भेंटी हुई, जिसमें यह सब बात जान गया और राजा से अधिक मेल-मिलाप हो गया। जब इस प्रकार हो चुका, तब सुविद्या ने कहा कि - पिताजी

! आप राजा का भोजन एक बार अपने यहाँ कराओ। आप कहना कि महाराज ! इस दास के घर को भी किसी दिन पधार कर सुशोभित करिये और अपने चरणकमल से पवित्र कीजियेगा। इस प्रकार जब राजा से निवेदन किया, तो राजा ने स्वीकार कर लिया और एक दिन नियत कर दिया कि फलाने दिन हम आवेंगे। सुविद्या से जब यह आ कर कहा, तो उसने अपनी चतुराई से घर को ऐसा सुसज्जित किया कि जैसे राजा महाराजाओं का होता है और वैसी ही सब सामग्री इकट्ठी भी कर ली। अपनी बुद्धिमानी से राजा की रुचि के वे वे भोजन बनवाये कि जब राजा आया, तब घर की शोभा देखकर और भोजन पाकर अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्य निमग्न हुआ, क्योंकि जब से रानी सुविद्या इसके यहाँ से चली गई थी, राजा के यहाँ भी ये बातें न थीं। राजा प्रसन्न होकर पूछने लगा कि कहो - जगत सेठ ! तुम्हारे सन्तान क्या हैं ? उसने उत्तर दिया कि 'महाराजाधिराज ! आपकी कृपा से दो पुत्र हैं और एक धर्मपुत्री है। वे सब आपके दर्शन की अभिलाषा में बैठे हैं। राजा ने कहा कि उनको बुलाओ ? यह सुनकर दोनों लड़कों ने तो आकर प्रणाम किया और राजा ने जो पूछा, उसका यथोचित् उत्तर दिया, जिससे राजा बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि सुविद्या ने इनको पहले से ही सब सिखा-पढ़ा दिया था कि राजाओं से यों बोलते चालते हैं। जब राजा ने पुत्री के लिए पूछा, तो सेठ ने कहा कि महाराज ! वह उस कोठरी में है। आप वहाँ ही पधार कर उसको दर्शन देकर कृतार्थ कीजिए।

यह सुन राजा ज्यों ही उठ कर वहाँ गया, त्यों ही सुविद्या ने उठकर साष्टाङ्ग नमस्कार पूर्वक राजा का अति आदर और सत्कार किया। राजा को उसकी सूरत देखते ही रानी सुविद्या का स्मरण

हुआ कि यह तो उसकी समान या वही सुविद्या जान पड़ती है, पर जगत सेठ की पुत्री बनती है, वह क्यों कर होगी ? पर हाँ, एक बात अवश्य है कि इसकी अवस्था सुविद्या से अवश्य मिलती है और जगत सेठ की अवस्था तो इसके बेटे के बरोबर ज्ञात होती है। बेटी बाप से छोटी होना चाहिये व माता की-सी सूरत वाली। यह कदापि इसकी पुत्री नहीं है। इसमें अवश्य कुछ न कुछ भेद है। राजा इसी सोच विचार में था कि सुविद्या राजा के चरणों में गिर पड़ी और कहने लगी कि आप संदेह न करिये। मैं जगत सेठ की पुत्री नहीं हूँ। मैं तो आपकी ही दासी हूँ और यह सब अपने वचन का परिचय दिखाने और सत्य करने को किया है। यह वही लंकड़हारा है और मैं वही रानी सुविद्या हूँ। अपराध इस दासी का क्षमा कीजिए और अपनी सेवा में रखिये। इतने दिन मैंने आपके विरह में बड़े-बड़े कष्ट से नीति और धर्म को पाल कर काटे हैं। राजा ने यह सुनकर मन में बहुत लज्जा को स्थान दिया। रानी को घर ले गया और उस जगत सेठ को अपना आधा राज्य देकर बराबरी का बना लिया।

अंत में राजा, रानी और वह जगत सेठ (लंकड़हारा) सकुटुम्ब पारमेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर और उसे निर्दोष पाल कर सदा शाश्वत सुख विलासी बने।

पाठकों ! जिस प्रकार रानी सुविद्या ने अपना और अपने सहवासियों का सुधार किया और उन्हें सद्गुणी उभयलोक में सुखी बना दिये। इसी प्रकार एक सद्गुणी स्त्री, अनेक परिचय में आने वाले व्यक्तियों (स्त्री-पुरुषों) का सुधार बड़ी आसानी (सुगमता) से कर सकती है। यह बात निःसंदेह समझना चाहिये।

स्त्रियों को सद्गुणी बनने के लिये इस प्रकार अपना रहन-सहन बना लेना चाहिये कि सबके साथ मधुरता से बोलना, नित्य प्रसन्न मुख रहना, किसी की निन्दा या मर्मोद्घाटन न करना, घर की इज्जत बढ़ाने में कटिबद्ध रहना, एकांत में पर-पुरुषों से या कुटिल और निन्दाखोर स्त्रियों से बात न करना, सबका हर एक काम धीरप और यतना से करना, सब के साथ प्रेम और मेल-मिलाप से रहना, घर धंधे से बचे हुए टाइम में धर्मग्रन्थों का अभ्यास करना और फिजूल बातों में अपना अमूल्य समय बरबाद न करना, सुशील और सदाचारी बनना।

जिससे कषायाग्नि शांत हो, वह मार्ग धारण करना चाहिए-
तं नियमा मुत्तव्वं, जत्तो उप्पज्जे कसायऽग्गी।

तं वत्थुं धारिज्जां, जेणोवसमो कसायाणं ॥११॥

“तद् नियमेन मोक्तव्यं, यस्मादुत्पद्यते कषायाग्निः।

तु वस्तु धारयेद्, येनोपशमः कषायाणाम् ॥११॥”

शब्दार्थ - (जत्तो) जिस कार्य से (कसाऽग्गी) कषायरूप अग्नि (उप्पज्जे) उत्पन्न होती हो (तं) उस कार्य को (नियमा) निश्चय से (मुत्तव्वं) छोड़ना चाहिए और (जेण) जिस कार्य से (कसायाणं) कषायों का (उवसमो) उपशम हो (तं) उस (वत्थुं) वस्तु को कार्य को (धारिज्जा) धारण करना चाहिए।

भावार्थ - उस कार्य को अवश्य छोड़ देना चाहिए जिससे कि कषायरूप अग्नि प्रदीप्त होती हो और उस कार्य को अवश्य आचरण करना चाहिए जिससे कि कषायों का उपशम हो।

विवेचन - जिसके निमित्त से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चारित्र आदि उत्तम गुणों का विनाश हो जावे तथा चौराशी

लक्ष्य जीव योनि में अनेक असह्य दुःखों का अनुभव करना पड़े उसका नाम कषाय है। कष - अर्थात् क्लेषों का जिससे आय-लाभ हो सो 'कषाय' कहलाता है। जिस प्रकार अग्नि अपने अनुरूप संयोग को पा कर प्रदीप्त हुआ करती है, उसी प्रकार कषाय भी अपने अनुरूप संयोगों को प्राप्त कर प्रज्वलित हो उठते हैं और उत्तम गुणों का घात कर डालते हैं। कषाय चार हैं - क्रोध १, मान २, माया ३ और लोभ ४। इन चार कषायों के विषय में शास्त्रकारों ने बहुत कुछ उपदेश दिया है, परन्तु यहाँ पर उसका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

क्रोध और उसका त्याग -

अनेक अनर्थों का कारण, बोधिवीज का घातक, दुरितों का पक्षपाती, नरक भवन का द्वार, और चारित्र्य धर्म का बाधक क्रोध है। कोटि वर्ष पर्यन्त की हुई तपस्या इसी क्रोध के प्रसंग से नष्ट हो जाती है, अतएव इसको शान्त करने का ही उपाय करते रहना चाहिए, क्योंकि क्रोध प्राणी मात्र में परिताप उपजाने वाला है। कहा है कि

सर्वथा २३ सा -

रीस सुं जहेर उद्वेग बड़े अरू,
रीस सुं शीश फूटे तिन ही को।
रीस सुं मित्र भी दाँत को पीसत,
आवत मानुष नाहिं कहीं को॥
रीस सुं दीसत दुर्गति के दुख,

चीस करन्त तहाँ दिन हिं को।
 यों 'धर्मसिंह' कहे निशदीह
 करे नहिं रीस सोही नर नीको॥१॥

भावार्थ - क्रोध करने से एक दूसरों के ऊपर जहर - कुत्सित (खोटे) घाट मढ़ने के विचार करने पड़ते हैं और अनेक उद्वेग (मानसिक क्लेश) खड़े होते हैं, सैकड़ों लोगों के साथ वैर विरोध और माथा कूट (बकवाद) करना पड़ती है, क्रोधावेश में मनुष्य विश्वासी पर भी अप्रियता पूर्वक दाँत कड़कड़ाता है, और क्रोधी जानकर पाहुना तरीके भी कोई उसके पास नहीं आता, न उसकी कोई यथार्थ सार संभाल कर सकता है। क्रोध के प्रभाव से ही आखिर खोटी गति में पढ़कर नाना प्रकार के बध बन्धनाधि दुःख देखना पड़ते हैं, इसलिए सज्जनों को उचित है कि क्रोध के वशवर्ती न हों। क्योंकि जो महानुभाव क्रोध नहीं करते संसार में वे ही उत्तम, और सन्मार्गानुगामी हैं।

तिच्छन क्रोध से होय विरोधऽरु,
 क्रोध से बोध की शोध न होई।
 क्रोध से पावे अधोगति जाल को,
 क्रोध चँडाल कहे सब कोई॥
 क्रोध से गालि कही वढ़िबेढऽरु,
 क्रोध से सज्जन दुर्जन होई।
 यह 'धर्मसिंह' कहे निशदीह,
 सुनो भैया क्रोध करो मत कोई ॥२॥

भावार्थ - अत्यन्त क्रोध करने से लोगों के साथ वैरभाव बढ़ता है और यशःकीर्ति का सत्यानाश हो जाता है, क्रोध के समागम से सदज्ञान व

सम्पत्त्व दर्शन की शुद्धि नहीं हो सकती, क्रोध के योग से अधोगति - नरक, तिर्यञ्च, आदि नीच गति का जाल प्राप्त होता है, संसार में सभी लोग क्रोध को चंडाल के बराबर कहते हैं, जिसके सम्पर्क से मनुष्य अशुचि हो जाता है, गुस्सेबाज मनुष्य गाली गुप्ता देकर कंकास (कलह) के वशवर्ती होता है, क्रोध रूप अज्ञान के सबब से सज्जन पुरुष भी दुर्जन हो जाता है, इसलिए महानुभावों! क्रोध सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि यह अनेक सन्तापों का स्थान है। कहा भी है कि -

आप तपे पर संतपे, धन नी हानि करेह।

कोह पड़्डे देह घर, तिन्नि विकार धरेह ॥१॥

देह - शरीर रूप घर के अन्तर उठा हुआ क्रोध अपने को क्लेश, और दूसरों को सन्ताप तथा बाह्यअन्तर धन की हानि रूप तीन विकार पैदा करता है। यह बात अनुभव सिद्ध भी है कि - मनुष्य को जब क्रोध उत्पन्न होता है तब वह थर-थर काँपने लग जाता है, और उसके सारे शरीर पर पसीना या ललाई चढ़ जाती है, यहाँ तक कि उस समय में उसके सामने जो अत्यन्त प्रिय मित्र भी कोई आ जाए तो भी वह शत्रुभूत मालूम होता है। इसीसे कहा जाता है कि - 'क्रोधो नाम मनुष्यस्य शरीराद् जायते रिपुः' मनुष्यों के शरीर से ही क्रोध रूप पैदा होता है जिससे धर्म और कुल कलंकित हो जाता है। क्योंकि 'क्रुद्धो हन्याद् गुरुनपि' अर्थात् क्रुद्ध मनुष्य अपने गुरु को भी मारता है। इसलिए रोष में जो बुद्धि पैदा होवे उसका अवश्य त्याग करना श्रेष्ठ है, क्योंकि किपाकफल की तरह क्रोध का परिणाम भी अनिष्टकर है।

शास्त्रकारों ने इस विषय में क्रोधफलसंदर्शक अनेक दृष्टान्त दिए हैं। जैसे 'अच्चंकारीभट्टा^१' ने क्रोध के सबब से नाना दुःखों

का अनुभव कितना किया है? कल्पसूत्र जो प्रत्येक वर्ष पर्युषणा महापर्व में बाँचा जाता है, उसमें भी प्रत्यक्ष एक चण्डकौशिक^१ नाग का दृष्टान्त देख पड़ता है जो कि पूर्वभव में एक क्षुल्लक के ऊपर क्रोध करने से ही मरकर अतिनिकृष्ट तिर्यञ्जयोनिक सर्पजाति में उत्पन्न हुआ। इत्यादि आख्यानो का मनन करने से साफ जाहिर होता है कि क्रोध का फल कितना दुःखप्रद और निन्दनीय है, अतः सज्जन महानुभावों! क्रोध को छोड़ो और क्षमा रूप महागुण को धारण करो, क्योंकि क्षमा से जो कार्य सिद्ध होता है वह क्रोध से नहीं, इसमें कारण यह है कि सम्पूर्ण

कार्य को पार लगाने वाली बुद्धि क्रोध के प्रसंग से नष्ट हो जाती है। इसलिए क्रोध को छोड़कर सर्वाङ्ग सुन्दर क्षमागुण का अवलम्बन करना चाहिए, जिससे कि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति हो।

मान और उसका त्याग -

मानी मनुष्य के अन्दर विद्या, विनय, विवेक, शील, संयम, सन्तोष आदि उत्तम गुणों का नाश होता है।

प्राप्त हुई वस्तुओं से अहंकार करने को 'मद' और बिना सम्पत्ति के ही केवल अहंकार रखने को 'मान' कहते हैं।

मद आठ हैं - १ जातिमद - मातृपक्ष का अहंकार करना, मेरी माता बड़े घराने की है, दूसरों की माता का तो कुछ ठिकाना नहीं है। २ कुल मद - पितृपक्ष का अभिमान रखना, हमारा पितृ पक्ष उत्तम राजवंशी है, दूसरों का कुल तो नीच है। ३ बलमद -

१. देखो अधिधान राजेन्द्र कोष के पहिले भाग का १८१ पृष्ठ; २ और चौथे भाग का वीर शब्द।

अपने को जो सामर्थ्य याने पराक्रम मिला है उसकी प्रशंसा करे और दूसरों को घासफूस के समान समझे। ४ रूपमद - सर्वाङ्ग सुन्दर सुरम्य रूप पाकर मनमें समझे कि मेरे समान संसार में रूपसौभाग्य दूसरे किसी को नहीं मिला है। ५ ज्ञानमद - अनेक प्रकार की विद्याओं को सीख कर, या षट्दर्शनों के सिद्धान्तों का पारगामी होकर मन में विचारे कि - मेरा पराजय कौन कर सकता है, मैंने सब पंडित समूहों का मद उतार दिया है, मेरे सामने सब लोग बेवकूफ (मूर्ख) हैं। ६ लाभमद - मेरे समान भाग्यशाली कोई भी नहीं है, मैं खोटा भी कार्य उठाता हूँ तो उसमें लाभ ही मिलता है। ७ तपमद - संसार में मेरी की हुई तपस्या के समान दूसरा कोई नहीं कर सकता, मैं महातपस्वी हूँ, देखो ! तपस्या की उत्तमता से लोग मुझे खूब बाँदते, और पूजते हैं। ऐसा दूसरों को कोई नहीं मानता इसलिए मैं ही महातपोधन हूँ। ८ ऐश्वर्यमद - ठकुराई व संपत्ति या किसी ओहदे पर आरूढ़ होकर घमंडी बन जाना, और दूसरे किसी की आज्ञा नहीं मानना, गद्दी का गध हा बना रहना, दूसरों की और अपने पूज्य लोगों की प्रशंसा नहीं सहन करना, दूसरों को अपना सेवक समझना, और सब कहीं अपनी ही प्रशंसा की चाहना रखना।

ये आठों मद आठों बातों की प्राप्ति में सहायभूत हैं, यथा - जातिमद से नीच जाति, कुल मद से अधमकुल, बलमद से निर्बलता, रूपमद से कुरूपी अवस्था, ज्ञानमद से अत्यन्त अज्ञानता (मूर्खता); लाभमद से दरिद्रता, तपमद से अविरति दशा, ऐश्वर्यमद से निर्धनता और सब का सेवकपना प्राप्त होता है, अतएव सज्जनों को किसी बात का मद नहीं करना चाहिए। संसार में ऐसी कोई बात नहीं है, जिसका मद किया जाए। लोगों की भारी भूल है कि थोड़ी सी

योग्यता पाकर अहंकार के वशीभूत हो जाते हैं। परन्तु यह नहीं सोचते कि -

सर्वथा ३१ सा -

केई केइ बेर भये भूपर प्रचण्ड - भूप,
 बड़े-बड़े भूपन के देश छीन लीने हैं।
 केई केई बेर भये सुरभोनवासी देव,
 केई केइ बेर निवास नरक कीने हैं॥
 केई केइ बेर भये कीट मलमूत माहीं,
 ऐसी गति नीच बीच सुख मान भीने हैं।
 कौड़ी के अनंत भाग आपन विकाय चुके,
 गर्व कहा करे मूढ! देख दृग दीने हैं ॥१॥

भावार्थ - अनन्त दुःखदावानलसन्तप्त इस संसार में कई बार ये सकर्मी प्राणीगण प्रभावशाली राजा हो चुके हैं और अनेक समय राजाओं के देश छीनकर चक्रवर्ती राजा बन चुके हैं तथा कई बार चारों निकाय के उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ देवों में उपज चुके हैं, एवं कई बार नरक गति में पैदा होकर असह्य दुःख सहन कर चुके हैं। इसी प्रकार कई बार मलमूत्र कर्दम आदि के मध्य में कीट योनि में उत्पन्न हो चुके हैं, कई बार अति निन्दनीय गतियों में निवास कर नाना दुःखों का अनुभव होने पर भी सुख मानकर रह चुके हैं, और कई बार चौरासी लक्ष जीवयोनीरूप चौवटा के बीच में कौड़ी के अनन्त वें भाग में बिक चुके हैं। इसलिए हे महानुभावों! जरा दृष्टि देकर विचारो कि अब मद किस पर किया जावे, क्योंकि हरएक प्राणी की पूर्वावस्था तो इस प्रकार की हो चुकी है तो ऐसी दशा में गर्व करना नितान्त अयुक्त है और तीनों काल में इससे फायदा न हुआ और न ही होगा। देखो संसार में

किसी का मान नहीं रहा, राजा रावण ने अभिमान से 'रामचन्द्र' जैसे न्यायनिष्ठ महात्मा के साथ वैर विरोध बढ़ाकर लंका का जयशाली राज्य खो दिया और आखिर मरकर नरक कुण्ड में पड़ा तथा दुःखी हुआ, महात्मा 'बाहुबली' मुनि मुद्रा धारण कर एक वर्ष पर्यन्त कार्योंत्सर्ग ध्यान में खड़े रहे, परन्तु अभिमान के सबब से उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु जब भगवान श्री ऋषभदेवस्वामीजी की भेजी हुई 'ब्राह्मी' और 'सुन्दरी' ने आकर कहा कि 'हे बंदव ! गज ऊपर से नीचे उतरो, गजारूढ़ पुरुषों को केवल ज्ञान नहीं होता' इस प्रकार उत्तमोत्तम प्रभावशाली सुभाषित वचनों को सुनकर शान्तिपूर्वक विचार करने से 'बाहुबली' ने अपने गंभीर भूल को स्वीकार कर लिया और विचार किया कि वास्तव में ये महासतियाँ ठीक कहती हैं। मैं मानरूपी हाथी के ऊपर चढ़ा हुआ हूँ, इसी से अब तक मुझे केवल ज्ञान नहीं हुआ तो अब मुझको उचित है कि इस मानगज से उतर कर अलग हो जाना। ऐसा विचार के मिथ्याअभिमान का त्याग किया, फिर क्या था तात्कालिक कैवल्य ज्ञान उत्पन्न हो गया।

पाठक! जो अभिमान दशा को छोड़कर विनय गुण का सेवन करता है वह चाहे चक्रवर्ती हो या भिखारी, सब साधुभाव में एक समान है। इस विषय में यदि चक्रवर्ती यह सोचे कि मैं तो पहले भी महा बुद्धिमान था, और अब भी सब का पुजनीय हूँ तो यह अभिमान करना व्यर्थ है। क्योंकि यह आत्मा संसार में सभी पदवियों का अनुभव अनेक बार कर चुका है। इसलिए संसार में धिक्कार के लायक एक भी प्राणी नहीं है, जो लोग अहङ्कार में निमग्न रहते हैं वे अपने पूर्वभवों का मनन नहीं करते, नहीं तो उन्हें अभिमान करने की आवश्यकता ही न पड़े।

शास्त्रकारों ने मान की महीधर के साथ तुलना की है: पर्वत में जिस प्रकार ऊँचे ऊँचे शिखर होते हैं वे आड़े आ जाने से दुर्लभ्य

हो जाते हैं, उसी प्रकार मान महीधर के भी अष्टमद रूप आठ ऊँचे ऊँचे शिखर हैं वे मनुष्यों के निज गुणों का विकास नहीं होने देते, और सद्गुण की प्राप्ति में अन्तरायभूत होते हैं। जिस प्रकार हाथी मदीन्मत होकर आलानस्तम्भ को और सघन साँकल को छिन्न-भिन्न करते देर नहीं करता, उसी प्रकार अभिमानी मनुष्य भी शमतारूप आलानस्तम्भ को और निर्मल बुद्धि रूप साँकल को तोड़ते देर नहीं करता। मानी पुरुषों के हृदय में सुबुद्धि पैदा नहीं होती, क्योंकि अभिमान के प्रभाव से ज्ञानचक्षु आच्छादित रहते हैं, इससे उच्चदशा का सर्वथा विनाश हो जाता है। जो महानुभाव अहंकार के कारण सारी दुनिया में नहीं समाते वे भी बेंतभर (अल्पतर) कमरे में समाते देर नहीं करते। अतएव जो सत्पुरुष मान को छोड़कर विनय गुण का अवलम्बन करेंगे वे अनेक सद्गुणों और अनुपम लीला के भाजन बनेंगे।

माया और उसका त्याग -

माया एक ऐसा निन्दनीय दुर्गुण है जो बनी बनाई बात पर पानी फेर देता है, और लोगों में अविश्वासी बनाकर लज्जास्पद बना देता है। वस्त्र त्यागकर जन्म पर्यन्त नग्न रहो, केशलुञ्चन करते रहो, जटाधारी बन जाओ, भूमि पर या लोहे के कीलों पर शयन नित्य करते रहो, अनेक प्रकार के व्रत प्रत्याख्यान करके शरीर का शोषण कर डालो, सकल शास्त्रों में पारगामी हो जाओ, ध्यान में स्थित रहकर वर्षों तक बैठे रहो, मौनमुद्रा धारण कर लो, परन्तु जब तक हृदयभवन से कपटरूप दावानल नष्ट नहीं हुआ तब तक पूर्वोक्त एक भी क्रिया फलदायक नहीं हो सकती। क्योंकि आचार्य हो या

उपाध्याय, योगी हो या संन्यासी, साधु हो या गृहस्थ, क्रियापात्र हो या शिथिलाचारी, पंडित हो या मूर्ख, माया जाल तो सब के लिए दुःखदायक और मुक्तिमार्ग निरोधक ही है।

जिनेश्वरों ने यद्यपि एकान्तविधि और एकान्तनिषेध किसी बात का नहीं निरूपण किया और शरीर शक्ति प्रमाणे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टयी के अनुसार प्रवृत्ति करने की आज्ञा दी है। और पर्षद् में बैठ कर उपदेश दिया है कि - "माया को छोड़ो! जहाँ तक निष्कपट भाव नहीं रखोगे तहाँ तक भला नहीं हो सकेगा। मल्लिजिनेन्द्र ने अपने पूर्वभव में कपट से तप किया जिससे उन्हें स्त्रीगोत्र बाँधना पड़ा, अतः कपट करना बहुत बुरा है" माया नरक कुंड में जाने के लिए सीढ़ी के समान है, स्वर्ग और अपवर्ग के सुखों को जलाने के लिए दावानल है, ज्ञानेन्दु को ढाँकने में राहु के समान है और सुकृतवल्ली को काटने के लिए कुठार (कुहाड़ी) है।

कुडिलगई कूरमई, सयाचरणवज्जिओ मलियो।

मायावी नरो भुयगव्व, दिट्टुमत्तो वि भयजणओ॥

भावार्थ - मायावी पुरुष वक्रगतिवाला, क्रूर (दृष्ट) बुद्धिवाला, सदाचरण से वर्जित अर्थात् उत्तम-आचार से रहित, मलिन हृदयवाला और सर्प की तरह देखने मात्र से भय उत्पन्न करने वाला होता है।

मायावी लोग ऊपर से प्रसन्नवदन और मधुर वचन बोलने वाले होते हैं, किन्तु उनके हृदय में प्रतिक्षण माया रूप कतरनी चला करती है। भादों में चीभड़ें और जुआर के छोड़ देखने में अत्यन्त सुन्दर मालूम होते हैं परन्तु जब पशुओं (ढोरो) के खाने में आ जाते हैं तो उनके शरीर में 'मीणा' रोग पैदा कर मरण के शरण बना डालते हैं। उसी प्रकार मायावी पुरुष भी अपना ऊपरी व्यवहार अच्छा

बताकर लोगों को फंदे में डाल देते हैं दंभी लोग गुणी जनों का किसी समय कुछ छिद्र पाकर उसको विस्तार कर उनका अपवाद उड़ाने में चतुर हुआ करते हैं, और मायावी सत्य के तो शत्रु ही होते हैं। जैसे भोजन के साथ खाई गई मक्खी खुद प्राणभ्रष्ट होकर खाने वाले को भी वान्त (वमन) कराए बिना नहीं रहती, इसी तरह मायावी खुद धर्मभ्रष्ट होकर दूसरों को भी धर्म से वेमुख बना डालते हैं। अतः गुणसम्पत्ति की चाहना रखने वाले महानुभावों को माया (कपट) और मायावी लोगों का समागम सर्वथा त्याग करना चाहिए।

यदि कहा जाय कि - शास्त्रकारों ने कारणवशात् मायास्थान सेवने की आज्ञा क्यों दी है, क्या किसी कारणवश माया करने में दोष नहीं है?

इसका उत्तर यह है कि धार्मिक निन्दा मिटाने के लिए शास्त्राज्ञा से यथाविधि जो माया स्थान को सेवन किया जाता है वह मायास्थान ही नहीं है। क्योंकि उसने अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं है, किन्तु जैन शासन की रक्षा है, इससे वह अमायावी भाव है। आत्मप्रबोध ग्रन्थ के तीसरे प्रकाश में लिखा है कि -

यः शासनोद्डाहनिवारणाऽऽदि-सद्धर्मकार्याय समुद्यतः सन्।

तनोति मायां निरवद्यचेताः, प्रोक्तः स चाऽऽराधक एव सुज्ञैः ॥१॥

भावार्थ - जो शासन की निन्दा निवारण आदि सद्धर्म कार्य के वास्ते उद्यत हुआ पुरुष निरवद्य (निर्मल) परिणाम के मायास्थान का सेवन करता है, वह महर्षियों के द्वारा आराधक ही कहा गया है।

इसलिए धर्म की अपभ्रजना (निन्दा) मिटाने के लिए जो 'माया' है, वह माया नहीं समझना चाहिए, क्योंकि जहाँ जिनेन्द्र की आज्ञा है वहाँ किञ्चिन्मात्र भी दोष संभवित नहीं होता। जो जिनाज्ञा

में दोष समझते हैं वे दिग्मूढ़ और भवाभिनन्दी हैं, उनका भला नहीं हुआ और न होगा। इससे कारण की बातों को धूममार्ग में कभी नहीं लेना चाहिए, उत्सर्ग से तो सकल शास्त्रों ने मायास्थान सेवन करने का निषेध ही किया है। इससे जो सगुणी बनना हो, और आत्म निस्तार करना हो तो माया का सर्वथा त्याग करो, क्योंकि हर एक गुण की प्राप्ति निष्कपटभाव के बिना नहीं हो सकती।

लोभ और उसका त्याग -

अज्ञान रूप विषवृक्ष का मूल, सुकृतरूप समुद्र को शोषण करने में अगस्त्य ऋषि के समान, क्रोधानल को प्रदीप्त करने में अरुणिकाष्ठ के समान, प्रतापरूप सूर्य को ढाँकने में मेघसमान, क्लेशों का भवन, विवेकरूप चन्द्रमा का ग्रास करने में राहु के समान, आपत्तिरूप नदियों का समुद्र, कीर्तिरूप लता का विनाश करने में उन्मत्त हस्ति के समान लोभ है। क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मित्रता का, और लोभ से प्रीति, विनय, मित्रता आदि सब सगुणों का नाश होता है। सब दर्शनकारों का यही मन्तव्य है कि लोभ से लाभ कुछ नहीं है प्रत्युत हानि तो अवश्य ही होती है। लोभ का यह स्वभाव ही है कि ज्यों-ज्यों अधिक लाभ हुआ करता है त्यों त्यों उसका वेग अधिकाधिक बढ़ा करता है, और उस लोभ के नशे में आपत्तियाँ भी संपत्तिरूप जान पड़ती हैं। लोभी मनुष्य की इच्छा अपरिमित होती है जिसका अन्त ब्रह्मा भी नहीं पा सकता। सब समुद्रों में स्वयंभुरमण असंख्येय योजन प्रमाण का गिना जाता है, उसका पार मनुष्य किसी काल में नहीं पा सकता, परन्तु किसी देव की सहाय मिल जाए तो उसका भी पार करना कोई बारी बात नहीं है, लेकिन हजारों देवेन्द्रों का सहाय प्राप्त होने पर

भी लोभाम्बुधि का तो पार नहीं आ सकता। सर्वज्ञ भगवन्तो ने सूत्रों के द्वारा निरूपण किया है कि -

सुवण्णरूपस्स य पवव्या भवे, सिया हु केलाससमा असंख्या।

नरस्स लुद्धस्स त तेहिं किंचि; इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥

भावार्थ - एक लक्ष भोजन प्रमाण सुमेरू पर्वत के बराबर स्वर्णमय और रूप्यमय असंख्यात पर्वत भी प्राप्त हो जाए तो भी लोभी को उससे लवलेश भी तृप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है। जैसे आकाश अन्त रहित है, वैसे इच्छा भी अन्त रहित है।

जैसे किसी मनुष्य को 'सन्निपात' हो जाता है तब वह अपने स्वभाव को भूलकर अनेक चेष्टा करने लगता है। उसी तरह लोभी मनुष्य भी नाना चेष्टाओं के चक्र में घूमने लग जाता है, और हिंसा, चोरी, झूठ, विश्वासघात आदि कुकर्मों से लोभ का खड्डा पूरा करने में उद्यत बना रहता है, परन्तु तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती। एक कवीश्वर ने लिखा है कि -

जो दश लीस पचास भये, शत होत हजारन चाह चगेगी।

लाख करोड अर्व्व खर्व भये, पृथ्वीपति होनकी चाह थगेगी॥

स्वर्ग पाताल को राज कियो, तृष्णा अति से अति लाय लगेगी।

'सुन्दर' एक सन्तोष बिना, शठ! तेरि तो भूख कदी न भगेगी ॥१॥

तीनोंहिं लोक में अहार कियो, अरु सर्व समुद्र पीयो है पानीं।

और ज^१ठे तठ ताकत बोलत, काढ़त आँख डराबत प्रानी।

दाँत देखावत जीभ हलावत, ताहिते मैं तोय डाकन जानी।

खात भये कितनेई दिन, हे तृसना! अ^२जहू न अ^३घानी ॥३॥

लोभाम्बुधि में अनेक राजा, महाराज, सेठ, साहूकार, देव दानव, इन्द्र आदि हाय हाय करते तना चुके हैं किन्तु तो भी तृष्णा डाकिनी को सन्तोष नहीं हुआ। स्वर्णमृग के लोभ से रामचन्द्रजी अनेक दुःखों के पात्र बने थे - इसी पर एक कवि ने कहा है -

“असम्भवं हैममृगस्य जन्म, तथापि रामो लुलुभे मृगाय।

प्रायः समापन्नविपत्तिकाले, धियोऽपि पुंसां मलिनी भवन्ति ॥१॥”

भावार्थ - सुवर्ण का मृग होना असंभव है, यह जानते हुए भी रामचन्द्रजी मायामय मृग के लिए लोभी हुए। प्रायः करके जब विपत्ति आने वाली होती है तब लोभवश मनुष्यों की बुद्धि भी मलिन हो जाती है।

स्त्रियों के लोभ से रावण और धवल सेठ, धन के लोभ से मम्मण और सागर सेठ, सातवें खण्ड के लोभ से 'ब्रह्मदत्त' चक्रवर्ती आदि अनेक महानुभाव संसार में नाना कदर्थनाएँ देख कर नरक कुण्ड के अतिथि बने हैं। अतः लोभ करना बहुत ही खराब है और अनेक दुर्गणों का स्थान तथा संपत्तियों का नाशक है। जब तक सन्तोष महागुण का अवलम्बन नहीं लिया जावे तब तक लोभदावानल शान्त नहीं होता। संसार में प्राणीमात्र को खाते, पीते, भोग करते और धन इकट्ठा करते अनन्त समय बीत गया है परन्तु उससे हाल तक किञ्चिन्मात्र तृप्ति नहीं हुई और न सन्तोष लाये बिना तृप्ति हो सकेगी। क्योंकि सन्तोष एक ऐसा सद्गुण है, जिसके आगे तृष्णा का वेग बढ़ ही नहीं सकता, कहा भी है कि -

गोधन गजधन वाजिधन, अरु रत्न की खान।

जब आवत संतोष धन, सब धन धूलि समान॥

भावार्थ - जगत में गौ, हाथी, घोड़ा आदि अनेक प्रकार का धन विद्यमान है और रत्नों की खानियाँ भी विद्यमान है, परन्तु वह सब धन चिन्ताजाल से आच्छादित होने से तृप्ति का कारण नहीं है, किन्तु लाभ के अनुसार उत्तरोत्तर तृष्णा का वर्द्धक है। इसलिए जब हृदय में सन्तोष महाधन संग्रहीत होता है तब बाह्य सब धन धूल के समान जान पड़ता है।

अतएव लोभदशा को समस्त उपाधियों का कारण समझकर छोड़ना ही अत्युत्तम और अनेक सगुणों का हेतु है। कारण यह है कि तृष्णा का उदर तो दुष्पूर है उसका पूरना बहुत ही कठिन है। उत्तराध्ययन सूत्र के ८ वें अध्ययन में लिखा है कि -

कसिणंपि जो इमंलोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।

तेणा वि से न संतूसे इइ दुष्पूरए इमे आया ॥१६॥

भावार्थ - 'कपिलमुनि' विचार करते हैं कि यदि किसी पुरुष को समस्त मनुष्यलोक और इन्द्रलोक का भी सम्पूर्ण राज्य दिया जाय, तो भी उतने से वह सन्तोष को नहीं पाता, इससे तृष्णा दुष्पूर्य है अर्थात् इसकी पूर्ति के लिए संतोष के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं।

इससे सन्तोष गुण का ही हर एक प्राणी को अवलम्बन करना चाहिए, क्योंकि सन्तोष के आगे इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र और चक्रवर्ती की समृद्धियाँ भी तुच्छ है, सन्तोष में जो सुख का अनुभव होता है वह इन्द्रों को भी प्राप्त नहीं होता, संतोषी पुरुष मान घूजा कीर्ति आदि की इच्छा नहीं रखता, और सर्वत्र निस्पृहभाव से धर्मानुष्ठान करता है। जो लोग सन्तोष नहीं रखते, और हमेशा लोभ के पंजे में फंसे रहते हैं, वे 'निष्पुण्यक' की तरह महादुःखी होकर और पश्चात्ताप करते हुए सबके दास बनते हैं।

'निष्पुण्यक' ने धन की आशा से देवरमण यक्षराज के मन्दिर में बैठकर जब मरना चाहा तब यक्षराज ने प्रत्यक्ष होकर कहा कि - अरे! तेरे भाग्य में धन नहीं है, व्यर्थ ही यहाँ पर क्यों प्राणमुक्त होता है? निष्पुण्यक ने जवाब दिया कि यदि भाग्य में ही धन मिलना होता तो आपके पास मुझे आने की क्या आवश्यकता थी? अतः मुझे धन दीजिए, नहीं तो आप ही के ऊपर प्राण त्याग कर दूँगा। यक्ष ने खिन्न होकर अन्त में कहा कि - अरे मूर्ख! यहाँ पर निरन्तर प्रातः समय स्वर्णमय मयूर आकर नृत्य करेगा, और एक एक स्वर्णमय पीछ (पक्ष) नित्य डालेगा उसको तू ले लेना। ऐसा कहकर यक्ष तो अदृश्य हो गया। तदनन्तर निष्पुण्यक, यक्ष के कथनानुसार नित्य एक एक पाँख लेने लगा। ऐसे बहुत दिन व्यतीत होने पर लोभ का पूर बढ़ने से दुर्भाग्यवश निष्पुण्यक सोचने लगा कि यहाँ कहाँ तक बैठा रहूँ, कल मयूर आवे तो पकड़ लूँ जिससे मेरा दरिद्र दूर हो जावे। ऐसा मानसिक विचार करके जब प्रातःकाल मयूर नाचने को आया कि झट उसको पकड़ने के लिए दौड़ा, इतने में वह मयूर काकरूप होकर निष्पुण्यक के मस्तक पर चञ्चुप्रहार देकर उड़ गया, और जो पाँखे इकट्टी की थीं वे सब कौआ की पाँखे हो गईं, जिससे वह निष्पुण्यक अत्यन्त दुःखी हो पश्चात्ताप का पात्र बना और लोगों की सेवा चाकरी कर अपना निर्वाह चलाने लगा, तथा संसार का भाजन बना।

इस कथा का तात्पर्य यह है कि बुद्धिमानों को सन्तोषरूप महागुण को धारण करना चाहिए, और लोभदशा को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि सन्तोष और शान्त गुण के प्रभाव से ही मौनीन्द्र और योगिराज जंगलवास कर, मन वचन और काया की चपलता

का निरोध, तथा सांसारिक वासनाओं का प्रपञ्च छोड़कर अनन्त सुखानुभव करते हैं।

सन्तोष के बल से ही सारा संसार वशीभूत होता है। शरीरारोग्यता का असाधारण औषध, दरिद्रता का वैरी, मोहराज के सैन्य को चूर्ण करने वाला, कामरूपी हस्ती का प्रहारकारक और द्वेषरूपी उन्मत्त हाथी को भक्षण करने वाला सिंह के समान एक सन्तोष ही है। अतएव जिसको सन्तोष प्राप्त हुआ है उसको तीन लोक का साम्राज्य हस्तगत समझना चाहिए, जो बात असन्तोषी को सैकड़ों उपाय से सिद्ध नहीं होती, वह सन्तोषी को बिना परिश्रम ही सिद्ध हो जाती है।

इसलिए तीन प्रकार की १ एषणाओं की कनिष्ठ जाल से लपेटी हुई लोभदशा को घोर संसारवर्द्धिका और अनेक कष्टदायिका समझकर सर्वथा त्याग देना ही चाहिए, और सन्तोष गुण का आश्रय लेकर अनेक सद्गुण और अनन्त सुख होने का सन्मार्ग पकड़ना चाहिए।

कषायों का त्याग अवश्य करना चाहिए -

कषायों के प्रभाव से ही यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करता चला आया है और नानागतियों में दुःख सहता रहता है। संसार में जो बध बन्धन आदि दुःख देखे जाते हैं, वे सब

“लोके में वितताऽस्तु कीर्तिरमला लोकैषणेत्युच्यते;

सच्छिष्यात्मजसंस्पृहा निगदिता पुत्रैषणा कोविदैः ।

वित्तं में विपुलं भवेदिति हि तु ख्याताऽस्ति वित्तैषणा,

ता एता अपहाय मुक्तिपथिकः सन्नयासमालम्बते” ॥१॥

भावार्थ - संसार में मेरी कीर्ति फैले, अर्थात् सब जगह मेरी प्रतिष्ठा बढ़े, सब लोग मेरी निरन्तर स्तुति करते रहें और सब कार्यों में मेरी सफलता होवे इत्यादि आशा करने का नाम 'लौकेषणा' है। अच्छे अच्छे गुणवान कुलवान, रूपलावण्यादिसम्पन्न पुत्र पुत्री व शिष्य हों इत्यादि विचारने का नाम 'पुत्रैषणा' है २. और नाना प्रकार की संपत्तियाँ मुझे प्राप्त हों, और मैं धन से सब जगह प्रसिद्ध होऊँ, इत्यादि बांछा रखने का नाम 'वित्तैषणा' है। इन तीन एषणाओं को छोड़ कर मुमुक्षु लोग संन्यास अर्थात् योगाभ्यास का अवलम्बन लेते हैं।

कषायों के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। देखिए कषायों के आवेश में ही मनुष्यादि प्राणी युद्ध करते हैं और सम, विषम और भयङ्कर स्थानों में गमन करते हैं, तथा अनेक सम्बन्ध जोड़ते हैं, एवं राज्यादि समृद्धि का संग्रह करते हैं और परस्पर एक दूसरे के साथ मात्सर्यभाव रखते हैं, इसी प्रकार गुणीजनों की निन्दा, धर्म की अवहेलना और असत्यमार्ग का आचरण करते हैं, तथा परस्पर बैर विरोध बढ़ाते हुए परस्पर एक दूसरे को बिना कारण कलङ्कित करते हैं, इत्यादि अनेक दुर्गुण कषायों के संयोग से आचरण करना पड़ते हैं, जिससे किया हुआ धर्मानुष्ठान भी निष्फल हो जाता है, और तज्जन्य फलों का अनुभव भी विवश होकर भोगना पड़ता है। इसी कारण से कषायसम्पन्न मनुष्यों की पालन की हुई संयम क्रिया भी सफल नहीं होती, किन्तु प्रत्युत उसका फल नष्ट हो जाता है। लिखा है कि -

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए अ पुव्वकोडीए।

तं पि कसायपमत्तो, हारेइ नरो मुहत्तेणं ॥१॥

भावार्थ - देशों पूर्वक्रोड वर्ष पर्यन्त पालन किए हुए चारित्रगुण को मनुष्य कषायों से प्रमत्त होकर अन्तर्मुहूर्त मात्र में हार जाता है।

शास्त्रकारों ने कषायों के भेद इस प्रकार दिखायें हैं कि -

१. अनन्तानुबन्धी - क्रोध, मान, माया और लोभ। 'अनन्तानुबन्धी' उसको कहते हैं जिसको उदय से सम्यक्त्वादि सद्धर्म की प्राप्ति न होवे और जो कदाचित् प्रथम सम्यक्त्व आया हो तो भी वह नष्ट हो जावे। अनन्तानुबन्धी क्रोध-पर्वत की रेखा समान, मान-पत्थर के स्तंभ समान, माया-कठोर बाँस की जड़ समान, और लोभ कृमि के रंग समान है। यह कषाय उत्कृष्ट से जावज्जीव तक रहता है, इसके उदय से देव, गुरु, धर्म के उपर यथार्थ श्रद्धा नहीं होने पाती और इस के उदय से बारंबार चार गति के दुःख प्राप्त होते हैं।

२. अप्रत्याख्यानी - क्रोध, मान, माया और लोभ। 'अप्रत्याख्यानी' उसको कहते हैं जिसमें विरति रूप परिणाम नहीं हो और समकित की प्राप्ति होने पर भी देशविरति का उदय न हो। अप्रत्याख्यानी क्रोध पृथ्वी की रेखा समान, मान अस्थिस्तंभ समान, माया मेंढकश्रृंग समान, और लोभ-नगर खाल (खात) के कीचड़ समान है। यह कषाय उत्कर्ष से एक वर्ष पर्यन्त रहता है, और तिर्यग्गति का निबंधक, एवं व्रतोदय का रोधक है।

३. प्रत्याख्यानी - क्रोध, मान, माया और लोभ। 'प्रत्याख्यानी' उसको कहते हैं जिसमें चारित्र्य धर्म का नाश हो जाए : प्रत्याख्यानी क्रोध रेत की रेखा समान, मान काष्ठ स्तंभ समान, माया-गोमूत्र समान और लोभ गाड़ी के खंजन (कीटा) समान है। इसकी स्थिति उत्कृष्ट से चार महीने की है और इससे मनुष्य गति मिलती है।

४. संज्वलनीय - क्रोध, मान, माया और लोभ। 'संज्वलनीय' उसको कहते हैं जिसमें परीषह और उपसर्ग आ पड़ने पर जो साधुओं को भी औदयिकभाव में स्थापन करता है और जिससे 'यथाख्यात चारित्र' उदय नहीं होने पाता। संज्वलनीय क्रोध - जलरेखा समान, मान - तृणशलाका समान, माया बाँस की छाल समान, और लोभ हलदीरंग सम्मन है। इसका उदय उत्कर्ष से पन्द्रह दिन तक रहता है, और इससे प्रायः देवगति मिलती है।

परनिन्दा, परस्त्रीगमन, परधनहरण आदि कारणों से क्रोध का उदय, दूसरों को घासफूस समान तुच्छ समझने से मान का उदय, अपनी पूजा, सत्कार योग्यता की चाहना रखने से माया का उदय, और इन्द्रिय को अपने वश में न करने से लोभ का उदय होता है। इसी सबब से दर्शनसंस्थापक महर्षियों ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष, इन छे अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीतने के लिए बड़े जोरशोर से उपदेश दिया है, क्योंकि ये ही शत्रु प्रत्येक सन्मार्ग से घातक है।

जो स्त्री अपनी विवाहिता नहीं है और न अपने स्वाधीन है, अथवा जिसका एक देश से या सर्वदेश से त्याग कर दिया है, उसके साथ विषय सेवन अथवा विषय सेवन की इच्छा करने को 'काम' कहते हैं। अपने और दूसरों के चित्त को परिताप उपजाने वाले हेतु को 'क्रोध' कहते हैं। खर्च करने योग्य सुस्थान में धन खर्च नहीं करना, मर्यादा से अधिक इच्छा का फैलाना, धन स्त्री कुटुम्ब के ऊपर अत्यन्त आसक्त रहना और आठों प्रहर यह मेरा यह मेरा करते रहने को 'लोभ' कहते हैं। हठवाद, असदाग्रह और कुयुक्तिमय - अज्ञानदशा में पड़कर और मिथ्याभिमान में निमग्न हो सत्य बात को भी स्वीकार नहीं करने को 'मोह' कहते हैं। जाति, कुल, बल, रूप,

ऐश्वर्य आदि के अभिमान से दूसरों को तुच्छ समझने को 'मद' कहते हैं। दूसरों को दुःखी देखकर और द्यूत, क्रीड़ा, मृगया (शिकार) आदि कुकार्यों में आनन्दित होने को 'हर्ष' कहते हैं।

काम से ब्रह्मचर्य का, क्रोध से क्षमा महागुण का, लोभ से सन्तोष का, मोह से विवेक का, और हर्ष से नीतिमार्ग का विनाश होता है। अतएव गुणवान् बनने का मुख्य उपाय यही है कि सर्व प्रकार से अकषायी भाव को धारण कर निरवद्य क्रियानुष्ठा न करना। आत्मप्रबोध ग्रन्थ के तीसरे प्रकाश में लिखा है कि -

तत्तमिणं सारमिणं, दुवालसंगीएँ एस भावत्यो।

जं भवभमणसहाया, इमे कसाया चइज्जंति ॥१॥

भावार्थ - समस्त द्वादशाङ्ग वाणी का तात्पर्य यही है, सब धर्मों का तत्त्व भी यही है और निर्मल संजमपरिपालन का सार भी यही है की - संसार पर्यटन में सहायता देने वाले क्रोधादि कषायों का हर प्रकार से त्याग करना चाहिए।

इसलिए शान्ति महागुण को धारण करने में सदा उद्यत रहना, क्योंकि शान्तस्वभाव से क्रोध का, विनय भाव से मान का, सरलता से माया का, और सन्तोष महागुण से लोभ का नाश होता है। ग्रन्थकारों का यहाँ तक मन्तव्य है कि - एक एक कषाय का जय करने से क्रमशः सब का जय होता चला जाता है और अन्त में अकषायित्व भाव से संसार का अन्त हो जाता है।

श्री आचाराङ्गसूत्र के तीसरे अध्ययन के ४ चौथे उद्देशे में लिखा है कि -

जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी, जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी, जे पेज्जदंसी से

दोसदंसी, जो दोसदंसी से मोहदंसी, जो मोहदंसी से गम्भदंसी, जे गम्भदंसी से जम्भदंसी, जे जम्भदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

भावार्थ - जो क्रोध छोड़ता है वह मान को छोड़ता है, जो मान को छोड़ता है वह माया को छोड़ता है, जो माया को छोड़ता है वह लोभ को छोड़ता है, जो लोभ को छोड़ता है वह प्रेम (राग) को छोड़ता है, जो प्रेम को छोड़ता है वह द्वेष को छोड़ता है, जो द्वेष को छोड़ता है वह मोह को छोड़ता है, जो मोह को छोड़ता है, वह गर्भवास से मुक्त होता है, जो गर्भ से मुक्त होता है, वह जन्म से मुक्त होता है, जो जन्म से मुक्त होता है वह मरण से मुक्त होता है, जो मरण से मुक्त होता है वह नरक गति से मुक्त होता है, जो नरक गति से मुक्त होता है वह तिर्यञ्चगति से मुक्त होता है, और जो तिर्यञ्चगति से मुक्त होता है वह सब दुःखों से मुक्त होता है।

सूत्रकार का यह कथन सर्वमान्य हेतुगम्य और प्रशंसनीय है। जिसने क्रोध को जीत लिया है और शान्तता धारण कर ली है उनके दूसरे दुर्गुण क्रमशः आप ही नष्ट हो जाते हैं, फिर उन की आत्मा कर्ममल रहित हो अनन्त सुख विलासी बन जाती है। इसीलिए -

से मेहावी अभिनिवट्टेज्जा कोहं च माणं च मायं च लोहं च पेज्जं च दोसं च मोहं च गम्भं च जम्भं च मरणं च तिरियं च दुक्खं च; एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकारस्स।

भावार्थ - इस प्रकार बुद्धिशाली महानुभावों को अनेक सदगुणों के घातक क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह आदि दोषों को दूर कर गर्भ, जन्म, मरण, नरक और तिर्यञ्चगति आदि के दुःखों से बचना चाहिए; यह तत्त्वदर्शी शस्त्रत्यागी संसारान्तकर्ता भगवान् महावीर स्वामी का सर्वमान्य दर्शन रूप उपदेश है।

महानुभावों! कषायों की प्रबलता से शरीर दुर्बल हो जाता है, तथा अनेक दुःख और खेद देखना पड़ते हैं, एवं दूसरों के अधिकार छीन लेने का पाप सिर पर लेना पड़ता है और अपमान निर्लज्जता, बध, हत्या, निष्ठरता, वैर, विरोध आदि दोषों का उद्भव होता है। जिससे मन में एक प्रकार की वेदना बनी रहती है और अध्यात्मज्ञान तो नष्ट भ्रष्ट ही हो जाता है। इससे बुद्धिमानों को उचित है कि नित्यानन्द और अक्षय स्थान को प्राप्त करने के लिए ज्ञान दीपक से कषायरूप अंधकार को दूर करें, निचभाव और दुर्गुणों को छोड़कर उत्तम भाव और सद्गुण अपने हृदय में स्थापन करें, स्वार्थ को त्याग करके परोपकार करने में सदा उद्यत रहें और कषायों का जय करके सदाऽऽनन्दी शान्तगुण में लीन हों, क्योंकि नरक और तिर्यचगति का रोधक और सर्वदुःखविनाशक शान्ति महागुण ही है, इसके प्रभाव से अनेक अपरिमित सुख लीला प्राप्त होती है और मनुष्य संसार में परिपूर्ण योग्यता प्राप्त कर सबका पूज्य बन जाता है।

शान्तस्वभाव से 'प्रसन्नचन्द्र' राजर्षी अष्टकर्म खपाकर मोक्षसुख को प्राप्त हुए। 'दमसार' मुनि इसी शान्तभावना के बल से केवल ज्ञान के अधिकारी बने हैं, और शान्तस्वभाव से ही 'अचंचकारीभट्टा' इन्द्रादिकों की भी प्रशंसनीय हुई और स्वर्गसुख विलासिनी बनी है। शान्तरस में लवलीन होकर 'चण्डरुद्राचार्य' अनेक भवसंचित पापकर्मों का क्षय कर केवलश्री और मुक्तिरमणी के स्वामी बने हैं।

क्षमा, सद्विचार, सदाचार आदि के सेवन करने से कषायाग्नि शान्त होती है, और परनिन्दा, ईर्ष्या, कुत्सित व्यवहार,

ममत्व, अपनी प्रशंसा व दूसरों का अपमान, परस्त्रीगमन, परधनहरण और वाचालता आदि दोषों के आचरण करने से कषायाग्नि बढ़ती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को परम शान्तगुण धारण कर कषायाग्नि को उपशान्त करने में ही सदा प्रयत्नशील बनना और परमात्मा वीर प्रभु के सदुपदेशों को आचरण कर सद्गुण संगृहीत करना चाहिए।

संसार में गुरुत्व की चाहना हो तो परदोषों का देखना सर्वथा छोड़ दो

जइ इच्छह गुरुअत्तं, तिहुअणमज्झमि अप्पणोनियमा।

ता सव्वपयत्तेणं, परदोसविवज्जणं कुणह ॥१२॥

“यदीच्छथ गुरुकत्वं, त्रिभुवनमध्ये आत्मनो नियमात्।

तर्हि सर्वप्रयत्नेन, परदोषविवर्जनं कुरुथ ॥१२॥”

शब्दार्थ - (जइ) जो तुम लोग (तिहुअणमज्झमि) तीनों भुवन के मध्य में (अप्पणो) अपना (गुरुअत्तं) बड़प्पन (इच्छह) चाहते हो (ता) तो (नियमा) निश्चय से (सव्वपयत्तेणं) सर्वप्रयत्न से (परदोसविवज्जणं) परदोषों का वर्जन (कुणह) करो।

भावार्थ - भव्यो! यदि तुम्हें संसार में बड़प्पन की इच्छा हो और सब में अग्रगण्य बनने की इच्छा हो तो दूसरों के दोष निकालना छोड़ दो, तो सबमें तुम्हीं को मुख्यपद प्राप्त होगा और सगुणी बनोगे।

विवेचन - हर एक महानुभावों को यह इच्छा अवश्य उठती रहती है कि हमारा महत्व बढ़े, हमारा स्वामित्व बढ़े, हमारा सम्मान (सत्कार) होता रहे और सर्वत्र हमारी यशःकीर्ति फैलती रहे। इसी आशा से संसार में सब कोई दुःसाध्य कार्यों को भी अनेक दुःख सह करके पार लगाकर उच्चतम उपाधि को सम्पादन करते हैं। चाहे

साधु हो, चाहे गृहस्थ हो, सबकी प्रबल इच्छा वडप्पनरूपी जंजीर से जकड़ी हुई रहती है। बहुत से मनुष्य तो उसी इच्छा का सदुपयोग कर शुभ फल उपार्जन करते हैं और बहुत से उसका दुरुपयोग कर अशुभ फल प्राप्त करते हैं। कोई कोई तो सब से ऊँची सीढ़ी पर चढ़कर भी उस महोत्तम इच्छारूप बल का, मद, मात्सर्य और गच्छ ममत्व आदि दोषों में निमग्न हो दुरुपयोग कर शुभ फल के स्थान में अशुभ फल संग्रह करते हैं। क्योंकि - अज्ञानदशा नियम से कार्योत्साह और शुभ इच्छारूप बल को समूल उच्छेदन कर डालती है, और वैर विरोध बढ़ाकर महाउपद्रव खड़ा कर देती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आदि अज्ञान दशा से ही प्राणी-मात्र इस दुःखमय संसारचक्र में पड़कर अनेक वार गोता खा चुके हैं और चौरासी लाख योनि में विवश होकर जन्म ले दुःख भोग चुके हैं। अज्ञानदशा से दुराचार की वृद्धि, असत्यमार्गों का पोषण, मात्सर्यादि दुर्गुणों की उत्पत्ति, धार्मिक रहस्य समझने का अन्तराय और कुबुद्धि पैदा होती है। मिथ्याभिमान से अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करना, धार्मिक और जातिविरोध बढ़ाना, भगवान के वचनों के विरुद्ध भाषण करना, गुणीजनों के साथ मात्सर्य रखना, साधुजनों का अपमान करना और असत्यक्षों का आचरण करना, यह अज्ञानदशा की ही लीला है।

अज्ञान और ज्ञान -

अज्ञानी मनुष्य को हितकारक और अहितकारक मार्ग का ज्ञान नहीं होता और उसे जितनी उत्तम शिक्षाएं दी जावें वे सब अहितकारक मालूम होती हैं। विद्वानों का कथन है कि अंधकार

और मूर्खता ये दोनों बराबर हैं। क्योंकि - मूर्खता में निमग्न मनुष्य स्थूल पदार्थों को भी समझने में असमर्थ होता है, इसी तरह अंधकार स्थित मनुष्य समीपवर्ती वस्तुओं को भी नहीं देख सकता। यहाँ तक कि अपने अवयवों को भी यथार्थरूप से नहीं देखता। इसी कारण से अंधकार और मूर्खता (अज्ञान) इन दोनों का परस्पर तुलना में प्रायः घनिष्ठ संबंध मालूम पड़ता है। जैसे - भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, सर्प आदि भयानक प्राणियों का प्रकाश में अल्प भय भी उत्पन्न नहीं होता, परन्तु अन्धकार में उनका देखना तो अलग रहा, किन्तु स्मरण भी महाभयङ्कर मालूम पड़ता है, इसी प्रकार अज्ञानियों को कषाय, मात्सर्य, असत् श्रद्धा, आदि पिशाचों का भय हमेशा बना रहता है, क्योंकि अज्ञानियों का चित्त सत् असत्, धर्म, अधर्म आदि पदार्थों के विचार में दिग्मूढ़ बना रहता है और जगह जगह अनेक कष्ट उठाने पर भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। कास्तकार (किसान) लोग अज्ञान दशा से वित्तोपार्जन करने के लिए खेती बाड़ी करके अनेक अनर्थ जन्य पापकर्म बाँधते हैं, रात दिन परिश्रम उठाया करते हैं, ग्रीष्मकाल का घाम और शीतकाल की ठंडी भी नहीं गिनते परन्तु सिवाय खर्च निकालने के दूसरा कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं कर सकते और साहूकार लोग किंचित भी परिश्रम न उठा कर गादी तकिया लगाकर दुकान पर बैठे बैठे ही हजारों रुपये कमा लेते हैं और उसको दान, पुण्य, परोपकार आदि में व्यय कर मनुष्य जन्म को सफल करते हैं। इन दोनों में केवल ज्ञान और अज्ञान का ही भेद है, अज्ञानियों की जगह-जगह पर दुर्दशा और उपहास तथा तिरस्कार होता है।

इसलिए गुण और दुर्गुण को पहचानने के निमित्त सदज्ञान प्राप्ति का ही पूरी आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान के बिना साराऽ सार

की परीक्षा नहीं हो सकती। कर्तव्य क्या है? अकर्तव्य क्या है? सत्य क्या है?, असत्य क्या है?, जीव क्या है?, कर्म क्या है? इत्यादि बातों का निर्णय ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, और स्वधर्म तथा परधर्म का स्वरूप भी नहीं मालूम नहीं हो सकता, अतः ज्ञान संपादन अवश्य करना चाहिए। लिखा भी है कि -

भवविटपिस मूलोन्मूलने मत्तदन्ती,

जडिमतिमिरनाशे पद्यिनीप्राणनाथः ।

नयनमपरमेतद् विश्वतत्त्वप्रकाशे,

करणहरिणबन्धे वागुरा ज्ञानमेव ॥१॥

भावार्थ - भवरूप वृक्ष को समूल उखाड़ने में मदोन्मत्त हस्तीसमान, मूर्खतारूप अन्धकार को नाश करने में सूर्य के सदृश, समस्त जगत के तत्त्वों को प्रकाश करने में तीसरे नेत्र के तुल्य और इन्द्रियरूप हरिणों को वश करने में पाश जाल की तुलना रखने वाला एक ज्ञान ही है।

अज्ञानी, परायवाद, मद, मात्सर्यादि दोषों में पड़कर अधमता को प्राप्त करता है, और ज्ञानी सद्मार्ग का उपदेश देकर और राग द्वेषादि दोषों को हटाकर उत्तमता को प्राप्त करता है। सांसारिक और धार्मिक योजनाओं में विद्वान पुरुष जितना महत्व और यश प्राप्त करता है उतना मूर्ख हजारों रुपया खर्च करके भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसी से महर्षियों ने सद्ज्ञान को प्राप्त करने की परमावश्यकता बतलाई है।

ज्ञान बिना जीवादि पदार्थों का स्वरूप सामान्य तथा विशेष रूप से नहीं जाना जा सकता, और जीवादि स्वरूप जाने बिना दयाधर्म का पालन भले प्रकार नहीं हो सकता। 'श्रीदशवैकालिसूत्र' में श्री

शय्यंभवसूरिजी महाराज ने लिखा है कि - 'पढमं नाणं तओ दया' प्रथम जीवादि पदार्थों का ज्ञान करो, क्योंकि परिपूर्ण ज्ञान हुए बिना यथार्थ दयादानादि धर्म (व्यवहार) नहीं सध सकता। जितना ज्ञान होगा उतनी ही शुद्ध धर्म में प्रवृत्ति अधिक होगी। ज्ञान के बिना उपदेशादि का देना और तपस्यादि करना सार्थक नहीं है। सूत्रकारों ने तो यहाँ तक लिखा है कि - वस्तुतत्व को जाने बिना और वचनविभक्तिकुशल हुए बिना जितना धर्मोपदेश देना है वह असत्य मिश्रित होने से भवभ्रमण का ही हेतु है, इससे ज्ञानसहित धर्मोपदेशादि देना और क्रियानुष्ठान करना सफल और अनन्त सुखदायक है।

बहुत से अज्ञ जीव क्रियाडम्बर पर ही रंजित हो समझते हैं कि बस दया पालना, तपस्या वगैरह करना, यही मोक्षमार्ग है। परन्तु शान्तस्वभाव से विचार करना चाहिए कि अकेली क्रिया उसका यथार्थ स्वरूप जाने बिना उचित फलदायक नहीं ही सकती। जैसे -शिल्पकला को जाने बिना गृह, मन्दिर आदि बनाना, चित्रकला को सीखे बिना चित्रादि का बनाना और व्यापारादिभावनिपुण हुए बिना व्यापार वगैरह का करना शोभाजनक और फलदायक नहीं होता। जो जिस कला में निपुणता रखता होगा वही उसका फल प्राप्त कर सकता है, दूसरा नहीं। उसी तरह धार्मिक क्रियाओं में शोभा और उत्तम फल को ही वही पा सकता है जो उन क्रियाओं के यथार्थ उद्देश्यों को समझता है। इससे सभी अनुष्ठान ज्ञानपूर्वक ही महाफल देने वाले हैं। बहुश्रुत हरिभद्रसूरिजी महाराज ने लिखा है कि -

क्रियाहीनस्य यज्ञानं, ज्ञानहीनस्य या क्रिया।

अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव ॥१॥

भावार्थ - क्रियाहीन जो ज्ञान और ज्ञानहीन जो क्रिया, इन दोनों के परस्पर सूर्य और खद्योत (पतंगिया) जितना अन्तर जानना चाहिए। ज्ञान तो सूर्य के समान है, और क्रिया खद्योत के समान है। क्रिया देश से आराधक, और ज्ञान सर्वाराधक है। ज्ञानरहित क्रिया करने वाला देश से आराधक है, ऐसा 'भगवतिसूत्र' में कहा है।

ज्ञानसहित क्रिया और क्रियासंयुत ज्ञान यही आत्मशुद्धि होने का और तत्त्वज्ञ बनने का मुख्य कारण है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया के सेवन से अन्तरङ्ग शत्रुओं का अभाव होकर महोत्तम पद प्राप्त होता है और महोत्तम शान्तगुण प्रगट होकर सर्वमतावलम्बियों के ऊपर समभाव होता है। ज्ञान सम्पादन और क्रिया करने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि अपनी आत्मा कषाय शत्रुओं से मुक्त हो सब के साथ मैत्रीभाव रखे, किन्तु किसी के दोषों पर न ताके।

क्रिया का, या व्याख्यान आदि का बाह्याडम्बर दिखाने मात्र से ही सत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, जब तक उपशम भाव नहीं हुआ तब तक सब ढोंगमात्र है और जहाँ ढोंग है वहाँ मुक्तिमार्ग नहीं है। अतएव प्रत्येक धर्मानुष्ठानों को सफल करने के लिए प्रथम ज्ञान संपादन तदन्तर क्रिया (शान्त गुण) में लवलीन होना चाहिए। यहाँ पर ज्ञान और अज्ञान का इतना स्वरूप दिखाने का हेतु यही है कि लोग अज्ञानजन्य दोषों को ज्ञान से समझ कर, परदोष प्रदर्शन और निन्दा करने का लाभाऽलाभ जानकर, महत्त्व प्राप्त करने के लिए अनीतिमय दोषों का सर्वथा त्याग करें और जिनेन्द्र भगवान् की उत्तम शिक्षाओं का आचरण करें।

वर्तमान जैन जाति में अवनति दशा होने का मुख्य कारण यही है कि उसमें सज्ञान और उत्तम शिक्षण का अभाव है, और कहीं

किसी में कुछ ज्ञान पाया भी जाता है तो वह मात्सर्य से अच्छादित होने से उसका प्रभाव नहीं बढ़ता। क्योंकि जैन शास्त्रानुसार सज्ञान वही है जिससे वैर विरोध का सर्वथा नाश होकर मैत्री भावना दिन दूनी बढ़ती जाए। यदि ज्ञान प्राप्त होने पर भी असभ्य आदतें न मिटीं तो वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान ही है। उत्तम ज्ञान के उदय से उत्तम

उत्तम सगुण प्रगट होते हैं। कहा भी है कि -

ज्ञान उदय जिनके घट अन्दर,

ज्योति जगी मति होत न मैली।

बाहिर दृष्टि मिटी तिन के हिय,

आतमध्यान कला विधि फैली॥

जे जड़ चेतन भिन्न लखे,

स्रविवेक लिए परखे गुण थैली।

ते जग में परमारथ जानि,

गहे रुचि मानि अध्यात्म शैली ॥१॥

भावार्थ - जिनके हृदय में असली ज्ञान का उदय होता है उनके हृदयभवन में परापवाद, परदोषनिरीक्षण आदि दोषों से परिवेष्टित - मलिन मति का नाश हो कर सुबुद्धि और दिव्यज्ञानज्योति का प्रकाश होता है, बाह्यदृष्टि मिटकर सर्व दोष विनाशिका - अध्यात्मकला की विधि विस्तृत होती है, ज्ञानोदय से मनुष्य जड़ और चेतन की भिन्नता दिखाने वाले सद्विवेक को प्राप्त करज्ञान दर्शन चारित्र्यादि सगुणों की थैली परीक्षापूर्वक ग्रहण करते हैं संसार में परमार्थ (तत्त्व) वस्तु को जानकर शुद्ध रुचि से अध्यात्म शैली को प्राप्त करते हैं। इसलिए महानुभावो!

“परदोसं निराकिच्चा, न विरुद्धोज्ज केण वि।

मणसा वयसा चैव, कायसा चैव अंतसो ॥”

भावाथ - मन, वचन और काया से परदोषों को अलग कर किसी के साथ वैर विरोध न करो। क्योंकि - परदोष बोलने और विरोधभाव रखने से अन्त में दुर्गति का भाजन बनना पड़ता है।

अत एव मन से किसी की बुराई न करो, वचन से किसी की निन्दा, या दोषारोप न करो और काया से सर्वत्र शांतिभाव फैलाने की कोशिश करो, परन्तु जिससे कषायाग्नि बढ़े, वैसी प्रवृत्ति न करो। परदोष निकालता हुआ कोई भी उच्चदशा को प्राप्त नहीं हुआ किन्तु अधमदशा के पात्र तो करोड़ों हुए हैं। जो सब के साथ मैत्री भाव रखते हैं, यथाशक्ति परोपकार करते हैं और स्वप्न में भी परदोषों पर दृष्टि नहीं डालते वे सबके पूज्य होकर महोत्तम पद विलासी बनते हैं।

ग्रन्थकार पुरुषों के भेद दिखाकर उनकी निन्दा करने का निषेध करते हैं -

चउहा पसंसिणिज्जा, पुरिसा सव्वुत्तमुत्तमा लोए।

उत्तम-उत्तम उत्तम, मज्झिमभावा व सव्वेसि ॥१३॥

जे अहम अहम - अहमा, गुरुकम्मा धम्मवज्जिया पुरिसा

तेऽवि य न निंदणिज्जा, किंतु तेसु दया कायव्वा ॥१४॥

चतुर्द्धा प्रशंसनीयाः, पुरुषाः सर्वोत्तमोत्तमा लोके।

उत्तमोत्तमता उत्तमा, मध्यमभावश्च सर्वेषाम् ॥

ये अधमा अधमाधमा, गुरुकर्माणो धर्मवर्जिताः पुरुषाः ॥

तेऽपि च न निन्दनीयाः, किन्तु दया तेषु कर्तव्या ॥१४॥

शब्दार्थ - (लोए) संसार में (सव्वुत्तमुत्तमा) सर्वोत्तमोत्तम १, (उत्तम-उत्तम) उत्तमोत्तम २, (उत्तम), उत्तम ३, (य) और (मज्झिमभावा) मध्यमभाव ४, (सव्वेसिं) सब पुरुषों के (चउहा) चार प्रकार के होते हैं। (पुरिसा) चारों भेद वाले पुरुष (पसंसणिज्जा) प्रशंसा करने योग्य हैं। (य) और (जे) जो (अहम) अधम १, और (अहम - अहमा) अधमाऽधम २, (गुरुकम्मा) बहुल कर्मी, (धम्मवज्जिया) धर्ममार्ग से रहित ये दो प्रकार के (पुरिसा) पुरुष हैं, (तेऽवि) वे भी (निदणिजा) निन्दा करने योग्य (न) नहीं हैं (किंतु) तो क्या? (तेसु) उन पर भी (दया) दयालु परिणाम (कायव्वां) रखना चाहिए।

भावार्थ - प्रथम के चार भेद वालों की प्रशंसा करना और दूसरे दो भेदवालों की प्रशंसा न करते बने तो उनकी निन्दा तो अवश्य छोड़ देना चाहिए।

विवेचन - संसार में अपने शुभाऽशुभ कर्म के संयोग से प्राणीमात्र को उत्तम, मध्यम और अधम दशा प्राप्त होती है और उसी के अनुसार उनकी मनःपरिणति शुद्धाऽशुद्ध हुआ करती है। जो लोग परिनिन्दा, परदोषारोप, परसमृद्धि में आमर्ष, कपट, निर्दय परिणाम और अभिमान आदि दोषों का आचरण करते हैं, उनको एक-एक योनी की अपेक्षा अनेक बार अधम दशा का अनुभव करना पड़ता है। जो महानुभाव दोषों को सर्वथा छोड़कर सरलता, निष्कपट, दया, दाक्षिण्यता आदि सदगुणों का अवलम्बन करते हैं वे यथायोग्य उत्तम, मध्यम अवस्था को पाते हैं। यह बात तो निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि जो जैसा स्वभाव रखेगा वह उसी के अनुसार

योग्यता का पात्र बनेगा और सांसारिक तथा धार्मिक कार्यों में अग्रगण्य समझा जाएगा। महर्षियों ने जन सुधार के निमित्त जो जो आज्ञाएँ दी हैं, और उत्तम उत्तम उपाय बतलाये हैं उनको श्रद्धापूर्वक पालन करने से सगुणों की प्राप्ति होती है और उभय लोक में अखण्ड यशः प्रताप फैलता है।

छः प्रकार के पुरुष -

ग्रन्थकार महर्षियों ने सर्वोत्तमोत्तम १, उत्तमोत्तम २, उत्तम ३, और मध्यम ४, इन चार भेदवालों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने के लिए उपदेश दिया है। क्योंकि ये चारों भेदवाले पुरुष धर्मात्मा और धर्मानुगारी होते हैं, इससे इनकी प्रशंसा करने से मनुष्य सद्गुणी बनता है। दुनिया में 'सर्वोत्तमोत्तम' पुरुषों में सब दोषों से रहित और अनेक प्रभावशाली अतिशयान्वित, श्रीतीर्थङ्कर भगवान तथा 'उत्तमोत्तम' कोटी में सामान्य केवली भगवन्त दाखिल हैं, 'उत्तम' कोटी में पंचमहाव्रतधारी, अखंड ब्रह्मचर्य व्रतपालक, मुनि महाराज और देशविरतिश्रावक महानुभाव दाखिल हो सकते हैं; और 'मध्यम' कोटी में सम्यग्दृष्टि, और मार्गानुसारी सत्पुरुष, समझे जा सकते हैं। इन महानुभावों को सद्गुणों के प्रभाव से ही उत्तमता प्राप्त हुई है। इसलिए इन्हों की प्रशंसा करना, वास्तव में अपनी ही उन्नति के निमित्त है। अत एव सत्पुरुषों की निरन्तर प्रशंसा करते रहना चाहिए; क्योंकि उत्तमोत्तमगुण प्राप्त करने का यही मुख्य साधन है।

जो 'अधम' तथा 'अधमाधम' जीव हैं, वे गुरुकर्मी होने से प्रशंसा के लायक नहीं हैं, क्योंकि उनमें जितने दोष हैं, वे प्रायः निन्दा करने योग्य ही हैं। तथापि -

‘श्रीजिनहर्षगणिजी’ महाराज फरमाते हैं कि - ‘तेऽवि य न निंदमिज्जा, किन्तु दया तेसु कायव्वा’ अर्थात् - अधम और अधमादम मनुष्य भी निन्दनीय नहीं है। क्योंकि संसार में मनुष्य पूर्वोपार्जित पापकर्म के उदय से पापकर्म करने में ही लगे रहते हैं, और नरकप्रायोग्य अशुभयोगों में विलास किया करते हैं। इसलिए उनकी निन्दा नहीं करना चाहिए, किन्तु उन पर भी दयालु स्वभाव रखना चाहिए।

अधर्मों मनुष्यों को देखकर धर्मात्माओं को यह विचार करना चाहिए कि - ये जीव विचारे भारी कर्मा होने से धर्मरहित हुए हैं, यदि किसी तरह ये धर्मानुरागी बनें तो अच्छा है। ऐसी शुभ भावना रख, मधुर वचनों से समझाते रहना चाहिए; परन्तु पापिष्ट, दुष्ट, नीच आदि शब्दों से व्यवहार करना ठीक नहीं। मधुर वचनों से तो किसी न किसी समय ये लोग धर्म के सन्मुख हो सकेंगे, किन्तु निन्दा करने से कभी नहीं समझ सकते। पूर्वाचार्यों ने मधुर वचनों से ही अनेक महानुभावों को धर्मानुरागी बनाये हैं। जो लोग वचनों में मधुरता नहीं रखते, उनके वचन सर्वमान्य नहीं हो सकते। श्री जिनेश्वरों की वाणी दयालु स्वभाव से ही सर्वमान्य मानी जाती है; क्योंकि - जिनवाणी अत्यन्त मधुर वचन सम्पन्न होती है, उनको प्रीतिपूर्वक हितकारक समझकर, अधमाधम श्रेणी के मनुष्य भी आचरण (मान्य) करते हैं। अतएव बुद्धिमानों को दयालुस्वभाव रख, मधुर वचनों से ही अधमजीवों को समझाते रहना चाहिए।

‘षट्पुरुषचरित्र’ में श्री क्षेमङ्करगणिजी ने पुरुष - धर्म सब में समान रहने पर भी पूर्वभवोपार्जित शुभाऽशुभ कर्म के परिणाम से और चार पुरुषार्थों को साधन करने के भेद से मनुष्यों के छः विभाग

किए हैं। वे इस प्रकार हैं कि - अधमधाम १, अधम २, विमध्यम ३, मध्यम ४, उत्तम ५ और उत्तमोत्तम ६।

१. जो लोग धर्मकर्म से रहित हैं, जिन्हें परलोक संबंधी दुर्गतियों का भय नहीं है, निरन्तर क्रूरकर्म और पापों का आचरण किया करते हैं, अधर्मकार्यों में आनन्द मानते हैं, लोगों को अनेक उद्देश्य उपजाया करते हैं, देवगुरु और धर्म की निन्दा किया करते हैं, दूसरे मनुष्यों को भी नित्य पापोपदेश दिया करते हैं, जिनके हृदय में दया-धर्म का अंकुर नहीं ऊगता अर्थात् जो महानिर्दय परिणामी होते हैं, अगर किसी तरह कुछ द्रव्य प्राप्त भी हुआ तो उसे मदिरा, मांसभक्षण, परस्त्रीगमन आदि अनेक कुकार्य करने में खर्च करते हैं, वे लोग 'अधमाधम' हैं।

२. जो महानुभाव परलोक से पराङ्मुख हो इन्द्रियों के विषयसुख के अभिलाषी बने रहते हैं, अर्थ और काम, इन दो पुरुषार्थों को ही उपार्जन करने में कटिबद्ध हैं, संसारवृद्धि का जिनको कुछ भी भय नहीं है, जन्म मरण संबंधी क्लेशों का जिन्हें ज्ञान नहीं है, जो दूसरों के दुःख को नहीं जानते, जो कर्मों के अशुभ फलों का दुःख देखते हुए भी सुख मानते हैं, जो पशुओं की तरह यथारुचि खाते, पीते, बोलते और कुकर्म करते हैं, लोकनिन्दा का भी जिनको डर नहीं है, जो धार्मिक जनों की मशकरी (उपहास्य) करते हैं, मोक्षमार्ग की निन्दा करते हैं, धर्मशास्त्रों की अवहेलना (अनादर) करते हैं, और कुगुरु कुदेव, कुधर्म की कथाओं के ऊपर श्रद्धा रखते हैं।

जो लोग सदाचारियों की निन्दा हास्य कर, कहते हैं कि - परलोक किसने देखा? कौन वहाँ से आया?, किसने जीव, अजीव

आदि पदार्थ देखे?, किसने पुन्य पाप का फल भुगता?, स्वर्ग नरक मोक्ष कहाँ है? केशलुंचनादि, सब कार्य क्लेशरूप है, व्रतादि ग्रहण करना भोगों से वंचित रहना है, शास्त्रों का अभ्यास केवल कण्ठशोष है, धर्मोपदेश देना विचारे मूर्ख लोगों को ठगना है, देव गुरु सा-धार्मिक भक्ति में द्रव्य लगाना व्यर्थ है। दुनिया के अन्दर अर्थ और काम को छोड़कर दूसरा कोई पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि - सब जगह अर्थवान् ही प्रशंसनीय है, लिखा भी है कि -

मुत्तूण अत्थकामो, नो अन्नो कोई अत्थि परमत्थो।

जस्स कए चइऊणं, दिट्ठसुहमदिट्ठ अहिलासो ॥१॥

भावार्थ - अर्थ और काम को छोड़के संसार में कोई ऐसा परमार्थ नहीं है कि जिसके लिए मिले हुए सुखों को छोड़कर अदृष्ट सुखों की आशा की जाय। क्योंकि - जाति, विद्या, रूप, कलासमूह, गुण और विज्ञान; ये सब अर्थ (धन) से ही शोभा को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार विषयवश हो अधमबुद्धिलोग स्वयं परमार्थमार्ग से पतित होते हैं, और दूसरों को भी दुर्गति के भाङ्गन बनाते हैं। इससे ये लोग 'अधम' हैं।

जैसे - मूर्खमति मृग व्याघ्रगीत को सुखरूप मानता है, पतंग सहर्ष हो दीपशिखा में पड़ता है। इसी तरह अधम मनुष्य दुःखरूप अर्थ और काम की वासना में सुख मानते हुए नरकादि स्थानों के पात्र बनते हैं। अर्थात् अधम लोगों के सब व्यापार स्वात्मविनाश के लिए होते हैं। जो महानुभाव सदुपदेश और आगमप्रमाण मिलने पर भी अपने नास्तिकपन को नहीं छोड़ते वे भी अधमपुरुषों की श्रेणी में ही समावेश किये जाते हैं।

३. जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की आराधना सांसारिक सुखों के वास्ते करते हैं, मोक्ष की निन्दा और प्रशंसा नहीं करते है, जैसे 'नालिकेरद्वीप' निवासी मनुष्य, धान्य के ऊगर रुचि और अरुचि नहीं लाते किन्तु मध्यस्थभाव रखते हैं, उसी प्रकार जो मोक्ष के विषय में अभिलाष और अनभिलाष नहीं रखते हुए केवल इस लोक में ऋद्धि सम्पन्न मनुष्यों को देखकर धर्मसाधन में प्रवृत्त होते हैं और मन में चाहते हैं कि हमको रूप, सौभाग्य, विभव, विलास, पुत्र, पौत्रादि परिवार, तथा समस्त पृथ्वीमंडल का राज्य, आदि दानशील तप और भावरूप धर्मकरणी के प्रभाव से जन्मान्तर (दूसरे जन्म) में मिले। अर्थात् सुखसमृद्धि के लिए ही जो तीर्थसेवा, गुरुभक्ति, परोपकार और दुष्कर क्रिया करते हैं और लोकविरुद्ध कार्यों का त्यागकर धर्मक्रिया में प्रवृत्त होते हैं, तथा पाप से डरते हैं, और सुगति तथा कुगति को मानते हैं; वे 'विमध्यम' है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; ये चार वर्ण पूर्वोक्त कार्यों के करने से विमध्यम पुरुषों में गिने जाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि, चक्रवर्ती प्रमुखों के विभव और विषयादिसुखभोग के अभिलाषी हो निदान करते हैं वे भी इसी भेद में गिन जाते हैं। ये लोग धर्मार्थी होने पर भी यथार्थवक्ता गुरु के बिना धर्मस्वरूप को नहीं पा सकते।

४. जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन चार पुरुषार्थों को मानते हैं, परन्तु मोक्ष को परमार्थ और परमतत्त्व समझते हैं। तथापि हीनसत्त्व और कालानुसार पुत्र कलत्रादि के मोह ममत्त्व को नहीं छोड़ सकने के कारण धर्म, अर्थ तथा काम; इन तीनों ही वर्ग की आराधना यथासमय परस्पर बाधारहित करते रहते हैं। संसारस्वरूप

और विषयादि भोगों को किंपाकफल की तरह दुःखप्रद समझते हुए भी 'महापुरुषसेवितां प्रव्रज्यामध्यवसितुं न शक्नुवन्ति' महोत्तम पुरुषों के द्वारा सेवित पारमेश्वरी दीक्षा को स्वीकार करने के लिए समर्थ नहीं हो सकते। परन्तु जैन शासन के प्रभावक, मुनिजनों के भक्त, साधु धर्म के पोषक बनकर दानशील तप भाव और परोपकारादि सद्गुणों से अलंकृत, सम्यक्त्व मूल-बारह व्रतों को निरतिचार पालन करते हैं, वे पुरुष 'मध्यम' हैं। ये लोग जिनेन्द्रधर्म को निराशीभाव से सेवन करते हैं और सब का हित चाहते हैं, किन्तु किसी की भी हानि नहीं चाहते। इससे इस लोक में अनेक लोगों के प्रशंसनीय हो परलोक में उत्तम देव पद और मनुष्य पद प्राप्त करते हैं।

५. जो चार पुरुषार्थों में से केवल मोक्ष ही को परमार्थस्वरूप समझते हैं और मोक्षमाग का आराधना करने में ही कटिबद्ध रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, मत्सर, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा आदि दुर्गुणों को छोड़कर परमार्थिक सद्गुणों में चित्त लगाकर, धन, धान्य, माल, खजाना, कुटुम्ब-परिवार को तुच्छ समझकर, भोग, तृष्णामय दृष्ट इन्द्रियों को सर्वथा रोककर, तथा वैराग्य वासना से वासितान्तःकरण होकर परमपुरुषसेवित और सब दुःखों की निर्जरा की हेतभूत-पारमेश्वरी महोत्तम निर्दोष दीक्षा का सेवन करते हैं, अर्थात् चारित्रधर्म को स्वीकार करते हैं। शत्रु, मित्र, निन्दक, पूजक, मणि, कांचन, सज्जन, दुर्जन, मान, अपमान, गम्य, अगम्य आदि सब के ऊपर समानभाव रखते हैं और सब जीवों को हितकारक उपदेश देते हैं। गृहस्थों के परिचय से विरक्त, आरम्भ से रहित, सत्योपदेशक, अस्तेयी, ब्रह्मचारी और निष्परिग्रही होते हैं,

वे 'उत्तमपुरुष' कहे जाते हैं। इस भेद में निर्दोष चारित्र को पालने वाले मुनिराज ही गिने जाते हैं।

जो लोग गृहस्थाश्रम छोड़ने पर भी सांसारिक विषयों के अभिलाषी, सब वस्तुओं के नक्षक, धनधान्यादि परिग्रह से युक्त, अब्रह्मचारी, मिथ्या उपदेशक, गृहस्थपरिचर्या (सेवा) कारक, रंगीन वस्त्र धारण कर और बुगला भगत बनकर लोगों को ठगने वाले, आधाकर्मी आहारादि लेने वाले और बैर विरोध, कलह, मात्सर्य आदि दुर्गुणों में क्रीड़ा करने वाले हैं, वे उत्तमों की पंक्ति में क्या मध्यमों की पंक्ति में भी नहीं हैं, किन्तु उनको अधमों की पंक्ति में गिनना चाहिए। क्योंकि उत्तम पुरुषों की गिनती में तो वे ही सत्पुरुष आ सकते हैं, जो कि पूर्वोक्त अधम कार्यों से रहित हों। अर्थात् - जो अमोही, ज्ञानी, ध्यानी, शान्त जितेन्द्रिय, त्यागी, विरागी, निस्पृही, शास्त्रोक्त, साधुक्रिया में तत्पर, विद्यावान्, विवेकसम्पन्न, मध्यस्थ, तत्त्वदृष्टि, भवोद्विग्न, अमत्सरी, सर्वजीवहितचिन्तक, सदगुणानुरागी कलहोदीरणा रहित और संयम की उत्तरोत्तर खप करने वाले मुनि हों वे उत्तमपदालङ्कृत हैं। ये उत्तम पुरुष स्वयं संसार समुद्र में तरते हैं, और भव्य जीवों को निःस्वार्थवृत्ति से तारते हैं। जो स्वयं तरने के लिए समर्थ नहीं है, वह दूसरों को कैसे तार सकता है? अतएव उत्तमपुरुष ही स्वयं तिरने के लिए और दूसरों को तारने के लिए समर्थ हैं।

६. जो उत्तमपुरुषों के और तीन लोक के ध्येय, पूज्य, माननीय, वन्दनीय, स्तवनीय, ईश्वरपदवाच्य, सर्वथा राग द्वेष रहित, केवल ज्ञान से लोकाऽलोक स्वभाव के प्रकाशक, प्रमाणयुक्त, स्याद्वादशैलीयुक्त - उत्पाद, व्यय और ध्रुव्य - इन तीनों पदों का

ज्ञान गणधरों को देने वाले, निर्विकार, निर्बाध, परस्पर विरोधादि दोषरहित, शासन-नायक, शिवसुखदायक, परमकृपालु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न, कामधेनु और कामकुम्भ से भी अधिक दान देने वाले, धर्मचक्रवर्ति तीर्थकर - तीर्थस्थापक सेवा मात्र से मोक्ष के फल देने वाले होते हैं, वे 'उत्तमोत्तम' पद विभूषित हैं।

जिनका संसार में जन्म होने से लोगों के हृदय में सबुद्धि पैदा होती है, सब का दयालु स्वभाव होता है, वैर, विरोध, ईर्ष्या, लूट खसोट, आदि दुर्गुण मिटते हैं, अनुकूल वर्षा होती है, दुर्भिक्ष का नाश और जल, फूल, फल; आदि में मधुरता बढ़ती है, त्रिलोकव्यापी उद्योत होता है, लोगों में धार्मिक भावना बढ़ती है, स्व परिवार सहित इन्द्रोंका गमनाऽऽगमन होता है। बहुत कहाँ तक कहा जाए जिनके समान रूप, सौभाग्य, लावण्य, भाम्योदयं, गाम्भीर्य, धैर्य, दाक्षिण्य, सदाचार, गुणानुराग, गुणसमूह, निर्ममता, समताभाव, निर्दोषीपन, सहनशीलता, स्वामित्व, जितेन्द्रियत्व, अतिशय, निर्भयता, आदि उत्तमोत्तम सदगुण दूसरे संसारी किसी जीव में नहीं हों, वे सर्वज्ञ दयासागर जगज्जीव - हितैषी 'उत्तमोत्तम' पुरुष कहे जाते हैं।

महानुभाव! इस प्रकार ग्रन्थान्तरों में पुरुषों के छः विभाग किए गए हैं। शास्त्रों में योग्याऽयोग्य पुरुषों का बहुत स्वरूप दिखलाया गया है, यहाँ तो बिलकुल संक्षेपस्वरूप लिखा है। इस स्वरूप को अवलोकन और मनन कर यह विचार करना चाहिए कि पूर्वोक्त भेदों में से मैं किस पंक्ति में हूँ? मेरे में इनमें से कौन-कौन लक्षण पाए जाते हैं? ऐसा विचार करने पर यदि मालूम हो कि अब तक तो मैं नीच-पंक्ति में ही हूँ तो ऊँची पंक्ति में जाने का प्रयत्न करना चाहिए, और यदि यह मालूम हो कि मैं ऊँचे नम्बर की पंक्ति

में हूँ तो उत्तरोत्तर ऊँची पंक्ति में पहुंचने की अभिलाषा रखनी चाहिए और अपने से नीचि पंक्ति में रहे हुए जो लोग हैं, उन पर दयालु स्वभाव रख, उन्हें सन्मार्ग में जोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए।

जो लोग बालविवाह, वृद्धविवाह, कन्या विक्रय करते हैं, एक स्त्री पर अनभिलाषा रख, दूसरी स्त्री से विवाह कर सपत्नी संबंध जोड़ते हैं और अवाच्यपशुओं की तरह बेदरकारी रखते हैं, वे भी 'अधमाधम पुरुषों' में शामिल हैं। अतएव अधमाधम कार्यो को सर्वथा छोड़ देना चाहिए, क्योंकि अधम कार्यो से मनुष्य ऊँची दशा पर कभी नहीं चढ़ सकता।

आजकल प्रायः छोटे-छोटे जन्तुओं की दया पालन की जाती है परन्तु पञ्चेन्द्रिय जीव को आजन्म दुःख में डालते हुए कुछ भी विचार नहीं किया जाता। यह एक प्रकार की अज्ञानता ही समझना चाहिए।

अब श्रीमान् जिनहर्षगणि विषयविकारों की न्यूनाधिक्य से पुरुषों के छे भेद दिखलाते हुए सर्वोत्तमोत्तम पुरुषों का वर्णन करते हैं -

पच्चंगुम्भडजुव्वणवंतीणं सुरहिसारदेहाणं।

जुवईणं मज्झगओ, सव्वुत्तमरूपवन्तीणं ॥१५॥

आजम्मबंयारी, मणवयकाएहिं जो धरइ सीलं।

सव्वुत्तमुत्तमो पुण, सो पुरिसो सव्वनमणिज्जो ॥१६॥

प्रच्चङ्गोद्भटयौवनवतीनां सुरभिसारदेहानाम् ।

युवतीनां मध्यगतः सर्वोत्तमरूपवतीनाम् ॥१५॥

आजन्मब्रह्मचारी, मनोवचः कायैर्यो धरति शीलम् ।

सर्वोत्तमोत्तमः पुनः, स पुरुषः सर्वनमनीयः ॥१६॥

शब्दार्थ - (पच्चंगुम्भडजुव्वणवंतीणं) प्रति अंगों में प्रकट है यौवन जिनका, (सुरहिसारदेहाणं) सुगन्धमय है शरीर जिनका, और (सव्वुत्तमरूववंतीणं) सबसे उत्तमरूपवाली (जुवईणं) युवतियों के (मज्झगओ) मध्य में रहा हुआ (जो) जो (मणवयकाएहिं) मन, वचन और काया से (अजम्मबंभयारी) जन्म पर्यन्त ब्रह्मचारी रह (सीलं) शील को (धरइ) धारण करता है (सो) वह (पुरिसो) पुरुष (सव्वुत्तमुत्तमो) सर्वोत्तमोत्तम कहा जाता है (पण) फिर वह (सव्वनजमणिजो) सब लोगों के वंदन करने योग्य होता है।

भावार्थ - युवावस्था, सुगन्धमय शरीर और सौन्दर्यसम्पन्न स्त्रियों के बीच में रहकर भी जो अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करता है वह पुरुष 'सर्वोत्तमोत्तम' और सब का वंदनीय होता है।

विवेचन - संसार में दान देना, परिषह सहना, तपस्या से शरीर को सुख देना, दया पालन करना, ध्यान आदि क्रियाओं का करना तो सुकर है परन्तु आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करना अत्यन्त दुष्कर है। बड़े बड़े यौद्धा पुरुष भी कामदेव के अगाड़ी कायर बन जाते हैं तो इतर मनुष्यों की कथा ही क्या है? क्योंकि कामदेव बड़ा भारी योद्धा है यह तपस्वियों के हृदय में भी खलबलाहट किए बिना नहीं रहता। अर्थात् जिसके हृदय में इसने प्रवेश किया उसका फिर संयम रहना कठिन है। इससे भगवन्तो ने उन्हीं को त्यागी कहा कि -

जे य कंते पिए भोए, लद्धेविपिट्टिकुव्वइ।

साहीणे चइए भोए, से हु चाइ ति वुच्चइ॥

भावार्थ - जो पुरुष मनोहर, मनोऽनुकूल और स्वाधीन प्राप्त भोगों को शुभभावना से छोड़ देता है अर्थात् जिनको जन्मभर में एक भी स्त्री नहीं मिलती, कदाचित् मिली तो मनोऽनुकूल नहीं, वे पुरुष दुःखी हो, बंधे हुए घोड़े की तरह ब्रह्मचर्य पालें तो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं कहे जा सकते। किन्तु जिनको भोगों की सब सामग्री तैयार है और अपनी इच्छा के अनुसार चलने

वाली स्त्रियाँ हैं उस अवस्था में किसी प्रकार विषय कीचड़ से उपलिप्त न होना वही वास्तविक त्यागी (ब्रह्मचारी) है। क्योंकि विरक्त मनुष्य संसार के भोगों को काले सर्प के फण के समान विषम जानकर, इन्द्रियों के विषयों को विषमिश्रित अन्न के समान और स्त्रियों के पुदगलजन्य सुखों को तृण के समान असार जानकर, विषयाशक्ति को छोड़ करके मोक्ष को होता है।

अतएव किंपाकफल के समान आदि ही में सुखद और अन्न में दुःखद जानकर मैथुन से विरक्त हो अखंड ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए। क्योंकि जलते हुए लोहस्तंभ का आलिंगन करना श्रेष्ठ है किन्तु अनेक अनर्थों का कारणभूत स्त्रीजघन का सेवन करना उत्तम नहीं है। जो लोग स्त्रियों के संभोग से कामज्वर को शान्त करना चाहते हैं वे घृत की आहुती से अग्नि को बुझाने की इच्छा करते हैं।

चारित्र का प्राण और मोक्ष का मुख्यहेतुभूत ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले सत्पुरुष पूज्यों से भी सम्मानित होते हैं। अनेक क्लेशों और चुगलियों का घर 'नारद' केवल ब्रह्मचर्य से ही मोक्ष अधिकारी बनता है। ब्रह्मचर्य से ही समस्त गुण उज्ज्वल हो सबके आदरणीय होते हैं। अन्य दर्शनों का भी कहना है कि एक दिन ब्रह्मचर्य पालने से जो फल प्राप्त होता है वह हजार यज्ञों से भी नहीं होता। जिनमें ब्रह्मचर्य है और जो हमेशा सत्यवाणी बोला करते हैं उनको गङ्गा भी बूँडा करती है। कितने एक लोग गंगा स्नान करने के लिए जाते हैं लेकिन गंगा उनसे अपने को पवित्र नहीं मानती, किन्तु वह पवित्र होने के लिए ब्रह्मचारी और सत्यवादियों का नित्य अन्वेषण किया करती है।

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमगं विद्याणिया।

विणियादिज्ज भोगेसु, आउम्मि परिमियप्पणो ॥१॥

भावार्थ - जीवित को अनिश्चित, ज्ञान, दर्शन, चरित्र को मोक्ष मार्ग और आयु का परिमित जानकर विषयादि भोगों से विरक्त होना चाहिए। अर्थात् जीवित स्थिर नहीं है, रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है और आयु प्रमाणयुक्त है, ऐसा समझकर बुद्धिमानों को अखंड ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिए।

मनुष्यों के हृदय को सद्गुणों की ओर आकर्षित करने के लिए शास्त्रकारों ने अनित्यभावना १, अशरणभावना २, भवस्वरूप भावना, २, एकत्वभावना ४, अन्यत्वभावना ५, अशौचभावना ६, आश्रवभावना ७, संवरभावना, ८, निर्जराभावना ९, धर्मभावना १०, लोकस्वरूपभावना १२, और बोधिदुर्लभभावना १२, ये बारह भावनाएँ बतलाई हैं।

अतएव विवेकरूपी सुवन को सिंचन करने के लिए नदी के समान, प्रशम सुख को जीवित रखने के लिए संजीवनी औषधि के समान, संसाररूपी समुद्र को तरने के लिए वृहन्नौका के समान, कामदेवरूपी दवानल को शान्त करने के लिए मेघसमूह के समान, चञ्चल इन्द्रियरूपी हरिणों को बाँधने के लिए जाल के समान, प्रबलकषायरूपी पर्वत को तोड़ने के लिए वज्र के समान, और मोक्षमार्ग में ले जाने के लिए नहीं थकने वाली खच्चरी के समान जो भावनाएँ हैं, उनकी चिन्ता नित्य करनी चाहिए, क्योंकि अनित्यादि भावनाओं से वासितान्तःकरण वाले मनुष्य के हृदय में विषयविकारादि दुर्गुण अवकाश नहीं पा सके। बौद्धशास्त्रकारों ने भी लिखा है कि 'अणिच्चा, दुक्खा, अणत्था' अर्थात् संसार अनित्य, अनेक दुःखों से पूरित और नाना अनर्थों का कारण है ऐसा विचार करने वाला पुरुष कभी विकारी और दुर्गुणी नहीं होता।

जिसके हृदय में आत्मचिन्तन (शुभभावना) नहीं है वह विषयाधीन हुए बिना नहीं रहता, इतना ही नहीं किन्तु वह विषयों के वशवर्ती हो वीर्यशक्ति को नष्टकर, उभय लोक से भ्रष्ट हो जाता है। है अतः उत्तमोत्तम पद की प्राप्ति के लिए अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन कर निरन्तर ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करते रहना चाहिए। भरत चक्रवर्ती को आरीसाभवन में, कूर्मापुत्र को गृहस्थावास में रहते हुए, गजसुकुमार को कार्बोत्सर्ग प्रतिमा में स्थित रहते हुए, कपिल को पुष्पवाटिका में, प्रसन्नचन्द्रराजर्षि को काउस्सग में रहते हुए, और मरूदेवी माता को हस्ती पर बैठे हुए इन्हीं अनित्यादि शुभ भावनाओं के चिन्तन करने से कैवल्यज्ञान उत्पन्न हुआ था। इन भावनाओं के चिन्तन से अनेक भव्य पूर्वकाल में मोक्ष के अधिकारी हुए और वर्तमानकाल में होते हैं तथा आगामी काल में होवेंगे। इसलिए सौन्दर्य सम्पन्न सुरभ्य तरूणास्त्रियों के मध्य में रहकर भी विकारी नहीं बनना चाहिए।

भगवान् नेमिनाथ स्वामी, श्री जम्बूस्वामी, श्री कूर्मापुत्र आदि अनेक महात्मा दुर्जय कामदेव को पराजय कर सर्वोत्तमोत्तम पद को अलङ्कृत करने वाले हुए हैं। जिन्होंने ब्रह्मचर्यरूपी कर्पूरसुगन्धि से सारे संसार को सुवासित कर दिया और अनेक भव्यों को भवाम्बुधि से पार कर शाश्वत सुख का भागी बनाया। इत्यादि अनेक दृष्टान्त शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं, परन्तु यहाँ पर केवल एक विजय कुँवर और विजयाकुँवरी का आश्चर्यजनक दृष्टान्त ही लिखा जाता है।

विजयकुँवर और विजयाकुँवरी -

सर्वदेश शिरोमणि 'कच्छ' देश में 'कौशाब्धी' नामक प्रख्यात और सत्सार्इश 'बकारों से सुशोभित नगरी में धर्मपरायण 'अर्हदास' नामक सेठ रहता था, उसके सत्री कुलशिरोमणि 'अर्हदासी' नामक स्त्री थी, उन दोनों के बीच में अनेक मनोरथों से त्रिभुवन में आश्वत्थोत्पादक और विनवादिसद्गुणगणालङ्कृत 'विजय' नामक पुत्र रत्न हुआ। वह अभ्यास के योग्य होने पर धर्माचार्य के पास पढ़ने लगा। एक समय धर्माचार्य ने कहा कि

हे आमुष्मन् ! इस दुःखात्मक संसार में ब्रह्मचर्य के सिवाय दूसरा कोई अमूल्य रत्न नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचर्य से अग्नि, जल सर्प-पुष्पमाला, सिंह-मृग, विष-अमृत, विघ्न-महोत्सव, शत्रु-भिन्न, समुद्र-तालाब और अरण्य धररूप बनजाते हैं। शील सम्पन्न पुरुष

(१) वापीवप्रविहारवर्णवनिता वापी वन वाटिका,

विद्वद्ब्राह्मणवादिवारिबिभुधा वेश्या वणिग्याहिनी।

विद्यावीर विवेक वित्त विनवा वाचंयमो वल्लिका,

यस्मिन् वारणवाजिकवाचिषया राज्यं तु पुष्कोभते ॥१॥

भावार्थ - राज्य निम्नलिखित सत्सार्इश वकारादि शब्द वाच्य पदार्थों से साङ्गोपाङ्गभूषित होकर शोभित होता है - अर्थात् वापी (वावड़ी) १, वप्र (प्राकार) २, विहार (चैत्य)

३, वर्ण (सुकलनीलादि द्रव्य) ४, वनिता (सामान्य स्त्री) ५, वापी

(वाकदूक-वाचाल) ६, वन (अरण्य) ७, वाटिका (ज्वालन - फुलवाड़ी), ८, विद्वान

(पंडित), ९, ब्राह्मण (ब्रह्मनिष्ठ) १०, वादी (बाद करने में कुशल) ११, वारि (जल)

१२, बिभुध (देवता) १३, वेश्या (वारम्हना) १४, वणिग् (बानिया), १५, वाहिनी

(सेना, अथवा नदी) १६, विद्या (कलाकौशल) १७, वीर (शूर) १८, विवेक

(सत्त्वासत्य का विचार), १९, वित्त (धन) २०, विनवा (नम्रता), २१, वाचंयम (साधु)

२२, वल्लिका (लताएँ) २३, वारण (इस्ती), २४, वाजी (घोड़ा), २५, वस्त्र (कपड़ा),

२६, और विषय (इन्द्रियभोग) २७।

सकल कर्मों का क्षय करके इन्द्र नरेन्द्रों का भी पूज्य बन जाता है।
कहा है कि -

अमराः किङ्करायन्ते, सिद्धयः सहसङ्गताः ।

समीपस्थायिनी संप - च्छीलालङ्कारशालिनाम् ॥१॥

भावार्थ - ब्रह्मचर्य रूप अलङ्कारों से सुशोभित पुरुषों के देवता किङ्कर (नौकर) बन जाते हैं, सिद्धियाँ साथ में रहती है, और संपत्तियाँ भी समीप में बनी रहती है।

जिन पुरुषों ने ब्रह्मचर्य का तिरस्कार किया उन्होंने जगत् में अपयश का डंका बजा दिया, गोत्र में स्याही का कलङ्क लगा दिया, चारित्र में जलाञ्जलि दे दी, अनेक गुणों के बगीचे में अग्नि लगा दी, समस्त विपत्तियों के आने के लिए संकेत स्थान बता दिया और मोक्षरूपी नगर के दरवाजे में मानो मजबूत किवाड़ लगा दिए।

इस प्रकार धर्माचार्य का सदुपदेश सुनकर विजयकुंवर ने स्वदारासन्तोषव्रत लिया और शुक्लपक्ष में तीनकरण और तीन योग से सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करने का दुर्द्धर नियम धारण किया।

उसी कौशाम्बी नगरी में 'धनावह' सेठ की 'धनश्री' नाम की स्त्री की कुक्षि से 'विजया' नामक पुत्री उत्पन्न हुई और वह अभ्यास के लायक अवस्था वाली होने पर आर्थिकाओं के पास विद्याभ्यास करने लगी। किसी समय प्रसंग प्राप्त आर्थिकाओं ने उपदेश देना शुरू किया कि -

हे बालिकाओं! संसार में स्त्रियों के लिए परम शोभा का कारण एक शीलव्रत ही है, जितनी शोभा बहुमूल्य रत्नजटित अलङ्कारों से नहीं होती उतनी शोभा स्त्रियों के शील परिपालन से

होती है। जो कुलवती स्त्रियाँ अखण्ड शीलव्रत को धारण करती हैं, उनकी व्याघ्र सर्प जल अग्नि आदिक से होने वाली विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, इनके आनन्द मंगल सदा बने रहते हैं, देवता उनके समीप ही रहते हैं, उनकी कीर्ति संसार में छाई रहती है, और स्वर्ग तथा मोक्ष के सुख अतिसमीप आ जाते हैं। शास्त्रकार महर्षियों का कथन है कि -

सीलं सत्तरोगहरं, सीलं आरूगकारणं परमं।

सीलं दोहगहरं, सीलं सिवमुक्खदायारं॥१॥

भावार्थ - शील प्राणियों का रोग हरण करने वाला, शील आरोग्यता का उत्कृष्ट कारण, शील दौर्भाग्य का नाशक और शील मोक्षसुख का देने वाला होता है।

अतएव स्त्रियों को शील की रक्षा करने में अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। जो स्त्रियाँ शील की सुरक्षा न कर कुशील सेवन किया करती हैं, वे उभयलोक में अनेक दुःख देखा करती हैं। जिस स्त्री का चाल चलन अच्छा होता है, उसकी सब कोई प्रशंसा करते हैं। दुश्चरित्रा स्त्रियों का न कोई विश्वास करता है और न कोई उनसे प्रीति ही रखता है।

आर्थिकाओं के इन सुबोध वचनों को सुनकर विजया ने 'स्वपतिसन्तोष व्रत' लिया और वह भी कृष्णपक्ष में सर्वथा ब्रह्मचर्य धारण करने का नियम स्वीकार किया। पाठकगण! यद्यपि ये दोनों कौमारावस्था में ही हैं तो भी दोनों ने कितना दुर्द्धर व्रत ग्रहण किया है? यही इनके सर्वोत्तमोत्तमता के लक्षण है।

भवितव्यता वशात् रूप, लावण्य और अवस्था समान होने से दोनों का विवाहसंयोग जोड़ा गया। माता पिताओं को दोनों

(बालक तथा बालिका) की प्रतिज्ञा की मालूम नहीं थी, इससे इनका परस्पर विवाह हो गया। रात्रि के समय विजया सोलह श्रृङ्गार सजकर और दिव्य वस्त्र धारण कर पति के शयनागार में प्राप्त हुई, तब विजयकुँवर ने अत्यन्त मधुर वचनों से कहा कि -

हे सुभगे! तू मेरा हृदय, जीव, उच्छ्वास और प्राण है, क्योंकि संसार में प्राणियों के प्रिया ही सर्वस्व है। तुम्हारे सदृश प्रियतमा को पाकर मैं स्वर्गलोक के सुखों को भी तृणसमान समझता हूँ। परन्तु शुक्लपक्ष में मैंने त्रिकरणशुद्धि पूर्वक सर्वतः ब्रह्मचर्य धारण किया है, अब केवल उस पक्ष के तीन दिन बाकी है, इसलिए उनके बीत जाने पर आनन्द का समय प्राप्त होगा। इस बात को सुनकर विजया दुःखी हुई।

तब विजयकुँवर ने दुःखी होने का कारण पूछा, जब हाथ जोड़कर विनयावनत हो विजया ने कहा कि -स्वामिन् ! मेरे भी कृष्णपक्ष में सर्वतः शील प्रालने का अभिग्रह लिया हुआ है, इससे आप दूसरी रमणी के साथ विवाह करिये, क्योंकि पुरुषों के अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं।

यह सुन विजयकुँवर बोला कि - हे सुशीले! मैं तो प्रथम ही दीक्षा लेने वाला था, परन्तु माता पिता ने हठ से विवाह कर दिया। इसलिए मुझे दूसरी स्त्री के साथ विवाह करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विषयसेवन से कुछ आयुवृद्धि नहीं होती, किन्तु बहुत काल पर्यन्त सेवन किए हुए भी विषय पर्यवसान (अन्त) में दुःखदायक ही होते हैं।

जिस विषय सेवन से कंप, थकावट, परिश्रम, मूर्छा, भ्रम, ग्लानि, बल का क्षय और क्षयरोग आदि अनेक विपत्तियाँ जाग

उठती हैं वह धर्मात्माओं को आनन्ददायक कैसे हो सकता है? अतएव संसार में खकू, चन्दन और अंगना आदि पुद्गलजनित विनाशी विषयसुख हैं, वे परमार्थतः दुःखरूप ही हैं, इसके त्रिकरणशुद्धि पूर्वक आजन्म पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन करूँगा। अपन दोनों का यथार्थ समागम पूर्वपुण्य के योग से ही प्राप्त हुआ है, लेकिन यह वृत्तान्त किसी को मालूम नहीं हो जाय तो अवश्य दीक्षा ले लेनी चाहिए।

अपने प्रियतम के इस प्रकार महोत्तम वचनों को सुनकर विजया अत्यानन्दित हुई और पति आज्ञा को शिरोधार्य किया। इस प्रकार ये दोनों (दम्पति) स्वजीवित की तरह ब्रह्मचर्य को परिपालन करने लगे।

अहा! हा! नवीन यौवन की फैलती हुई अवस्था में भी विवाह करके जिन्होंने सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन किया, यह आश्चर्य किसके हृदय को आनन्दित नहीं कर सकता? स्त्री के साथ एक ही सुकोमल शय्या के ऊपर शयन करना और फिर मदन के वशवर्ती न होना यह कितनी अमेय शक्ति है? श्रृंगार रूपी वृक्षों के लिए मेघ समान, रसिक क्रीड़ा का प्रवाहमय, कामदेव का प्रियबन्धु, चतुर वचनरूपी मोतियों का समुद्र, सौभाग्यलक्ष्मी का निधिभूत और स्त्रियों के नेत्ररूपी चकोरों को आनन्दित करने में पूर्णचन्द्र ऐसे नवीन यौवन को प्राप्त हुए सत्पुरुष मनोविकार की मलिनता से कलंकित नहीं बनते, अतएव उनकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।

ये दम्पति निर्विकारी और भावचरित्र की पात्रता को धारण कर उत्तमोत्तम शील विषयक विचार करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे।

इसी अवसर में चंपा नगरी में 'विमल केवली' पधारे। उनके संदुपदेशों को सुनकर जिनदास सेठ ने पूछा कि - स्वामिन्! चौरासी हजार तथारूप साधुओं को पारणा कराने का मैंने अभिग्रह लिया है, वह कब पूर्ण होगा?

विमलकेवली भगवान् ने कहा कि चौरासी हजार साधुओं का एकदम समागम मिलना दुर्लभ है, कदाचित् दैव योग से मिल भी जाय, तो इतने साधुओं के लिये एक ही घर में निर्दोष आहार का मिलना आकाश पुष्पवत् है। इसलिये कच्छदेशस्थ कौशाम्बी नगरी में स्थित शीलालङ्कारसुशोभित विजयकुँवर और विजयाकुँवरी की अशनादिक से भक्ति करो, उससे उतना ही पुण्य होगा, जितना तुम चाहते हो। कहा भी है कि -

चउरासीइ सहस्साणं, समणाणं पारणेणं जं पुण्णं।

तं किण्हसुक्कपक्खे सुस्मीलपिय कंतभत्तेण ॥१॥

भावार्थ - चउरासी हजार साधुओं को पारणा के दिन बहिराने से जो पुण्य होता है, उतना कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष में शीलप्रिय - विजयकुँवर और विजयाकुँवरी के भक्त को होता है।

इस बात को सुन 'जिनदास' कौशाम्बी नगरी में जाकर नागरिक लोगों के और उनके माता - पिताओं के आगे उन दोनों का दुर्द्धर आश्चर्योत्पादक चरित्र प्रकट करता हुआ और शुद्ध अन्न, पान, वस्त्र; आदिक से भक्ति कर अपने स्थान को पीछा लौट आया। तदनन्तर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई मानकर विजयकुँवर और विजयाकुँवरी पारमेश्वरी दीक्षा महोत्सवपूर्वक लेते हुए और निरतीचार चारित्र पालन कर मोक्ष धाम को प्राप्त हुए।

उत्तमोत्तम पुरुषों का स्वरूप -

एवंविह जुवइगओ, जो रागी हुज्ज कह वि इगसमयं

वीयसमयम्मि निंदइ, तं पावं सव्वभावेण ॥१७॥

एवंविधयुवतिगतो, यो रागी भवेत्कथमप्येकसमये ।

द्वितीयसमये निन्दति, तत्पापं सर्वभावेन ॥१७॥

भावार्थ - (एवंविह) इस प्रकार की सर्वोत्तम रूप वाली (जुवइगओ) स्त्रियों में प्राप्त (जो) जो पुरुष (कह वि) किसी प्रकार (इग समय) एक समय मात्र (रागी) विकारी (हुज्ज) हो (वीय समयम्मि) दूसरे समय में (तं) उस (पावं) पाप को (सव्वभावेण) सर्वभाव से (निंदइ) निन्दता है।

जम्मम्मि तम्मि न पुणो, हविज्ज रागी मणम्मि कया।

सो होइ उत्तमुत्तम-रूवो पुरिसो महासत्तो ॥१८॥

जन्मनि तस्मिन्न पुन-भवेद्रागी मनसि कदाचित्।

स भवत्युत्तमोत्तम-रूपः पुरुषो महासत्त्वः ॥१८॥

भावार्थ - (पुणो) फिर (तम्मि) उस (जम्मम्मि) जन्म में (कया) कभी (मणम्मि) मन में (रागी) विकारी (न) नहीं (हविज्ज) होवे (सो) वह (महासत्तो) महासत्त्ववान् (पुरिसो) पुरुष (उत्तमुत्तमरूवो) उत्तमोत्तमरूप (होइ) होता है, अर्थात् कहा जाता है।

भावार्थ - सर्वोत्तम रूप वाली स्त्रियों में प्राप्त पुरुष कदाचित् समय मात्र विकारी हो, दूसरे समय में संभलकर यदि पूर्ण भाव से उस पाप की निन्दा, अर्थात् पश्चाताप करता है और फिर जन्म पर्यन्त जिसका मन विकाराधीन नहीं होता, वह मनुष्य उत्तमोत्तम और महाबलवान् कहा जाता है।

विवेचन - स्त्रियों का स्मरण न करना, स्त्रियों के श्रृङ्गारादि का गुण वर्णन न करना, स्त्रियों के साथ हास्य कुतूहल न करना,

स्त्रियों के अङ्ग प्रत्यङ्ग का अवलोकन न करना, स्त्रियों से एकांत में बात न करना, स्त्री-संबंधी कल्पना मन में न लाना, स्त्रियों से मिलने का संकेत न करना और स्त्रियों से शारीरिक संग न करना, यही ब्रह्मचारी पुरुषों का मुख्य कर्तव्य है। जो लोग इससे विपरीत बर्ताव करते हैं, उनका ब्रह्मचर्य खंडित हुए बिना नहीं रहता।

इसीसे महर्षियों ने कहा है कि जिस प्रकार मूसे को बिल्ली रका, मृग को सिंह का, सर्प को मयूर का, चोर को राजा का, मनुष्यादि प्राणियों को कृतान्त (यम) का और कामी को लोकापवाद का भय रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुषों को स्त्रियों से नित्य भय रखना चाहिए, क्योंकि स्त्रियाँ स्मरण मात्र से मनुष्यों के प्राण हर लेती हैं, अतएव मनुष्यों को चाहिये कि अपनी योग्यता उच्चतम बनाने के लिये मन को विषय विकारों से हटाने का अभ्यास करें, क्योंकि 'अप्पवियारा बहुसुहा' जो अल्प विकारी होते हैं, वे जीव बहुत सुखी हैं, ऐसा शास्त्रकारों का कथन है।

कदाचित् संयोगवश मानसिक विकार कभी सतावें, तो उनको शीघ्र रोकने की तजबीज करना चाहिये।

अर्थात् स्त्रियों के रूप वगैरह देखने से जो मानसिक विकार उत्पन्न होवे, तो यह विचार करना चाहिये कि स्त्रियाँ मेरा कल्याण नहीं कर सकतीं, किन्तु मुझे इनके संयोग और वियोग से जिस समय अनेक दुःख होंगे, उस समय स्त्रियाँ कुछ सहायक नहीं हो सकेंगी। स्त्रियों में फँसने से पहले संकट भोगने पड़ते हैं, फिर कामभोग मिलते हैं, अथवा प्रथम कामभोग मिले, तो पीछे से संकट भोगना पड़ते हैं, क्योंकि स्त्रियाँ कलह को उत्पन्न करने वाली होती

हैं। विषयों में आसक्त रहने से नरकादि गतियों का अनुभव करना पड़ता है, अतएव विषयों में चित्त को जोड़ना ठीक नहीं है।

जो पुरुष युवतिगत मनोविकार को शीघ्र खींच कर फिर संभल जाते हैं और फिर आजन्म विषयादि विकारों के आधीन न हो अखंड ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, वे पुरुष 'रथनेमि' की तरह उत्तमोत्तम कोटि में प्रविष्ट हो सकते हैं, क्योंकि पड़कर संभलना बहुत मुश्किल है, यहाँ पर इसी विषय को दृढ़ करने के लिए रथनेमि का दृष्टांत लिखा जाता है -

जिस समय भगवान् 'अरिष्टनेमि' ने राज्यादि समस्त परिभोगों का त्याग कर संयम स्वीकार किया, तब उनका बड़ा भाई रथनेमि काम से पीड़ित हो सतीशिरोमणि बाल ब्रह्मचारिणी रूप सौभाग्यान्विता 'राजीमती' की परिचर्या करने लगा। रथनेमि का अभिप्राय यह था कि यदि मैं राजीमती को संतुष्ट रखूँगा, तो वह मेरे साथ भोग विलास करेगी, परन्तु राजीमती तो भगवान् के दीक्षा लेने के बाद बिलकुल भोगों से विरक्त हो गई थी।

रथनेमि का यह दुष्ट अध्यवसाय राजीमती को मालूम हो गया, इससे वह एक दिन शिखरिणी का भोजन करके बैठी थी, उसी समय रथनेमि उसके पास आया, तब राजीमती ने मयणफल को सूँघकर खाये हुए भोजन का वान्त किया और कहा कि - हे रथनेमि ! इस वान्त शिखरिणी को तू खाले। रथनेमि ने कहा - यह भोजन क्या खाने योग्य है ? भला ! इसे मैं कैसे खा सकता हूँ ?

राजीमती ने कहा जो तू रसनेन्द्रियविषयभूत शिखरिणी को नहीं खा सकता, तो भगवान् अरिष्टनेमिजी की दृष्टि से उपयुक्त मेरी

वाँछा क्यों करता है ? क्या यह अकार्य करना तुझको उचित है।
इसलिये -

धिरत्यु तेऽजसोकामी !, जो तं जीवियकारणा।

वंतं इच्छसि आवेड; सेयं तं मरणं भवे ॥७॥

भावार्थ - हे अयशस्वामिन् ! तेरे पौरुषत्व को धिक्कार हो, जो तू असंयम से जीने की इच्छा से वान्तभोगों के भोगने की इच्छा करता है। मर्यादा उल्लंघन करने से तो तेरा मरना ही कल्याण रूप है, अर्थात् अकार्य प्रवृत्ति से तेरा कल्याण नहीं होगा, क्योंकि जलती हुई अग्नि में पैठना अच्छा है, परन्तु शीलस्खलित जीवित अच्छा नहीं है।

राजीमती के ऐसे वचन प्रहारों से संभलकर रथनेमि वैराग्य से दीक्षित हुआ। उधर राजीमती ने भी संसार को असार जानकर चारित्र प्रहण कर लिया। एक समय रथनेमि द्वारावती नगरी में गोचरी लेने को गया, वहाँ ऊँच-नीच, मध्यम कुलों में पर्यटन कर पीछा भगवान् के पास आते हुए रास्ते में वर्षा बरसने से पीड़ित हो, एक गुहा में ठहर गया। इतने में राजीमती भी भगवान् को वन्दन कर पीछी लौटी और वर्षा बहुत होने लगी, इससे 'वर्षा जब तक बंद न हो, तब तक कहीं ठहरना चाहिये ?' ऐसा विचार करके जिस गुहा में रथनेमि था, उसी में आई और भीजे हुए कपड़ों को उतार कर सुखाने लगी।

दिव्यरूपधारिणी संयती के अङ्ग प्रत्यङ्गों को देखकर रथनेमि फिर कामातुर हो भोगों के लिए प्रार्थना करने लगा, तब संयती राजीमती ने धैर्य धारण कर कहा कि -

अहं च भोगरावस्स, तं च सि अंधगविहणणो।

मा कुले गंधणे होमो, संजमं निहुओ चर ॥८॥

भावार्थ - हे रथनेमि ! मैं उग्रसेन राजा की पुत्री हूँ और तू समुद्रविजय राजा का पुत्र है, इससे ऐसे प्रशस्तकुल में उत्पन्न हो विषसदृश वान्त विषयरस का पानकर स्व स्व उत्तम कुल के विषे गंधनजाति के सर्पसमान नहीं होना चाहिये, अतएव मन को स्थिर कर संजम को आचरण कर, अर्थात् निर्दोष चारित्र पालन कर।

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।

वायाविद्दु व्व हडो, अट्टिअप्पा भविस्ससि ॥९॥

भावार्थ - तू जिन-जिन स्त्रियों को देखेगा, उन्हीं स्त्रियों के विषय में 'यह सुन्दर है, यह अति सुन्दर है' इस वास्ते इसके साथ काम-विलास करूँगा, इस प्रकार के भावों को जो करेगा, तो पवन से ताड़ित नदीजलोपरिस्थिति हड नामक वनस्पति के समान अस्थिरात्मा होगा, अर्थात् संयम में जिसकी आत्मा स्थिर नहीं है, उसको प्रमादरूप पवन से ताड़ित हो संसार में अनन्तकाल तक इधर-उधर अवश्य घूमना पड़ेगा।

संयती राजीमती के वैराग्यजनक सुभाषित वचनों को सुनकर 'रथनेमि' ने अंकुश से जैसे हस्ती स्वभाव स्थित होता है, वैसे ही विषयों से जीवित पर्यन्त विरक्त हो संयमधर्म में अपनी आत्मा को स्थिर किया।

यहाँ पर यह शंका अवश्य होगी कि जो चारित्र लेकर विषयाभिलाषी होवे, और फिर भ्रातृपत्नी के साथ कामसेवन की इच्छा रखे, सो नितांत अनुचित है, अतएव उसको पुरुषोत्तम कहना ठीक नहीं है ?

इसका समाधान टीकाकार महर्षियों ने ऐसा किया है कि - कर्म की विचित्रता से रथनेमि को विषय अभिलाषा तो हुई, परन्तु उसने इच्छा रूप विषयों को सेवन नहीं किया, परन्तु राजीमती के

वचन प्रहारों से फिर संभलकर विषय विरक्त हो गया, अतएव रथनेमि पुरुषोत्तम ही है, क्योंकि जो मनुष्य अकार्य में प्रवृत्ति पर बैठता है, वह पुरुषोत्तम नहीं कहा जा सकता।

इसलिये जो पुरुष विकाराधीन होकर अकार्य में नहीं फँसता, किन्तु सावधान हो आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करता रहता है, वह 'उत्तमोत्तम' ही है। वास्तव में कभी विकाराधीन न होना सर्वोत्तमोत्तम है, परन्तु कदाचित् प्रसंगवश चित्त चल-विचल हो जाय, तो उसको शीघ्र रोककर शुभ विचारों में प्रवृत्ति करना चाहिये, क्योंकि जैसे जल से सरोवर, धन से प्रभुता, वेग से अश्व, चन्द्र से रात्रि, जीव से शरीर, सदगुण से पुत्र, उत्तमरस से काव्य, शीतल छाया से वृक्ष, लवण से व्यंजन और प्रेम से प्रमदा शोभित है, उसी तरह उत्तम विचारों से मनुष्य की शोभा होती है। अतएव सदगुण की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को निरंतर अपने विचारों को सुधारते रहना चाहिये। जो विचारों को सुधारता रहता है, उसको विषयादि विकार कभी नहीं सताते। विचार का दूसरा नाम भावना है। भावना दो प्रकार की है - एक तो शुभ भावना और दूसरी अशुभ भावना।

पूर्व वर्णित मैत्री आदि शुभ और क्रोध आदि अशुभ भावना कही जाती है। शुभ भावनाओं से आत्मा निर्विकारी और अशुभ भावनाओं से विकारी होता है। ब्रह्मचारियों को नित्य शुभ भावनाओं की ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये, जिससे आत्मा निर्विकारी बन उत्तमोत्तम बने, क्योंकि निर्विकारी मनुष्य ही आर्त्त रौद्र ध्यान, मद मात्सर्य आदि दोषों से रहित हो अपना और दूसरों का कल्याण कर उत्तमोत्तम पर विलासी बन सकता है।

उत्तम पुरुषों के लक्षण -

पिच्छिय जुवईरूवं, मणसा चितेइ अहव खणमेगं।

जो नायरइ अकज्जं, पत्थिज्जंतो वि इत्थीहिं ॥१९॥

साहू वा सड्डो वा, सदारसंतोससायरो हुज्जा।

सो पुण उत्तमाणुओ, नायव्वो थोवसंसारो ॥२०॥

प्रेक्ष्य युवतीरूपं, मनसा चिन्तयत्यथवा क्षणमेकम्।

यो नाचरत्यकार्यं, प्रार्थ्यमानोऽपि स्त्रीभिः ॥१९॥

साधुर्वा श्राद्धो वा, स्वदारसन्तोषसादरो भवेत्।

स पुनरुत्तममनुष्यो, ज्ञातव्यः स्तोकसंसारः ॥२०॥

शब्दार्थ - (जो) जो (साहू) साधु (जुवईरूवं) स्त्रियों के रूप को (पिच्छिय) अवलोकन कर (खणमेगं) क्षण मात्र (मणसा) मनसे (चितेइ) विषय की चिन्ता करता है (अहव) अथवा (इत्थीहिं) स्त्रियों से (पत्थिज्जंतो वि) प्रार्थित - याचित होने पर भी (अकज्जं) अकार्य को (नायरइ) नहीं आचरण करता ॥१९॥ (साहू) साधु (वा) अथवा (सड्डो) श्रावक (सदारसंतोससायरो) स्वस्त्री में अतीव संतोषी (हुज्जा) हो (सो) वह साधु और श्रावक (थोवसंसारो) अल्पसंसारी (उत्तमणुओ) उत्तम मनुष्य (नायव्वो) जानना चाहिये।

भावार्थ - युवावस्थावाली रूपवती स्त्रियों को अवलोकनकर क्षणभर मन से विषय भोग की इच्छा अथवा स्त्रियों से भोग के लिए प्रार्थित होने पर भी जो पुरुष विषयाचरण नहीं करता, किन्तु साधु हो तो स्वकीय ब्रह्मचर्य व श्रावक हो, तो ब्रह्मचर्य अथवा स्वदारसन्तोष व्रत पालन करता रहता है, वह 'उत्तम' पुरुष कहा जाता है।

विवेचन - जिन साधु अथवा स्वदारसंतोषी श्रावकों का चित्त युवतियों के रूप, हाव, भाव आदि को देखकर चल-विचल नहीं

होता, वे महापुरुष उत्तम कोटि में समझे जा सकते हैं। इससे यह बात सिद्ध हुई कि साधुओं को संसारावस्था में रमणियों के साथ की हुई काम क्रीड़ा का स्मरण न कर और सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन कर वीर्यरक्षा करने में उद्यत रहना चाहिए, क्योंकि जिसने वीर्यरक्षा नहीं की, वह धर्म के ऊँचे सोपान पर चढ़ने के लिये असमर्थ है। वीर्य मनुष्य के शरीर का राजा है, जैसे राजा बिना राज्य व्यवस्था नहीं चल सकती, वैसे ही वीर्यहीन मनुष्य प्रभा रहित हो कम हिम्मत होता है, इससे वह अपनी आत्मशक्ति का विकास भले प्रकार नहीं कर सकता। इसी से श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने लिखा है कि -

“प्रत्यातु लक्ष्मीश्चपलस्वभावा, गुणा विवेकप्रमुखाः प्रयान्तु।

प्राणाश्च गच्छन्तु कृतप्रयाणाः, मा यातु सत्त्वं तु नृणां कदाचित्” ॥ १ ॥

भावार्थ - चाहे चपल स्वभावी लक्ष्मी चली जाय, चाहे विवेक आदि गुण चले जायँ और प्रयाणोन्मुख प्राण भी चले जायँ, परन्तु मनुष्यों का सत्त्व-वीर्य कभी नहीं जाना चाहिये, क्योंकि वीर्य रक्षा की जायगी, तो विवेक प्रमुख सभी गुण स्वयं उत्पन्न हो जायँगे।

वीर्य रक्षा करना सर्वोत्तम गुण है, इसी से दुर्जय कर्मों का नाश होकर परमानन्द पद प्राप्त होता है। अतएव व्याख्यान देने वालों को इस गुण की आवश्यकता है तथा लिखने वालों को, युद्ध वीरों को और वादवीरों को इसी गुण की आवश्यकता है। मुनिजन भी इस गुण के बिना आत्म कल्याण और देशोपकार नहीं कर सकते। कोई भी महत्व का कार्य जिसको देखकर लोक आश्चर्यावित हों, वह वीर्यरक्षा के अभाव में पूर्ण नहीं हो सकता। पूर्व समय में मनुष्यों की दिव्यशक्ति, उनका अभ्यास और उनकी स्मरणशक्ति, इतनी प्रबल

थी कि जिसको सुनने से आश्चर्य और संशय उत्पन्न होता है, लेकिन इस समय ऐसा न होने का कारण शारीरिक निर्बलता अर्थात् वीर्य रक्षा न करना ही है। पूर्व पुरुषों में वीर्यरक्षा (ब्रह्मचर्य) रखने का सद्गुण महोत्तम प्रकार का था, इससे वे आश्चर्यजनक कार्यों को क्षण मात्र में कर डालते थे। इसलिये साधुओं को उचित है कि सर्वप्रकारेण ब्रह्मचर्य पालन करते रहें, किन्तु विषयाधीन न हों।

इसी तरह श्रावकों को भी ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये, परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करना बड़ा कठिन है, इससे यदि सर्वथा ब्रह्मचर्य न पाला जा सकता हो, तो स्वदारसन्तोषव्रत धारण करना चाहिये, क्योंकि प्राण संदेह को उत्पन्न करने वाला, उत्कृष्ट वैर का कारण और दोनों लोक में विरुद्ध पर-स्त्रीगमन, बुद्धिमानों को अवश्य छोड़ने के योग्य है। पर-स्त्रीगामी का सर्वस्व नष्ट होता है, बधव्यनादि कष्ट में पड़कर आखिर नरक का अतिथी बनना पड़ता है। पर-स्त्रियों में रमण करने की इच्छा विश्वविजयी रावण, कीचक, पद्मोत्तर और ललिताङ्ग आदि अनेक लोग निन्दा के पात्र बनकर दुःखी हुए हैं। अतएव अतिलावण्यवती, सौन्दर्य सम्पन्न और सकल कलाओं में निपुण भी जो परस्त्री हो, तो भी वह त्याग करने ही के लायक हैं। जब शास्त्रकार स्वस्त्री में भी अति आसक्त रहना वर्जित करते हैं, तो पर-स्त्रीगमन की बात ही क्या है ? वह तो सर्वथा त्याज्य ही है।

“तुम्हें जिस वीर्य या पराक्रम की प्राप्ति हुई है, वह तुम्हारी और दूसरों की उन्नति करने के लिये सबसे प्रधान और उत्तम साधन है। उसको पाशविक प्रवृत्तियों के संतुष्ट करने में मत खोओ। उच्च आनन्द की पहचान करना सीखो, यदि बन सके, तो अखण्ड ब्रह्मचारी रहो, नहीं तो ऐसी स्त्री खोजकर अपनी सहचारिणी बनाओ,

जो तुम्हारे विचारों में बाधक न हो और उसी से संतुष्ट रहो। अगर सहचारिणी बनने के योग्य कोई न मिले या मिलने पर वह तुमको प्राप्त न हो सके, तो अविवाहित रहने का ही प्रयास करो। विवाहित स्थिति चारों तरफ उड़ती हुई मनोवृत्तियों को रोकने के लिए संकुचित या मर्यादित करने के लिये है, वह यदि दोनों के या एक के असंतोष का कारण हो जाय, तो उलटी हानिकारक होगी। अतः अपनी शक्ति, अपने विचार, अपनी स्थिति, अपने साधन और पात्र की योग्यता आदि का विचार कर के ही व्याह करो; नहीं तो कुँवारे ही रहो। यह माना जाता है कि विवाह करना ही मनुष्य का मुख्य नियम है और कुँवारा रहना अपवाद है; परन्तु तुम्हें इसके बदले कुँवारा रहकर ब्रह्मचर्य पालना या सारी अथवा मुख्य-मुख्य बातों की अनुकूलता होने पर व्याह करना, इसे ही मुख्य नियम बना लेना चाहिये। विवाहित जीवन को विषय वासनाओं के लिए अमर्यादित, यथेच्छ स्वतंत्र मानना सर्वथा भूल है। वासनाओं को कम करना और आत्मिक एकता करना सीखो। अश्लील शब्दों से, अश्लील दृश्यों से और अश्लील कल्पनाओं से दूर रहो। तुम किसी के सगाई ब्याह मत करो, क्योंकि तुम्हें इसका किसी ने अधिकार नहीं दे रखा है। विवाह के आशय को नहीं समझने वाले और सहचारीपन के कर्तव्य को नहीं पहचानने वाले पात्रों को जो मनुष्य एक-दूसरे की बलात् प्राप्त हुई दासता या गुलामी में पटकता है, वह चौथे व्रत का अतिक्रम करता है, दया का खून करता है और चोरी करता है।”

मन को स्त्रीसमागम से दूर रखना, स्त्रियों के साथ रागदृष्टि से बातचीत न करना, काम विकार के नेत्रों से स्त्रियों को न देखना तथा स्त्रियों का स्पर्श न करना, ये अथवा ब्रह्मचर्य और विवाह हुए

बाद स्वस्त्री में तथा स्त्री को स्वपति में, जो संतोष हो, वही 'शील' कहा जाता है।

हर एक पुरुष को कौमारावस्था में अठारह या बीस तथा स्त्री को सोलह वर्ष तक तो अवश्य ब्रह्मचर्य परिपालन करना चाहिये। विवाह के अनन्तर पुरुषों को स्वदार और स्त्रियों को स्वपति में संतोष व्रत धारण करना चाहिये। जहाँ पर पुरुष स्त्रियों में शील दृढ़ता का सद्गुण होता है, वहाँ निरन्तर अटूट स्नेह भाव बना रहता है और जो पुरुष पर-स्त्रियों में तथा स्त्रियाँ पर-पुरुषों में आसक्त हैं, वे अनेक जन्म तक क्लीबता, तिर्यक् योनि में उत्पत्ति, दौर्भारय, निर्बलता और अपमान आदि विपत्तियों के पात्र बनकर दुःखी होते हैं।

शील परिपालन से शरीर पूर्ण निरोगी और तेजस्वी बनता है, इसलिये शीलवान् विद्युत की तरह दूसरों के चित्त को अपने तरफ खींचकर सुशील और सद्गुणी बना सकता है। संसार में जो जो पुरुष पराक्रमी तथा महत्कार्यकर्ता हुए हैं, वे शील के प्रभाव से ही प्रख्यात हुए हैं। स्वदार सन्तोषी मनुष्य यदि दीक्षा लेकर भी संयोगवश विकारी होगा, तो भी वह अपनी योग्यता और उत्तमता का विचार कर अकार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा और न उसको कोई स्त्री मोहपाश में डाल सकेगी, क्योंकि वह स्त्रियों से निरन्तर बचकर रहता है।

अब मध्यपुरुषों का स्वरूप कहते हैं -

पुरिसत्थेसु पवद्भुइ, जो पुरिसो धम्मअत्थपमुहेसु।

अन्नोन्नमव्वाबाहं, मज्झिमरूवो हवइ एसो ॥२१॥

पुरुषार्थेषु प्रवर्तते, यः पुरुषो धर्मार्थप्रभुखेषु ।

अन्योऽन्यमव्वाबाधं, मध्यमरूपो भवत्येषः ॥२१॥

शब्दार्थ - (जो) जो (पुरिसो) मनुष्य (धम्मअत्थपमुहेसु) धर्म अर्थ प्रमुख (पुरिसत्थेसु) पुरुषार्थों में (अन्नोन्नं) परस्पर (अव्वाबाहं) बाधारहित (पवट्टइ) प्रवृत्ति करता है, (एसो) वह (मज्झमरूवो) मध्यम रूप (हवइ) होता है।

भावार्थ - जो धर्म, अर्थ और काम; इन तीन पुरुषार्थों को परस्पर बाधा रहित साधन करता है, वह 'मध्यमपुरुष' कहलाता है।

विवेचन - धर्म, अर्थ और काम को किसी प्रकार की बाधा न पड़े, इस प्रकार तीनों पुरुषार्थों का उचित सेवन करने वाले मनुष्य मध्यमभेद में गिने जाते हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट जान पड़ती है कि ऐसा पुरुष मार्गानुसारी गुणों के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि 'धर्म, अर्थ और काम को परस्पर बाधारहित सेवन करना' यह मार्गानुसारी गुणों में से इक्कीसवाँ गुण है, अतएव मार्गानुसारी सदाचारप्रिय और मध्यस्थ स्वभाव वाले पुरुष मध्यमभेद में गिने जा सकते हैं। हर एक धर्म से सार-सार तत्त्व को खींच लेना, सदाचार सम्पन्न मनुष्यों के सद्गुणों पर अनुरागी बनना और कलह से रहित हो समान दृष्टि रहना यह मार्गानुसारी पुरुषों का ही काम है। मार्गानुसारी पुरुषों का हृदय आदर्श के समान है, उसमें सद्गुणों का प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रह सकता और वह प्रतिबिम्ब प्रतिदिन बढ़ता ही रहता है। मार्गानुसारी पुरुषों को आत्मा महान् कार्य सम्पादन के लिये या अनन्त या असंख्य भवों की व्याधि मिटाने के लिये और आत्मशक्ति, विचारबल या नीतिशास्त्र का विकास करने के लिए समर्थ होता है। इसलिये प्रसंग प्राप्त मार्गानुसारी गुणों का स्वरूप लिखा जाता है, जिसको मनन करने से मनुष्य सुगमता से उच्चकोटि में प्रवेश कर सकता है।

“न्यायसम्पन्नविभवः, शिष्टाचार प्रशंसकः ।

कुलशीलसमैः सार्धं, कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ॥१॥”

१. ‘न्याय सम्पन्न विभवः’ - प्रथम न्यायोपार्जित द्रव्य हो, तो उसके प्रभाव से सभी सदगुण प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु न्याय को जाने बिना न्याय का पालन भले प्रकार नहीं हो सकता, अतएव न्याय का स्वरूप यह है कि “स्वामिद्रोहपमित्रद्रोहविश्वसितवञ्चनचौर्याऽऽदिगर्हार्थोपार्जन परिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्याय इति।” अर्थात् स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वस्त पुरुषों का वञ्चन और चोरी आदि निन्दित कर्मों से द्रव्य उपार्जन करना इत्यादि कुकर्मों का त्याग कर अपने-अपने वर्णानुसार जो सदाचार है, उसका नाम न्याय और उससे प्राप्त जो द्रव्य है, उसका नाम ‘न्याय सम्पन्न द्रव्य’ है। न्यायोपार्जित द्रव्य उभय लोक में सुख कारक और अन्यायोपार्जित द्रव्य दुःखदायक होता है।

अन्याय से पैदा की हुई लक्ष्मी का परिभोग करने से बध बंधन आदि राजदण्ड और लोकापमान होता है और परलोक में नरक, तिर्यञ्च आदि दुर्गतिथों में वेदना का अनुभव करना पड़ता है। लोगों में यह भी शङ्का होती है कि इसके पास बिलकुल द्रव्य नहीं था, तो क्या किसी को ठगकर या चोरी करके द्रव्य लाया है ? कदाचित् प्रबल पुण्य का उदय हुआ, तो इस लोक में तो लोकापमान या राजदण्ड नहीं होगा, किन्तु भवान्तर में तो उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

यह तो निःसंशय कहा जा सकता है कि जो अन्यायोपार्जित द्रव्य का परिभोग करता है, उसकी सुबुद्धि नष्ट होकर अकार्य में प्रवृत्ति करने को दौड़ा करती है। इसी विषय को दृढ़ करने के लिए शास्त्रकारों ने एक उदाहरण दिया है कि -

किसी राजा ने राजमहल बनाने के लिए ज्योतिषियों को बुलाकर कहा कि - खात मुहूर्त किस रोज करना चाहिये ? कोई ऐसा मुहूर्त निकालो, जिससे कि हमारी संतति राजभवन में रहकर सुखपूर्वक चिरकाल राज्य करे। राजा के पूछते ही ज्योतिषियों ने सर्वोत्तम खात मुहूर्त निकाल दिया। मुहूर्त के एक दिन पेस्तर नगर में यह उद्घोषणा कराई गई कि - कल राजमहल बनाने का खात मुहूर्त है, इसलिये वहाँ सभी को हाजिर होना चाहिये। इस उद्घोषणा को सुनकर दूसरे दिन सेठ - साहूकार आदि सैकड़ों लोग इकट्ठे हुए।

राजा ने ज्योतिषियों से कहा कि - अब मुहूर्त में कितना समय घटता है ? ज्योतिषी बोले कि चार घड़ी। राजा ने कहा यदि इस समय में कोई वस्तु विधि कराने के लिए चाहिये तो कहो। ज्योतिषियों ने कहा - महाराज ! खात मुहूर्त के वास्ते पाँच जाति के पाँच रत्न चाहिये, जो कि न्यायोपार्जित हों। राजा ने अपने भंडार से लाने को कहा। इतने में ज्योतिषियों ने कहा कि - राजन ! राज्यलक्ष्मी के विषय में तत्त्ववेत्ता पुरुषों का अभिप्राय कुछ और ही है, अतएव किसी व्यापारी के यहाँ से मँगवाना चाहिये। राजा के पास हजारों व्यापारी उपस्थित थे, उनके तरफ राजा ने देखा, किन्तु कोई व्यापारी बोला नहीं। तब मंत्री ने कहा - जो कोई नीतिपूर्वक व्यापार करता हो, उसको आज राजवल्लभ बनने का समय है, परन्तु सब कोई अपने-अपने कर्तव्यों को जानते हैं, जो कभी स्वप्न में भी नीतिपथ

के दर्शन नहीं करते, वे यदि नीतिज्ञ बनना चाहें, तो कैसे बन सकते हैं ? सब लोग मौन पकड़कर चुपचाप बैठे रहे, तब राजा ने कहा - क्या मेरे शहर में कोई भी नीति से व्यापार करने वाला नहीं है ? इतने में एक प्रामाणिक मनुष्य ने कहा कि - राजन् ! 'पाप जाने आप और माँ जाने बाप' इस लोकोक्ति के अनुसार यहाँ उपस्थित सभी साहूकार अन्यायप्रिय मालूम पड़ते हैं, लेकिन इस शहर में 'लल्लणसेठ' कभी अनीति का व्यापार नहीं करता, किन्तु इस समय वह यहाँ हाजिर नहीं है।

इस बात को सुनकर राजा ने सेठ को बुलाने के लिए सवारी सहित मंत्री को उसके घर पर भेजा। मंत्री ने सेठ के घर पर जाकर कहा - सेठजी चलिये, आपको राजा साहब बुलाते हैं, इसीलिये यह सवारी भेजी है। सेठ आनन्दित हो कपड़ा पहनकर चलने के लिए तैयार हुआ। मंत्री ने वगधी में बैठने को कहा। तब सेठ ने जवाब दिया कि इसके घोड़े मेरा दाना-पानी नहीं खाते, अतएव इसमें मैं नहीं बैठ सकता, मैं तो पैदल ही चलूँगा, ऐसा कहकर प्रधान के साथ सेठ पैदल चलकर राजा के पास आया और राजा को नमस्कार कर उचित स्थान पर बैठ गया।

राजा ने सेठ से कहा कि - तुम्हारे पास न्याय सम्पन्न विभव है, इससे खात मूर्हत के लिए पाँच जाति के पाँच रत्न चाहिये। सेठ ने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा कि - राजन् ! नीति का द्रव्य अनीति मार्ग में नहीं लग सकता। सेठ का वचन सुनते ही राजा सरोष हो बोला कि तुम्हें रत्न देना पड़ेंगे ? सेठ बोला - स्वामिन् ! यह घरबार सब आपका ही है, आप चाहें जब ले सकते हैं। इतने में ज्योतिषियों ने कहा कि - 'हुजूर ! यों लेना भी तो अन्याय है,

क्योंकि जब तक सेठ प्रसन्न होकर अपने हाथ से न देवे और वे जबरदस्ती लिये जायें तो अन्याय नहीं तो और क्या है ? राजा ने कहा कि इस बात में प्रमाण क्या है कि - राज द्रव्य अन्यायोपार्जित है ? ज्योतिषियों ने कहा - राजन् ! इसकी परीक्षा करना यही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

राजा ने प्रधान को एक सेठ की और एक अपनी सोना मोहर, निशान करके दी। प्रधान ने अपने नौकरों को बुलाकर कहा कि ये दो सोना मोहर दी जाती हैं, इसमें से एक किसी पापी को और एक धर्मात्मा तपस्वी को देना। दोनों नौकर एक-एक सोना मोहर को लेकर गाँव के बाहर जुदे-जुदे रास्ते होकर निकले। जिसके पास सेठ की सोना मोहर थी, वह रास्ते में जा रहा था कि इतने में तो सामने कोई मच्छीमार मिला, उसे देखकर विचारा कि इससे बढ़कर पापी कौन होगा ? क्योंकि यह प्रातःकाल उठकर जलाशय में रहने वाली निरपराध मछलियों को पकड़कर मारता है। अतएव यह सोना मोहर इसे ही दे दूँ, ऐसा विचार करके सोना मोहर उस मच्छीमार को दे दी।

मच्छीमार को सोना मोहर प्रथम ही प्राप्त हुई है, इससे उसने विचारा कि इसको कहाँ रक्खूँ, क्योंकि वस्त्र में तो मेरे पास एक लंगोट ही है, इसलिये इसमें बाँधना तो ठीक नहीं। बहुत विचार करने पर अन्त में उसको अपने मुँह में रख ली। आगे चलते ज्यों ही उस न्यायोपार्जित सोना मोहर का अंश शूक के साथ पेट में गया कि मच्छीमार की विचारश्रेणी बदल गई। मच्छीमार मन ही मन में विचार करने लगा कि - अहो ! यह किसी धर्मात्मा ने मुझको धर्म जानकर दी है, इसके कम से कम पन्द्रह रुपए आएँगे, किन्तु इन

मछलियों के तो दो-चार आने मुश्किल से मिलेंगे, हाल मछलियाँ मरी नहीं है, तो इतना पुण्यदाता को ही हो। ऐसा समझकर मच्छीमार जलाशय में मछलियों को छोड़ आया और बाजार में आकर सोनामोहर के पन्द्रह रुपया लिये, उसमें से एक रुपया का ज्वार, बाजरी वगैरह धान्य लेकर घर आया।

इसे देखकर लड़के और स्त्री विचार में पड़े, देखो निरन्तर यह बारह बजे घर आता था और थोड़ा-सा धान्य लाता था, आज तो विकसित-वदन हो, बहुत धान्य लेकर जल्दी आया है। इस प्रकार मन में ही विचार कर उस धान्य को सबने कच्चा ही फाकना शुरू कर दिया, उसका असर होते ही स्त्री ने कहा कि - आज इतना ध्यान कहाँ से लाये ?

मच्छीमार ने कहा कि - एक धर्मात्मा ने मुझको सोना मोहर बिना माँगे ही दी थी उसको बटाकर एक रुपये का तो धान्य लाया हूँ और चौदह रुपये मेरे पास हैं। उनको देख कर लड़के और स्त्री ने कहा कि अब दो महीना की खरची तो अपने पास मौजूदा है, तो रात्रि में तालाब पर जाना और निरपराधी जन्तुओं का नाश करना यह नीच कर्म करना ठीक नहीं है। इससे तो मजुरी करना सर्वोत्तम है। सभी ने ऐसा विचार किया और मच्छीमारों का मुहल्ला छोड़कर साहूकारों के पड़ोस में जा बसे। इस तरह यावज्जीवन पर्यन्त नीचकर्म से विरक्त हो, आनन्दपूर्वक मजुरी से अपना निर्वाह करने लगे।

इसी तरह दूसरा मनुष्य राजा की सोना मोहर लेकर एक ध्यानस्थ योगी के पास आया और उसे धर्मात्मा तपस्वी जानकर मोहर उसके सामने रख दी और किसी वृक्ष के नीचे बैठकर उसकी व्यवस्था देखने लगा।

योगीजी ने ध्यान समाप्त कर देखा, तो सामने मोहर पड़ी है, उसको देखते ही सोचा कि "मैंने किसी से याचना नहीं की, याचना करने से क्या कोई सोना मोहर भेंट करता है ? शिव ! शिव !! चार आना भी मिलना मुश्किल है। यह तो परमेश्वर ने ही भेजा है, क्योंकि मैंने ध्यान के द्वारा जगत का तो स्वरूप देख लिया, परन्तु अनुभव द्वारा स्त्री भोग का साक्षात्कार नहीं किया, अतएव ईश्वर ने कृपा कर यह भेंट दी है।" इत्यादि अनर्थोत्पादक विचार योगी के हृदय में उभड़ आए। बस योगी ने अन्यायोपार्जित सोना मोहर के प्रभाव से कुकर्मवश चालीस वर्ष का योगाभ्यास गङ्गा के प्रवाह में बहा दिया, क्योंकि स्त्रीसमागम से योग नहीं रह सकता। कहा भी है कि -

“आरंभे नत्थि दया, महिलासंगेण नासई बंधं।

संकाए सम्पत्तं, अत्यग्गाहेण पव्वज्जं” ॥१॥

भावार्थ - आरंभ करने में दया नहीं है, स्त्री समागम से ब्रह्मचर्य योग, संशय रखने से सम्यक्त्व और परिग्रह (द्रव्य) ग्रहण करने से संयम योग का नाश होता है।

इस प्रकार नीति सम्पन्न द्रव्य से मच्छीमार का सुधार और अनीति सम्पन्न द्रव्य से योगी के संयम योग का नाश ये दोनों बातें राजा के पास सभा में जाहिर की गईं, उनको सुनकर राजा समझ गया कि - वास्तव में नीतिमान् पुरुष निर्भय रहते हैं और अनीतिमान् सर्वत्र शङ्कित रहते हैं तथा नीतिमान् पुरुषों के पास लक्ष्मी स्वयमेव चली जाती है। कहा भी है कि -

“निपानमिव मण्डूकाः, सरः पूर्णमिवाण्डजाः।

शुभकर्माणमायान्ति, विवशाः सर्व संपदः” ॥१॥

आरंभे नास्ति दया, महिलासङ्गेन नाशयति ब्रह्म।

शङ्कया सम्यक्त्वं, अर्थग्राहेण प्रव्रज्याम् ॥१॥

भावार्थ - जिस प्रकार मंडूक (देड़का) कूप और पक्षी समूह जल पूर्ण सरोवर के पास स्वयमेव जाते हैं, उसी प्रकार नीतिमान् मनुष्य के पास शुभकर्म से प्रेरित हो सर्वसम्पत्तियाँ स्वयमेव चली जाती हैं।

अतएव न्यायपूर्वक द्रव्य उपार्जन करना यह गृहस्थ धर्म का प्रथम कारण और मार्गानुसारी का प्रथम गुण है। इसलिये शुद्धांतःकरण (ईमानदारी) के साथ जिस तरह हो सके न्यायपूर्वक ही द्रव्य पैदा करना चाहिये, जिससे कि उभयलोक में सुख प्राप्त हो।

२. शिष्टाचार प्रशंसक - अर्थात् भव्य पुरुष को शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करने वाला होना चाहिये, क्योंकि शिष्टाचार प्रशंसक मनुष्य किसी दिन उत्तम आचार को अवश्य प्राप्त कर सकता है। व्रती, ज्ञानी और वृद्ध पुरुषों की सेवा से जिनने शिक्षा प्राप्त की है वे 'शिष्ट' और शिष्टों का जो आचार वह 'शिष्टाचार' कहा जाता है अथवा लोकापवाद से डरना, अनाथ प्राणियों का उद्धार करने में आदर रखना, कृतज्ञता और दाक्षिण्यता आचरण करना, उसको भी शिष्टाचार (सदाचार) कहते हैं। सत्पुरुषों के आचार की प्रशंसा कवि इस प्रकार करते हैं --

“विपद्युञ्जैः स्थैर्यं पद्मनुविधेयं च महतां,

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्।

असन्तो नाभ्यर्थाः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः,

सतां केनोद्दिष्टम् विषममसिधाराव्रतमिदम् ?" ॥१॥

भावार्थ - विपत्ति समय में ऊँचे प्रकार की स्थिरता रखना, महापुरुषों के मार्ग का अनुकरण करना, न्याययुक्त वृत्ति को प्रिय कर समझना, प्राणावसान में भी अकार्य नहीं करना, दुर्जनों से प्रार्थना और अल्पधनी मित्र से याचना नहीं करना, इस प्रकार असिधारा के समान दुर्घट सत्पुरुषों का व्रत किसने कहा? अर्थात् सत्यवक्ता और तत्त्ववेत्ताओं ने प्रकाशित किया है, अतएव मनुष्यों को शिष्टाचार प्रशंसक अवश्य बनना चाहिये।

३. "कुलशीलसमैः सार्धं, कृतोद्ब्रहोऽन्यगोत्रजैः" - जिनका कुल शील समान हो और भिन्न गोत्र हो, उनके साथ विवाह करना। कुल-पिता, पितामहादि पूर्ववंश और शील-मद्य, माँस निशिभोजन आदि का त्याग।

पूर्वोक्त कुल और शील समान होय तो स्त्री-पुरुषों को धर्म साधन में अनुकूलता होती है, परन्तु जो शील की समानता न हो, तो नित्य कलह होने की संभावना है। उत्तम कुल की कन्या लघु कुल वाले पुरुष को दबाया करती है और नित्य धमकी दिया करती है कि मैं पीहर चली जाऊँगी। अगर नीच कुल की कन्या हुई तो पतिव्रतादि धर्म में बाधा पड़ने का भय रहता है। इसी तरह शील में भिन्नता होने से प्रत्यक्ष धर्म साधन में हानि दिख पड़ती है, क्योंकि एक तो मद्यपान, माँसाहार अथवा रात्रि भोजन करने वाला है और दूसरे को उस पर अप्रीति है, ऐसी दशा में परस्पर प्रेमभाव कहाँ से बढ़ सकता और सांसारिक सुख का आनन्द कहाँ से आ सकता है? अतएव समान कुल और शील की परमावश्यकता है, इसी से दम्पति प्रेम अभिवर्द्धित हो सकता है।

वर्तमान समय में एक धर्म के दो समुदाय दिखाई पड़ते हैं, जिनमें केवल क्रियाकांड का ही भेद है, उनमें कन्या व्यवहार (संबंध) होता है, किन्तु बाद में धर्म विरुद्धता के कारण पति-पत्नी के बीच में जीवन-पर्यन्त वैर-विरोध हुआ करता है, जिससे वे परस्पर सांसारिक सुख भी भले प्रकार नहीं देख सकते, तो फिर कुल शील असमान हो, उनकी तो बात ही क्या कहना है ? क्योंकि ऐसे संबंध में तो प्रत्यक्ष प्रेमाऽभाव दृष्टिगोचर होता है।

भिन्न गोत्रवालों के साथ में विवाह करने का तात्पर्य यह है कि - एक पुरुष का वंश 'गोत्र' और उसमें उत्पन्न होने वाले 'गोत्रज' कहलाते हैं। गोत्रज के साथ में विवाहित होने से लोक विरुद्धता रूप भारी दोष लगता है, क्योंकि जो मर्यादा चली आती है, वह अनेक बार पुरुषों को अनर्थ प्रवृत्ति से रोकती है। यदि गोत्रज में विवाह करने की मर्यादा चलाई जाय, तो बहिन-भाई भी परस्पर विवाह करने लग जायें ? और यवनव्यवहार आर्य लोगों में भी प्रगट हो जाय, जिससे अनेक आपत्तियों के आ पड़ने की संभावना है। अतएव शास्त्रकारों ने भिन्न गोत्रज के साथ में विवाह करना उक्तम बताया है। मर्यादायुक्त विवाह से शुद्ध स्त्री का लाभ होता है और उसका फल सुजात पुत्रादिक की उत्पत्ति होने से चित्त को शांति मिलती है। शुद्ध विवाह से संसार में प्रशंसा और देव अतिथि आदि की भक्ति तथा कुटुम्ब परिवार का मान भले प्रकार किया जा सकता है, कुलीन स्त्रियाँ अपने कुल शील की और ध्यान कर मानसिक विकार होने पर भी अकार्य सेवन नहीं करती हैं, परन्तु मनुष्यों को चाहिये कि - समस्त गृह व्यवहार स्त्रियों के अधीन रखें १, द्रव्य अपने अधीन रखकर खर्च से अधिक स्त्रियों को न दें २, स्त्रियों को अधटित स्वतंत्रता में प्रवृत्त न होने दें, किन्तु कब्जे में रखें ३ और

स्वयं पर-स्त्रियों को भगिनी अथवा मातृ समान समझें ४, इन चार हेतुओं को लक्ष्य में रखने से पति-पत्नी के बीच में स्नेह भाव का अभाव नहीं हो सकता। अतएव समान कुल शील और भिन्न गोत्रवालों के साथ विवाह संबंध करने वाला पुरुष सूखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है।

“पापभीरुः प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन् ।

अवर्णवादी न क्कापि, राजादिषु विशेषतः ॥२॥”

भावार्थ - ४. पापभीरु - प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अपायों (कष्टों) के कारणभूत पापकर्म से डरने वाला पुरुष गुणी बनता है। चोरी, परदारागमन, द्यूत आदि प्रत्यक्ष कष्ट के कारण हैं, क्योंकि इनसे व्यवहार में राजकृत अनेक विडम्बना सहन करना पड़ती हैं। मद्य मांसादि अपेय, अभक्ष्य पदार्थ प्रत्यक्ष कष्ट के कारण हैं और इनके सेवन से भवान्तर में नरकादि अशुभ गतियों में नाना दुःख प्राप्त होते हैं।

५. प्रसिद्धं च देशाचारं समाचरन् - अर्थात् प्रसिद्ध देशाचार का आचरण करना। यानी उत्तम प्रकार का बहुत काल से चला आया, जो भोजन, वस्त्र आदि का व्यवहार उसके विरुद्ध नहीं चलना चाहिये, क्योंकि देशाचार के विरुद्ध चलने से देश निवासी लोगों के साथ विरोध बढ़ता है और विरोध बढ़ने से चित्त की स्वस्थता ठीक नहीं रहती, जिससे धार्मिक साधन में चित्त की स्थिरता नहीं रहती। इसी से कहा जाता है कि - देशाचार का पालन करने में दत्तचित्त रहने वाला पुरुष ही सदगुणी बन सकता है।

६. “अवर्णवादी न क्कापि, राजादिषु विशेषतः।

अर्थात् नीच से लेकर उत्तम मनुष्य पर्यन्त किसी की भी निन्दा न करना चाहिये, क्योंकि निन्दा करने वाला मनुष्य संसार में निन्दक के नाम से प्रख्यात होता है और भारी कर्मबंधन से भवान्तर में दुःखी

होता है। सामान्य पुरुषों की निन्दा से भी नरकादि कुगतियों की प्राप्ति होती है, तो उत्तम पुरुषों की निन्दा दुःखदायक हो, इसमें कहना ही क्या है ? राजा, अमात्य, पुरोहित आदि की निन्दा तो बिलकुल त्याज्य ही है, ठीक ही है कि इनकी निन्दा करने से तो प्रत्यक्ष द्रव्यनाश, प्राणनाश और लोक विडम्बना होती देख पड़ती है, अतः किसी का अवर्णवाद न बोलना चाहिये, अगर निन्दा करने का ही अभ्यास हो, तो अपने दुष्कृतों की निन्दा करना सर्वोत्तम और लाभदायक है।

“अनतकिव्यक्तगुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिकः ।

अनेक निर्गमद्वार - विवर्जितनिकेतनः ॥३॥”

भावार्थ - ७. - अनेक द्वारों से रहित घरवाला गृहस्थ सुखी रहता है। अनेक द्वारों के निषेध से परिमित द्वार वाले घर में रहने का निश्चय होता है, क्योंकि ऐसे घरों में निवास करने से चौरादि का भय नहीं रह सकता। यदि घर में अनेक द्वार हों, तो दुष्ट लोगों के उपद्रव होने की संभावना है तथा अतिव्यक्त और अतिगुप्त भी न होना चाहिये। जो अतिव्यक्त घर होगा, तो चोरों का उपद्रव होगा, यदि अतिगुप्त होगा, तो घर की शोभा मारी जायगी और अग्नि वगैरह के उपद्रव से घर को नुकसान पहुँचेगा।

जहाँ सज्जन लोगों का पड़ोस हो, वहाँ रहना चाहिये। सज्जनों के पड़ोस में रहने से स्त्री-पुत्रादिकों के आचार-विचार सुधरते हैं और धीरे-धीरे वह मनुष्य आदर्श (सज्जन) की गिनती में आ जाता है। कनिष्ठ पड़ोसियों की संगति से संतति के आचार-विचार बिगड़ जाते हैं और लोक निन्दा का पात्र बनना पड़ता है। अतएव गृहस्थों के लिए अनतिव्यक्त, अगुप्त, उत्तम पड़ोस वाला और अनेक द्वारों से रहित घर श्रेष्ठ और सुखकारक होता है।

“कृतसङ्गः सदाचारै - मातापित्रोश्च पूजकः ।

त्यजन्नुपप्लुस्थान् - मप्रवृत्तश्च गर्हिते ॥४॥”

भावार्थ - ८. - उत्तम आचार वाले सत्पुरुषों का समागम करना, अर्थात् सामान्यतः जुआरी, धूर्त, दुराचारी, भट्ट, याचक, भांड, नट और धोबी, माली, कुँभार प्रमुख की संगति धर्मिष्ठ पुरुष को अहित कारक है। आजकल कई एक वेषधारी साधु और साध्वियाँ नीच जाति के मनुष्यों को साथ में रखते हैं, जिससे उसका अंतिम परिणाम भयङ्कर निवडता है। इसी प्रकार गृहस्थों को भी जब अधम मनुष्यों की संगति करना मना है, तो फिर साधुओं के लिए तो कहना ही क्या है ? नीच पुरुषों की सोबित करने वाले और साधुओं का अनादर असत्कार करने वाले गृहस्थ भी पाप के पोषक हैं, इसी से शास्त्रकार कहते हैं कि सत्संग करने वाला पुरुष धर्म के योग्य होता है।

९. 'मातापितोश्च पूजकः' - माता-पिताओं की पूजा करने वाला गृहस्थ धर्म के योग्य है, अर्थात् संसार में माता-पिताओं का उपकार सबसे अधिक है, अतएव उनकी सेवा तन, मन और धन से करना चाहिये, क्योंकि दश उपाध्याय की अपेक्षा एक आचार्य, सौ आचार्य की अपेक्षा एक पिता और हजार पिता की अपेक्षा एक माता पूज्य है। इसलिये हर एक कार्य में माता-पिताओं की रुचि के अनुसार वर्तनेवाला पुरुष सद्गुणी बन सकता है।

१०. 'त्यजन्नुपप्लुतस्थानम्' - उपद्रव वाले स्थान का त्याग करने वाला पुरुष धर्म के लायक होता है। इससे स्वचक्रादि परचक्रादि उपद्रव तथा दुर्भिक्ष प्लेग, मारी आदि और जनविरोध आदि से रहित स्थान में रहना चाहिये। उपद्रवयुक्त स्थान में रहने से अकाल मृत्यु, धर्म और अर्थ का नाश होने की संभावना है और धर्म साधन भी बनना कठिन है।

११. 'अप्रवृत्तिश्च गर्हिते' - अर्थात् निन्दनीय कर्म में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। देश, जाति और कुल की अपेक्षा से निन्दनीय कर्म तीन प्रकार का होता है - जैसे सौ वीरदेश में कृषि कर्म, लाट में मद्यपान निन्दनीय है। जाति की अपेक्षा से ब्राह्मणों को सुरापान, तिल लवणाऽऽदि का व्यापार और कुल की अपेक्षा से चौलुक्य वंशी राजाओं को मध्य-पानादि निन्दनीय है। इत्यादि निन्दनीय कार्य करने वाले पुरुषों के धर्मकार्य हास्याऽऽस्पद होते हैं, अतएव ऐसे कार्यों में प्रवृत्ति करना अनुचित है।

“व्यायामोचितं कुर्वन्, वेषं वित्तानुसारतः।

अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, श्रृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥५॥”

भावार्थ - १२. आमदानी के अनुसार खर्च करना, अधिक अथवा न्यून खर्च करने से व्यवहार में प्रामाणिकता नहीं समझी जाती, क्योंकि अधिक खर्चा करने से मनुष्य 'फूलणजी' की और न्यून खर्चा करने से 'मम्मण' की भक्ति में गिना जाता है। अतएव कुटुम्बपोषण में, अपने उपयोग में देवपूजा और अतिथि सत्कार आदि में आमदानी-प्रमाणे समयोचित द्रव्य व्यय करना चाहिये। शास्त्रकारों ने द्रव्य व्यवस्था के विषय में लिखा है कि-

“पादमायान्निधिं कुर्यात्, पादं वित्ताय घट्टयेत् ।

धर्मोपभोगयोः पादं, पादं भर्त्तव्यपोषणे ॥१॥”

भावार्थ - आमदानी का चतुर्थांश भंडार में रखना, चौथा भाग व्यापार में, चौथा भाग धर्म तथा उपभोग में और चौथा भाग पोषणीय कुटुम्ब वर्ग में लगाना चाहिये अथवा -

‘आयादर्थं नियुञ्जीत, धर्मे समधिकं पुनः ।

शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम् ॥२॥”

भावार्थ - आमदानी से आधा भाग अथवा आधे भाग से अधिक धर्म में लगाना चाहिये और शेष द्रव्य से सांसारिक तुच्छ (विनाशी) कार्य करना चाहिये। यदि आमदानी के प्रमाण में धर्म न करे, किन्तु संचयशील बना रहे, तो वह बुरा कृतघ्नि है, क्योंकि - जिस धर्म के प्रभाव से सुखी, धनी और मानी बनते हैं उस धर्म के निमित्त कुछ द्रव्य न खर्च किया जाय, तो कृतघ्नीपन ही है। किसी कवि ने लिखा भी है कि -

लक्ष्मीदायादाश्चत्वारो, धर्माग्निराजतस्कराः ।

ज्येष्ठपुत्रापमानेन, कुप्यन्ति बान्धवास्त्रायः ॥१॥

अर्थात् लक्ष्मी के धर्म, अग्नि, राजा और चोर ये चार दाय भागी पुत्र हैं। सबसे बड़ा और माननीय पुत्र धर्म है। धर्म का अपमान होने से तीनों पुत्र कपित हो जाते हैं, अर्थात् धर्महीन मनुष्य की लक्ष्मी अग्नि, राजा और चोर विनाश करते हैं। इसी से शास्त्रकारों ने धर्म में चौथा भाग, आधाभाग अथवा आधे से अधिक जितना खर्च करते बने, उतना खर्च करने के लिए ही 'समधिक' पद लिखा है।

अतः लाभार्थी पुरुषों को कृपणता छोड़कर आमदानी के अनुसार खर्च करने में उद्यत रहना चाहिये। ऐसा कौन मनुष्य है, जो चञ्चल लक्ष्मी से निश्चल धर्मरत्न को प्राप्त न करे ?

१३. 'वेषं वित्तानुसारतः' - वित्त (धन) के अनुसार से वेष रखना चाहिये, जिससे संसार में प्रमाणिकता समझी जाय। जो द्रव्यानुसार पोशाक नहीं रखते वे लोक में उडाऊ, चोर और जार समझे जाते हैं, अर्थात् लोग कहते हैं कि यह 'धनजीसेठ' बना फिरता है, तो क्या किसी को ठगकर या चोरी करके द्रव्य लाया है ? अथवा किसी को ठगने के लिये बन-ठन के जाता है। इसी प्रकार द्रव्यसंपत्ति रहते भी अनुचित वेष न रखना चाहिये, क्योंकि द्रव्यवान्

की खराब वेष रखने से कृपणता सूचित होती है, अतएव द्रव्य के अनुसार उचित पोशाक रखने वाला पुरुष लोकमान्य गिना जाता है और लोकमान्यता धर्मसाधन में सहायभूत होती है।

१४. 'अष्टभिर्घीगणैर्युक्तः, श्रृण्वानो धर्ममन्वहम्।' अर्थात् बुद्धि के आठ गुणों से युक्त मनुष्य निरंतर धर्मश्रवण करता हुआ गुणवान् होने के योग्य होता है। धर्मश्रवण से आधि, व्याधि और उपाधि मिटती है, अभिनव पदार्थों का ज्ञान होता है, सुन्दर सद्विचारों का मार्ग देख पड़ता है, कषाय भाव कम होता है और वैराग्यमहारत्न की प्राप्ति होती है। धर्मश्रवण में बुद्धि के आठ गुण होना आवश्यकीय है; अन्यथा धर्म श्रवण मात्र से कुछ फायदा नहीं हो सकता।

यथा - कोई पुराणी (व्यास) रामायण वाच रहा था, उसमें 'सीताजी हरण भया' यह अधिकार आया। सभा उपस्थित एक श्रोता ने विचारा कि सीताजी हरण तो हो गये, परन्तु पीछे सीताजी होंगे या नहीं ? कथा तो समाप्त हो गई, परन्तु उस श्रोता की शंका का समाधान नहीं हो सका, तब उसने पुराणी से पूछा कि महाराज ! सब बात का तो खुलासा हुआ, किन्तु एक बात रह गई। पुराणी भ्रम में पड़ा कि क्या पत्रा फेर फार हो गया या कोई अधिकार भूल गया अथवा हुआ क्या ? जिससे श्रोता कहता है कि एक बात रह गई। आखिर पुराणी ने पूछा कि भाई ! कौन-सी बात रह गई। श्रोता ने कहा कि महाराज ! 'सीताजी हरण भया' ऐसे मैंने सुना था वह मिटकर पीछे सीताजी हुए या नहीं ? पुराणी तो उसकी बात सुनकर हसने लगा और कहा कि अरे मूर्ख ! तू इसका तात्पर्य नहीं समझा, इसका आशय यह है कि सीता को रावण उठा ले गया, परन्तु तू समझता है, वैसा कोई जंगली जानवर नहीं हुआ। इस बात

को सुनकर श्रोता निःसंशय हो गया, यदि वह फिर पूछकर खुलासा नहीं करता, तो इस विषय में दूसरों के साथ में तकरार किये बिना नहीं रहता। इसी से धर्म श्रवण में बुद्धि के आठ गुणों की आवश्यकता है। बुद्धि के आठ गुण इस प्रकार हैं -

शुश्रुषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा ।

ऊहापोहार्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥१॥

भावार्थ - १. (शुश्रुषा) सुनने की इच्छा, २. (श्रवणं) सुनना, ३. (ग्रहणं) सुने हुए अर्थ को धारण करना, ४. (धारणं) धारण किए हुए अर्थ को नहीं भूलना, ५. (ऊहा) जाने हुए अर्थ को अवलम्बन कर उसके समान अन्य विषय में व्याप्ति के द्वार तर्क करना, ६. (अपोह) अनुभव और युक्तियों से विरुद्ध हिंसादि अनर्थजनक कार्यों से अलग होना, ७. अथवा सामान्य ज्ञान से 'ऊहा' और विशेष ज्ञान से 'अपोह' कहाता है। (अर्थविज्ञानं) तर्क वितर्क के बल से मोह, संदेह तथा विपर्यास जहित वस्तु की पहचान करना, ८. (तत्त्वज्ञानं) अमुक वस्तु इसी प्रकार है, ऐसा निश्चय करना; ये आठ बुद्धि के गुण हैं।

अष्टगुणों से जिसकी बुद्धि प्रौढ़भाव को प्राप्त हुई है, वह कदापि अकल्याणकारी नहीं बन सकता; इसी से बुद्धिगुण पूर्वक धर्म श्रवण करने वाला पुरुष धर्म के लायक कहा गया है। यहाँ धर्मश्रवण विशेष गुणों का दायक है, बुद्धि के गुणों में जो 'श्रवण' गुण है, वह श्रवण मात्र अर्थ का बोधक है, इससे एकता का संशय करना उचित नहीं है। धर्म श्रवण करने वालों को अनेक गुण प्राप्त होते हैं। कहा भी है कि - "यथावस्थित सुभाषितवाला मन दुःख को नष्ट करता है, खेद रूप दावानल से संतत पुरुषों को शांत बनाता है। भूखों को बोध देता है और व्याकुलता को मिटाता है; अर्थात्

सुन्दर धर्म श्रवण उत्तमोत्तम वस्तुओं को देनेवाला होता है। अतएव अनेक सद्गुणों की प्राप्ति का हेतुभूत धर्मश्रवण करना चाहिये, जिससे उभय लोक में सुख प्राप्त हो।

“अजीर्णे भोजनत्यागी, काले भोक्ता च सात्म् यतः।

अन्योन्याप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयेत् ॥ ६ ॥”

भावार्थ - १५. अजीर्ण में भोजन छोड़ने वाला पुरुष सुखी रहता है और सुखी मनुष्य धर्म की साधना भले प्रकार कर सकता है। इसी से व्यवहारनय का आश्रय लेकर कई एक लोग कहते हैं कि - ‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’ वस्तुस्थिति के अनुसार तो ऐसा कहना उचित है कि - ‘शरीर माद्यं खलु पाप साधनम्’ अर्थात् शरीर प्रथम पाप का कारण है। जिनके शरीर नहीं है, उनके पाप का भी बंध नहीं होता। सिद्ध भगवान् अशरीरी होने से पाप बंध रहित है, अतएव शरीर पाप का कारण और पाप शरीर का कारण है।

जहाँ शरीर का अभाव है, वहाँ पाप का अभाव है और जहाँ पाप का अभाव है, वहाँ शरीर का अभाव है। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति है, तो भी व्यवहार दृष्टि का अवलम्बन कर शरीर को प्रथम धर्मसाधन माना है। इसीलिये अजीर्ण में भोजन का त्याग बताया गया है। वैदिक शास्त्रों में लिखा भी है कि - ‘अजीर्णप्रभावाः रोगाः’ समस्त रोगों की उत्पत्ति अजीर्ण से होती है। यदि कोई ऐसा कहेगा कि - ‘धातुक्षयप्रभावाः रोगाः’ ऐसा भी शास्त्रों में लिखा देख पड़ता है, तो इनमें प्रमाणिक रूप से कौन-सा वचन मान्य है ? इसके उत्तर में जानना चाहिये कि धातु क्षय भी अजीर्ण से ही होता है। जो खाये हुए अन्नादि की परिष्ठाक दशा पूर्ण रूप से हो जाय, तो धातुक्षय नहीं हो सकता, चाहे जितना परिश्रम किया जाय, परन्तु शरीर निर्बलता अंशमात्र नहीं हो सकती। जो

अजीर्ण होने पर भी लालच से खाते हैं, वे अपने सुखमय जीवन को नष्ट करते हैं। अजीर्ण की परीक्षा करने के लिए शास्त्रों में इस प्रकार लिखा है कि -

मलवातयोर्विगन्धो, विड्भेदो गात्रगोरवमरुच्यम्।

अविशुद्धश्चोद्गारः, षडजीर्णव्यक्तलिङ्गानि ॥१॥

भावार्थ - मल और वायु में दुर्गन्धि हो जाना, दस्त (पाखाने) में नित्य के नियम से कुछ फेरफार हो जाना, शरीर में आलस आना, पेट का फूलना, भोजन पर रुचि कम होना और गंधील डकार आना; अजीर्ण होने के ये छह चिह्न स्पष्ट होते हैं।

उक्त छह कारणों में से यदि एक भी कारण मालूम पड़े, तो भोजन अवश्य छोड़ देना चाहिये, क्योंकि ऐसे अवसर में भोजन छोड़ने से जठराग्नि के विकार भस्म होते हैं। धर्मशास्त्र भी पखवाड़े में एक उपवास करने की सूचना करते हैं। यदि भोजनादि व्यवस्था नियम से की जाय, तो प्रायः प्रकृति विकृति के कारण रोग होना असंभव है। कर्मजन्य रोगों को मिटाने के लिए तो कोई उपाय ही नहीं है। वर्तमान समय में कई एक मनुष्य उपवास की जगह जुलाब लेना ठीक समझते हैं; लेकिन यथार्थ विचार किया जाय, तो जुलाब लेना उभय लोक में हानिकारक है। जुलाब लेने से प्रकृति में फेरफार होता है, किसी किसी वक्त तो वायु प्रकोप हो जाने से जुलाब में भारी हानि पहुँचती है और शरीर स्थित क्रमी का नाश होता है, इत्यादि कारणों से जुलाब उभयलोक में दुःखदायक है।

उपवास पखवाड़े में खाये हुए अन्न को पचाता है, मन को निर्मल रखता है, विकारों को मंद करता है, अन्न पर रुचि बढ़ाता है और रोगों का नाश करता है। अतएव जुलाब की अपेक्षा उपवास

करना उत्तम है। अजीर्ण न हो तो भी थोड़ा भोजन करना अच्छा है, क्योंकि यथाग्नि खाने से भोजन रस वीर्य का उत्पादक होता है। 'यो मितं भुङ्क्ते स बहु भुङ्क्ते' अर्थात् जो थोड़ा खाता है, वह बहुत खाता है, इसलिये अजीर्ण में भोजन नहीं करने वाला सुखी रहकर गुणवान बनता है।

१६. काले भोक्ता च सात्व्यतः - अर्थात् प्रकृति के अनुकूल यथासमय सात्व्य भोजन करने वाला पुरुष निरोगी रहकर गुणी और धर्मात्मा बनता है। जो पान, आहार आदि प्रकृति के अनुकूल सुख के लिये बनाया जाता है, वह 'सात्व्य' कहलाता है। बलवान पुरुषों के लिए तो सब पथ्य ही है, परन्तु योग्य रीत से योग्य समय में प्रकृति योग्य पदार्थों का सेवन किया जाय, तो शरीर की स्वास्थता सचवा सकती है और शरीर स्वस्थता से धर्म साधन तथा सदगुणोपार्जन में किसी तरह की बाधा नहीं पड़ सकती।

१७. 'अन्योन्याप्रतिबंधेन, त्रिवर्गमपि साधयेत्' - अर्थात् परस्पर विरोध रहित धर्म, अर्थ और कामरूप - त्रिवर्ग की साधना करने वाला पुरुष उत्तम योग्यता प्राप्त कर सकता है। जिस पुरुष के दिन त्रिवर्ग शून्य व्यतीत होते हैं, वह लुहार की धमनी की तरह गमनागमन करता हुआ भी जीता नहीं है, अर्थात् उसे जीवन्मृत अथवा पशु तुल्य समझना चाहिये।

धर्म पुण्यलक्षण अथवा संज्ञान रूप है, पुण्य लक्षण धर्म संज्ञान लक्षण धर्म का कारण है, कार्य को उत्पन्न कर कारण चाहे पृथक् हो जाय, परन्तु धर्म सात कुल को पवित्र करता है। कहा भी है कि -

“धर्मः श्रुतोऽपिदृष्टो वा, कृतो वा कारितोऽपि वा ।

अनुमोदितोऽपि राजेन्द्र ! पूनात्याऽऽसप्तमं कुलम् ॥१॥”

तात्पर्य - हे राजेन्द्र ! सुना हुआ, देखा हुआ, किया हुआ, कराया हुआ और अनुमोदन किया हुआ धर्म सात कुल को पवित्र बनाता है। धर्म, धन, काम और मुक्ति का देने वाला है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो धर्म के प्रभाव से प्राप्त न हो सके; अतएव तीनों वर्ग में धर्म अग्रगण्य (मुख्य) समझा जाता है।

यहाँ पर यह संशय होना संभव है कि बारंबार त्रिवर्ग का ही नाम आता है, किन्तु चौथा वर्ग मोक्ष या निर्वाण का तो नाम ही नहीं लिया जाता, तो क्या आप मोक्ष को नहीं मानते ?

इसके समाधान में समझना चाहिये कि - मोक्ष निर्वाण अथवा मुक्ति आदि नाम से प्रख्यात चतुर्थ वर्ग के साधक मुनिवर है और यहाँ प्रस्तुत विषय तो गृहस्थों को धर्म की योग्यता प्राप्त करने का है, इसी से यहाँ पर मोक्ष का नाम दृष्टिपथ नहीं होता। जैन सिद्धांतों में जितनी क्रिया प्रतिपादन की गई है, वह सब मोक्ष साधक है, स्वर्गादिक तो उसके अवान्तर फल हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी शहर का उद्देश्य करके रवाना हुआ, परन्तु वह इच्छित शहर में नहीं पहुँचने से मार्ग स्थित गाँव में रह गया। इसी प्रकार मोक्षसाधक मनुष्य भी मार्गभूत स्वर्गादि गतियों में जाता है। जिन लोगों के सिद्धांत में मोक्ष साधक नहीं है, उनको अवश्य नास्तिक समझना चाहिये। मोक्ष का कारण सम्यक् - ज्ञान, दर्शन और चरित्र है, इनको प्राप्त करने के लिये प्रथम योग्यता प्राप्त करने की आवश्यकता है। योग्यता का कारण भूत, धर्म, अर्थ और काम रूप

त्रिवर्ग की साधना है, अतएव गृहस्थों के लिये त्रिवर्ग के साथ मोक्ष शब्द रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अब परस्पर अविरोधपने त्रिवर्ग को साधन करने की मर्यादा दिखाई जाती है -

जो अहर्निश धर्म और अर्थ को छोड़कर काम पुरुषार्थ की ही साधना करने में लगे रहते हैं, वे वनगज के समान पराधीन हो दुःखी होते हैं। जैसे वनगज स्वजीवित को हार कर मरण दशा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कामाऽऽसक्त मनुष्य का भी धर्म, धन और शरीर नष्ट हो जाता है, इसलिये केवल कामसेवा करना अनुचित है।

जो मनुष्य धर्म तथा काम का अनादर कर केवल अर्थ-सेवा की अभिलाषा रखते हैं, वे सिंह के समान पाप के भागी होते हैं। सिंह हस्ति प्रमुख पशुओं को मारकर स्वयं थोड़ा खाता है और अवशेष दूसरों के लिए छोड़ देता है। इसी तरह अर्थसाधक पुरुष भी अठारह पाप स्थानक सेवन कर वित्तोपार्जन करते हैं, उसको स्वयं अल्प खाकर शेष संबंधियों के लिए छोड़ते हैं, किन्तु स्वयं उस वित्तोपार्जन से दुर्गतियों के पात्र बनते हैं। अतएव केवल अर्थ सेवा करना भी अनुचित है। इसी प्रकार अर्थ और काम को छोड़कर केवल धर्मसेवा करने से भी गृहस्थ धर्म का अभाव होता है, क्योंकि केवल धर्मसेवा करना मुमुक्षुजनों (संसारत्यागियों) का काम है। यहाँ पर तो गृहस्थों का अधिकार है। इससे केवल धर्म सेवा करना गृहस्थों के लिये अनुचित है।

जो लोग धर्म को छोड़कर अर्थ और काम की सेवा करते हैं, वे बीज खा जाने वाले 'कणवी' के समान पश्चाताप और दुःख के पात्र बनते हैं। किसी कणवी ने अत्यन्त परिश्रम से धान्य (बीज)

संग्रह कर उसको खा खुटाया, परन्तु वह वर्षा समय में खेत में बीज नहीं बो सका, इससे धान्य का अभाव हो गया और धान्याऽभाव से नाना दुःखों की नोबत बजने लगी। उसी प्रकार धर्म के बिना अर्थ और काम की सेवा करने वालों की दशा होती है, क्योंकि धर्म, अर्थ और काम का बीज है, अर्थात् धर्म के प्रभाव से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। अतएव धर्म की साधना किये बिना इतर पुरुषार्थों की साधना करने वाला मनुष्य कणवी के समान दुःखी होता है।

यदि कहा जाय कि धर्म और काम की सेवा करना तो ठीक है, लेकिन अर्थ अनेक अनर्थों का उत्पादक है, इसलिये अर्थ की सेवा करना अनुचित है ? धर्म के परभव का सुधार और काम से सांसारिक सुखों का अनुभव होता है।

इसके समाधान में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि - गृहस्थावास में अर्थ (धन) के सिवाय धर्म और काम की सेवा यथार्थ रूप से नहीं बन सकती, क्योंकि धनोपार्जन नहीं करने से ऋणी होना पड़ता है और ऋणी मनुष्य चिंतायुक्त होने से देव गुरु की भक्ति नहीं कर सकता, तथा चिंतायुक्त मनुष्य से सांसारिक सुखों का भी अनुभव नहीं हो सकता। अतएव धर्म और कामसेवा के साथ-साथ अर्थ सेवा की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

यदि कोई यह कहेगा कि धर्म और अर्थ की सेवा करने वाला ऋणी नहीं होता। अतः धर्म तथा अर्थ की सेवा करना चाहिये, परन्तु दुर्गति दायक काम की सेवा क्यों की जाय ? काम से तो कोड़ों कोस दूर रहना उत्तम है।

यह बात प्रशस्य है, तथापि यहाँ गृहस्थ धर्म का विषय है, इसलिये काम के अभाव में गृहस्थाऽ भावरूप आपत्ति आ पड़ने की संभावना है। इस वास्ते तीनों वर्ग की योग्य रीति से सेवा करने वाला मनुष्य धर्म के लायक होता है और वही मनुष्य सद्गुणी बनकर आत्म सुधार और समाज सुधार भले प्रकार कर सकता है।

पाठकगण ! धर्म, अर्थ और काम में बाधा पड़ने की संभावना हो, तो पूर्व को बाधा न होने देना चाहिये। कदाचित् कर्मवश से चालीस वर्ष की अवस्था में स्त्री की मृत्यु हो जाय, तो फिर से विवाह करना व्यवहार विरुद्ध और शास्त्र विरुद्ध है, इससे ऐसे अवसर में चतुर्व्रत धारण कर धर्म और अर्थ की सुरक्षा करना चाहिये। यदि स्त्री धन दोनों का नाश होने का समय प्राप्त हुआ, तो केवल धर्म की साधना करने में दत्तचित्त रहना चाहिये, क्योंकि 'धर्मवित्तास्तु साधवः' सज्जन पुरुष धर्मरूप द्रव्य वाले होते हैं।

धर्म के प्रभाव से धन चाहने वालों को धन, कामार्थियों को काम, सौभाग्य के चाहने वालों को सौभाग्य, पुत्रवांछकों को पुत्र और राज्य के अभिलाषियों को राज्य प्राप्त होता है, अर्थात् धर्मात्मा पुरुष जो कुछ भी चाहे, उसे उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। स्वर्ग और मोक्ष भी जब धर्म के प्रभाव से मिल सकता है, तब और वस्तुओं की प्राप्ति हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अतएव गृहस्थों को उचित है कि धर्म के समय में धर्म, धन के समय में धनोपार्जन और काम सेवन के समय में काम इस प्रकार यथाक्रम और यथासमय में सेवन करें, परन्तु परस्पर बाधा हो, वैसा करना ठीक नहीं।

“यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत् ।

सदाऽनभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च ॥७॥”

भावार्थ - १८. - १९. अतिथि, साधु और दीन में यथा योग्य भक्ति करने वाला गुणी बनने लायक होता है, जिन्होंने तिथि और दीपोत्सवादि पर्व का त्याग किया है, उनको अतिथि और दूसरों को अभ्यागत कहना चाहिये। ‘साधुः सदाचारः’ उत्तम पञ्च महाव्रत पालन रूप सदाचार में लीन रहते हैं, वे ‘साधु’ और त्रिवर्ग को साधन करने में जो असमर्थ हैं, वे ‘दीन’ कहे जाते हैं। इन तीनों की उचितता पूर्वक भक्ति करना चाहिये, अन्यथा अधर्म होने की संभावना है, क्योंकि पात्र को कुपात्र और कुपात्र को पात्र की पंक्ति में गिने से अधर्म की उत्पत्ति होती है। नीतिकारों का कहना है कि -

नीति रूप काँटा है, जिसके एक पलड़े में औचित्य (उचितता) और दूसरे पलड़े में करोड़ गुण रक्खे जायँ तो उचितता वाला पलड़ा नीचे नमेगा, अर्थात् करोड़ गुण से भी उचितता अधिक है, अतएव उचितता प्रमाणे भक्ति करना उत्तम है।

२०. ‘सदाऽनभिनिविष्टश्च’ - निरन्तर आग्रह नहीं रखने वाला पुरुष गुण ग्रहण करने योग्य होता है। आग्रही मनुष्य स्वमति कल्पना के अनुसार युक्तियों को खींचता है और अनाग्रही पुरुष सुयुक्तियों के अनुसार स्वमति (बुद्धि) को स्थापित करता है। जगत में सुयुक्तियों से कुयुक्ति अधिक है, कुयुक्ति सम्पन्न मनुष्य अपरिमित हैं, परन्तु सुयुक्ति सम्पन्न तो विरले ही हैं। जहाँ आग्रह नहीं होता, वहाँ सुयुक्तियों का आदर होता है। इस वास्ते गुणोच्छुओं को नित्य आग्रह रहित रहना चाहिये, जिससे सद्गुणों की प्राप्ति हो।

२१. ‘पक्षपाती गुणेषु च’ - गुणों में पक्षपात रखने वाला पुरुष उत्तम गुणोपार्जन कर सकता है, अर्थात् सौजन्य, औदार्य,

दाक्षिण्य, स्थैर्य, प्रिय भाषण और परोपकार आदि स्वपरहित कारक और आत्म साधन में सहायक जो गुण है, उनमें पक्षपात, उनकी बहुमान तथा उनकी प्रशंसा करना वह 'गुणपक्षपात' कहा जाता है। गुणों का पक्षपात करने वाले मनुष्यों को भवान्तर में मनोहर गुणों की प्राप्ति होती है। गुण द्वेषियों को किसी गुण की प्राप्ति नहीं होती, कई एक स्वात्मवैरी गुणवानों के गुणों पर द्वेष भाव रखते हैं और इसी से उन्हें अनर्थजनक अनेक कर्म बाँधना पड़ते हैं। अतएव किसी वक्त गुणद्वेषी न होना चाहिये, किन्तु समस्त जगज्जन्तुओं के गुणों की अनुमोदना (प्रशंसा) करना चाहिये।

“अदेशकालयोश्चर्या, त्यजेज्जानन् बलाबलम् ।

वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां, पूजकः पोष्यपोषकः ॥८॥”

भावार्थ - २२. निषेध किये हुए देश और काल की मर्यादा का त्याग करने वाला पुरुष गुणी बनने और गृहस्थ धर्म के योग्य होता है। निषिद्ध देश में जाने से एक लाभ और अनेक हानियाँ हैं। लाभ तो धनोपार्जन है और धर्म हानि, व्यवहार निःशूकता तथा हृदय निष्ठरता आदि अनेक दुर्गुण प्राप्त हो जाते हैं। आर्य देश को छोड़कर अनार्य भूमि में जाने वाले पुरुषों को प्रथम धार्मिक मनुष्यों का समागम नहीं होता। निरन्तर प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने वाले अर्वाक् दशी और मांसाशी पुरुषों का समागम होता रहता है, जिससे नास्तिक बुद्धि अथवा अधर्म श्रद्धा उत्पन्न होती है। गङ्गा का जल मिष्ट स्वादु और पवित्र माना जाता है, परन्तु समुद्र में मिलने पर वह खारा हो जाता है; इसी प्रकार विदेश के गमन समय में पुरुष धार्मिक, सरल स्वभावी और दृढ़ मन वाला होता है, लेकिन धीरे-धीरे विदेशी लोगों की संगत से उसके स्वभाव में मलिनता आ जाती है।

कोई यही कहेगा कि सांसारिक कार्य के लिए जाने वाला पुरुष गंगाजल की दशा को प्राप्त हो सकता है, परन्तु कोई दृढधर्मी जगत् मान्य पुरुष आर्य धर्म के तत्वों का प्रचार करने के लिये जाय, तो क्या हरकत है ?

इसका उत्तर यह है कि सर्प मणि के समान जो पूर्ण (जानकार) है, उनके वास्ते कोई प्रतिबंध नहीं है, पूर्ण मनुष्य चाहे जहाँ जा सकता है। सर्प और मणि का एक ही स्थान में जन्म तथा विनाश होता है, अर्थात् साथ ही जन्म और विलय है, परन्तु सर्प का विष मणि में और मणि का अमृत सर्प में नहीं आ सकता, क्योंकि दोनों अपने-अपने विषय में पूर्ण हैं। इस प्रकार मनुष्य जो पूर्ण हो, तो वह चाहे जिस देश में जा सकता है, उसका बिगाड़ कहीं नहीं हो सकता, लेकिन अपूर्ण तो सर्वत्र अपूर्ण ही रहता है।

अपूर्ण का उत्साह क्षणिक और विचार विनश्वर होता है तथा उसके हृदय में धर्म वासना हल्दी के रंग समान होती है। आर्य भूमि में हजारों प्राणी जंगली है, उनको विदेशी प्रजा धन, स्त्री आदि का लालच देकर स्वधर्मी बना रही है। इसलिये उनको धर्म भ्रष्टता से उबारना हर एक आर्यधर्मी पुरुषों का काम है। अर्हन्नीति में विदेशगमन का निषेध किया है, उसका खास हेतु धर्महानी ही है। अतएव पूर्ण मनुष्य के बिना अपूर्ण मनुष्यों को निषिद्ध देश में भूलकर भी न जाना चाहिये। बुद्धिमानों को निषिद्धकाल की मर्यादा का भी त्याग करना जरूरी है। रात्रि का समय कितने एक पुरुषों के लिए बाहर फिरने का नहीं है, अर्थात् रात्रि में बाहर फिरने से कलङ्कित होने की और चौरादिक की शंका पड़ती है। चौमासा में प्रवास या यात्रा भी न करना चाहिये। इस मर्यादा का उल्लंघन करने से अनेक

उपद्रव और हिंसादिक की वृद्धि होती है। इससे निषिद्धदेश और काल की मर्यादा का त्याग करने वाला मनुष्य सुखी होता है।

२३. 'जानन् बलाऽबलं' - स्व पर का बल और अबल जानने वाला गृहस्थ धर्म के लायक है। बल की परीक्षा किये बिना कार्य का प्रारंभ करना निष्फल है और जो बल तथा अबल का ज्ञान कर कार्य करते हैं, उनका कार्य सफल होता है। बलवान् व्यायाम करे, तो उसका शरीर पुष्ट होता है और निर्बल मनुष्य व्यायाम करेगा, तो उसकी शरीर सम्पत्ति का नाश होगा, क्योंकि शारीरिक शक्ति के उपरांत परिश्रम करने से शरीराऽवयवों को नुकसान पहुँचता है। अतएव बल के प्रमाण में कार्यारम्भ करना चाहिये, जिससे चित्तव्याकुलता न हो सके और स्वच्छ चित्त से सद्गुण प्राप्ति हो।

२४. व्रतस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः - व्रती और ज्ञानवृद्ध पुरुषों की सेवा करने वाला गुणी बनता है। अनाचार त्याग और सदाचार का पालन करने में जो स्थित है, वह 'व्रतस्थ' और जो हेय उपादेय वस्तुओं का निश्चय करने वाले ज्ञान से संयुक्त हो वह 'ज्ञानवृद्ध' कहलाता है। इन दोनों की सेवा कल्पवृक्ष के समान महाफल को देने वाली होती है व्रती पुरुषों की सेवा से व्रत का उदय और ज्ञान वृद्धों की सेवा से वस्तु धर्म का परिचय होता है। इसलिये व्रती और ज्ञान वृद्धों को वन्दन करना तथा उनके आने पर (अभ्युत्थान) खड़े होना आदि बहुमान करना चाहिये।

२५. पोष्यपोषकः - पोषण करने योग्य माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र आदि परिवार को योगक्षेम से अर्थात् अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा करता हुआ पोषण करना चाहिये, जिससे कि लोक व्यवहार में बाधा न पड़े। लोक व्यवहार की बाधा

धर्मसाधन में विघ्नभूत है, अतएव पोषण करने के लायक को पोषण करने वाला मनुष्य सद्गुणी बनता है।

“दीर्घदर्शी विशेषज्ञः, कृतज्ञो लोकवल्लभः ।

सलज्जः सदयः सौम्यः, परोपकृतिकर्मठः ॥१॥”

२६. दीर्घदर्शी - अर्थ और अनर्थ दोनों का विचार करने वाला मनुष्य दीर्घदर्शी कहा जाता है। दीर्घ विचार करने वाला मनुष्य हर एक कार्य को विचार पूर्वक करता है, किन्तु सहसा नहीं करता। कहा भी है कि -

“सहसा विदधीत न क्रिया - मविवेकः परमाऽऽपदां पदम् ।

वृणते हि विमृश्य कारिणं, गुणालुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥१॥”

तात्पर्य - बिना विचार किये किसी क्रिया को न करें, अविवेक पूर्वक की हुई क्रिया परम आपत्ति की स्थानभूत होती है। विचारपूर्वक कार्य करने वालों को गुण में लुब्ध हुई, अर्थात् गुणाभिलाषिणी सम्पत्तियाँ स्वयमेव वरण करती हैं, अर्थात् उसके समीप में चली आती हैं।

दीर्घदर्शी पुरुषों में भूत भविष्यत् काल का विचार करने की शक्ति होती है, अर्थात् अमुक कार्य करने से हानि और अमुक कार्य करने से लाभ होना संभव है। इस प्रकार विचार करने वाला मनुष्य सफल कार्य हो सुखी और गुणी होता है।

२७. विशेषज्ञः - वस्तु, अवस्तु, कृत्य, अकृत्य, आत्मा और पर में क्या अंतर है ? उसको जानने वाला अथवा आत्मा के गुण व दोष को पहचानने वाला 'विशेषज्ञ' कहलाता है। जिस मनुष्य में अपने वरताव और गुण-दोष पर दृष्टि देने की शक्ति नहीं है, वह पशु समान ही है, उसे आगे बढ़ने की आशा रखना आकाश कुसुमवत

असंभव है। जो गुण और दोषों आदि को नहीं पहचानते, उनका निस्तार इस संसार से होना असंभव है, अतएव विशेषज्ञ मनुष्य गृहस्थ धर्म और गुण ग्रहण करने योग्य है।

२८. कृतज्ञ - किए हुए उपकारों को जानने वाला पुरुष अनेक सद्गुण प्राप्त कर सकता है और जो उपकारों को भूल जाता है अथवा गुण लिये बाद उपकारी पर मत्सर धारण करता है, उसमें फिर गुण वृद्धि नहीं हो सकती और सीखे हुए गुण प्रतिदिन मलिन होते जाते हैं, अतएव उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ने वालों को कृतज्ञ हो गुण ग्रहण करने में निरंतर प्रयत्न करना चाहिये।

२९. लोक वल्लभः - विनय, विवेक आदि सद्गुणों से प्रामाणिक लोकों को प्रियकर होने वाला पुरुष उत्तम गुणों का संग्रह कर सकता है। यहाँ पर लोक शब्द से सामान्य लोक नहीं समझना चाहिये, सामान्य लोकों को प्रायः कोई वल्लभ नहीं होता, क्योंकि दुनिया दो रंगी है - धर्म करने वालों की भी निन्दा करती है, कार्य करने वालों में दोष निकालती है और नहीं करने वालों को आलसी अथवा हतवीर्य कहती है। इसी से किसी बुद्धिमान ने कहा है कि 'लोक मूके ते फोक, तू तारू संभाल' अर्थात् लोक चाहे सो कहते रहें, परन्तु तुझे तेरा (अपना) कार्य संभाल लेना चाहिये। इस लोकोक्ति में लोक शब्द से सामान्य लोक का ग्रहण किया है, परन्तु 'लोक वल्लभः' यहाँ तो लोक शब्द से प्रामाणिक लोक ही जानना चाहिये।

सलज्जः - लज्जावान् पुरुष अंगीकार किये हुए नियमों को प्राण नष्ट होने पर भी नहीं छोड़ता, इसी से 'दशवैकालिकसूत्र' में लज्जा शब्द से संयम का ग्रहण किया है। संयम का कारण लज्जा

है, अतएव कारण में कार्योंपचार करने से लज्जा संयम गिना जाता है। लज्जावान् पुरुषों की गिनती उत्तम पुरुषों की पंक्ति में होती है, किन्तु निर्लज्जों की नहीं होती। लज्जा गुण को धारण करने वाले अग्नि में प्रवेश करना, अरण्यवास करना और भिक्षा से जीना अच्छा समझते हैं, लेकिन प्रतिज्ञा भ्रष्ट होना ठीक नहीं समझते। अतएव लज्जावान् मनुष्य गुणवान् बनने के योग्य और धर्म के भी योग्य कहा गया है।

३१. सदयः - दुःखी जीवों को दुःख से बचाना अर्थात् सुखी करना, ऐसे गुण वाला पुरुष धर्म के योग्य होता है। दया के बिना कोई पुरुष धर्म के लायक नहीं हो सकता। दुःखित जीवों को देखकर जिसका अंतःकरण दयार्द्र नहीं होता, वह अंतःकरण नहीं है, किन्तु अंतःकरण (नाशकारक) है। धर्म के निमित्त पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध करने वाला धर्म के लायक होना कठिन है, दयावान् पुरुष ही दान, पुण्य आदि सुकृत कार्य भले प्रकार कर सकता है। सब दानों में दयादान बड़ा है, जो एक जीव की रक्षा करता है, वह भी सदा के लिए निर्भय हो जाता है, तो सब जीवों की रक्षा करने वालों की तो बात ही क्या कहना है ? इसलिये मनुष्यों को निरंतर सदय रहना चाहिये, दयादान देने वाला भवान्तर में सुखी रहता है। सुमेरू पर्वत के बराबर सुवर्णदान से, सम्पूर्ण पृथिवी के दान से और कोटि गोदान से जितना फल होता है, उतना फल एक जीव की रक्षा करने से होता है, इससे गुणाभिलाषाओं को उचित है कि दयालु स्वभाव हो प्राणिमात्र को सुखी बनाने का प्रयत्न करें।

३२. सौम्यः - शांत प्रकृति वाला पुरुष हर एक सदगुण को सुगमता से प्राप्त करता है। इसी गुण से पुरुष सबके प्रिय लगता

है और इसी से उसको सब कोई उत्तम और रहस्यपूर्ण गुण सिखाने में कसर नहीं करते हैं। क्रूर स्वभावी पुरुषों को कोई कुछ नहीं सिखलाता और न उससे कोई मित्रता ही रखता है ! इसलिये उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ने वालों को निरंतर शान्त स्वभाव ही रहना चाहिए क्योंकि शान्त स्वभाव वाले पुरुषों के पास हिंसक जन्तु भी वैरभाव छोड़कर विचरते हैं, अर्थात् गौ और सिंह आदि भी साथ ही सहवास करते हैं।

३३. परोपकृतिकर्मठः - परोपकार में दृढ़ वीर्य (तत्पर) मनुष्य संसारगत मनुष्यों के नेत्र में अमृत के समान देख पड़ता है और परोपकार रहित पुरुष विष के समान जान पड़ता है। मनुष्य शरीर के अवयव दूसरे जीवों की तरह किसी काम में नहीं आते, इससे असार शरीर से परोपकारादि सार निकाल लेना ही प्रशस्य है, क्योंकि परोपकार धर्म का पिता है और धर्म से बढ़कर संसार में कोई सार पदार्थ नहीं है। प्रसंग प्राप्त यहाँ पर परोपकार की पुष्टि के लिये एक दृष्टांत लिखा जाता है, आशा है, कि पाठकों को वह अवश्य रुचिकर होगा।

राजा भोज के दरबार में एक समय पंडितों की सभा हुई, उसमें साहित्य विद्या में प्रवीण और शास्त्र पारंगत अनेक नामी-नामी विद्वान उपस्थित हुए। उस सुरम्य सभा में राजा भोज ने पूछा कि विद्वानों ! कहो कि धर्म का पिता कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में पंडितों में नाना भाँति के विकल्प खड़े हो गये। किसी ने कहा कि - धर्म नाम युधिष्ठिर का है, इससे उसका पिता राजा पाण्डु है। किसी ने कहा यह ठीक नहीं, धर्म अनादि है, इसलिये इसका पिता ईश्वर है।

किसी ने कहा - यह भी अनुचित है, क्योंकि निरंजन निराकार ईश्वर धर्म को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? और कई एक धर्मों में ईश्वर को उत्पादक नहीं माना जाता, तो क्या उनमें धर्म नहीं है ? किसी ने कहा - धर्म का पिता सत्य है, कारण कि सत्य से धर्म उत्पन्न होता है। किसी ने कहा - मुझे तो यह उत्तर ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि सत्य धर्म का उत्पादक नहीं, किन्तु अङ्ग माना गया है। इस प्रकार पंडितों में कोलाहल मच गया, परन्तु सबका एक मत नहीं हुआ। तब राजा भोज ने अपने मुख्य पंडित कालिदास से कहा कि तुमको एक महीने की अवधि दी जाती है, इसमें इस प्रश्न का उत्तर अच्छी तरह निश्चय करके देना, नहीं तो ठीक नहीं होगा।

सभा विसर्जन हुई, सब पंडित भारी चिंता में पड़े, परन्तु कालिदास को सबसे अधिक चिंता उत्पन्न हुई। विचार ही विचार में प्रहीने में एक ही दिन अवशेष रह गया, कालिदास चिंतातुर हो अरण्य में चले गये, परन्तु संतोष कारक कोई समाधान का कारण नहीं मिला। तब अपनी इष्ट देवी काली का स्मरण कर आत्मघात करने के लिए समुद्यत हुआ, इतने में आकाशवाणी प्रगट हुई कि -

“महाकवे ! मा प्रियस्व, त्वं रत्नमसि भारते ।

धर्मस्यैव पिता सत्यमुपकारोऽखिलप्रियः ॥१॥”

हे महाकवि ! मत मर, तू इस भारतवर्ष में रत्न है, समस्त संसार को प्रिय धर्म का पिता निश्चय से उपकार है, अर्थात् तू यह निश्चय से समझले कि धर्म का पिता उपकार ही है।

इस श्लोक को सुनते ही कालिदास को असीम आनन्द हुआ और राजा भोज का उत्तर देने के लिये आखिरी दिन सभा में हाजिर हुआ। राजा के पूछने पर कालिदास ने कहा कि - महाराज ! धर्म का पिता उपकार है। इस बाबत में महात्मा बुद्ध का भी अभिप्राय है कि 'दया उपकार की माता और उपकार धर्म का पिता है। इस उपकार का प्रकाश, जिसके हृदयपट पर पड़ा, वह मनुष्य दिव्य दृष्टि समझा जाता है।'

इस उत्तर को सुनकर राजा भोज अत्यानन्दित हुआ और उसने अपने आश्रित पाँच सो पण्डितों से सुशोभित सभा में कालिदास का बड़ा भारी सत्कार किया। इसी से कहा जाता है कि संसार में निःस्वार्थ उपकार के प्रभाव से ही मनुष्य पूज्य समझा जाता है। एक भाषा कवि ने भी लिखा है कि -

स्वार्थ बिन उपकार दिव्य गुण कहे जाय,
स्वार्थ बिन उपकार धर्म को प्रभाव है।
स्वार्थ बिन उपकार सुकृत की सुन्दर माल,
स्वार्थ बिन उपकार पूर्ण प्रेम भाव है ॥
हरि हर जैन बौद्ध स्वार्थ बिन उपकार से,
जगत में पूज्य बने पूरण प्रभाव से।
ऐसे दिव्य गुण धरी रहो, नित्य मगन में,
परम उपकार यश गाजे हैं गगन में ॥१॥

उपकार के विषय में आधुनिक विद्वानों ने भी लिखा है कि -
- "मनुष्य की श्रेष्ठता, उदारता, मोटाई और नम्रता में रही हुई है,

जिनमें परोपकार गुण नहीं है, उसका जीना संसार में व्यर्थ और भारभूत है।”

“जिसके हृदय में उपकार वृत्ति रहती है, उसके हृदय में परमेश्वर निवास करता है, जिसके हृदय में उपकार वृत्ति रूप सिंहासन रक्खा है, उस पर परमेश्वर विराजमान होता है, अये पामर ! अपना उपकार रूप चिलकता हुआ हीरा परमेश्वर को भेंट कर।”

“अपने पड़ोसी को तुम देखते हो, परन्तु उस पर तुम प्रेम नहीं रख सकते हों, तो परमेश्वर तो अदृश्य है, उस पर प्रेम किस प्रकार रख सकोगे।”

“परोपकार महागुण तुम्हारे साथ है और वह मानसिक, वाचिक तथा कायिक शक्ति का उत्पादक है, इसलिये सब गुण के पहले इसी गुण को प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिये।”

“उपकार महादान, उपकार देवपूजा और उपकार मन को नियम में रखने वाली उत्तम समाधि है। उपकारकर्ता देव, गुरु, मित्र और सब कोई को प्रिय लगता है, उपकार के बिना कोई शुभकार्य सफल नहीं होता।”

“सूर्य, चन्द्र, मेघ, वृक्ष, नदी, गौ और सज्जन ये; सब इस युग में परोपकार के लिये पैदा हुए हैं। जो मनुष्य प्रेम से पूर्ण हो, परोपकार रूप यज्ञ करता है, उसको हिंसामय दूसरे यज्ञ करने की कोई आवश्यकता नहीं है।”

“स्वर्ग सुख से भी परोपकारी जीवन उत्तम है। जो मनुष्य कायम परोपकार कर सकता है, उसको स्वर्ग में जाने की जरूरत नहीं है। उपकार रहित मनुष्य की अपेक्षा तो पत्र पुष्प और छाया के द्वारा उपकार करने वाले वृक्ष ही श्रेष्ठ हैं।”

“उपकारी पुरुष का जीवन असली नाणा (सिक्का) के समान है, इससे वह चाहे जहाँ चला जाय, उसकी कदर और कीमत होती है। खानदान कुटुम्ब का उपकार शून्य लड़का खोटे नाणा के समान है, इससे उसकी विदेश में भी कदर और कीमत नहीं होती।”

“यदि तुम्हारे हस्तगत कुबेर का भी भंडार हो, तो भी अपनी संतति को विद्या (हुन्नर) सिखाओ, चाँदी स्वर्ण की थैलियाँ खाली हो जाती है, लेकिन कारीगरी की थैली नहीं खुट सकती, जो हुन्नर होगा, तो किसी की गुलामी करने का मौका नहीं आवेगा और न भिक्षा माँगना पड़ेगी।”

“जिस तरह मल को साफ करने के लिये जल, वस्त्र को साफ करने के लिए साबू, शस्त्र को घिसने के लिए शराणी, सुवर्ण परीक्षा के लिये अग्नि और नेत्रों की सुन्दरता बढ़ाने के लिये अंजन की आवश्यकता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण कला कौशल और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए उपकार महागुण को सीखने की आवश्यकता है।”

“जिस पुरुष को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई हो और यदि वह यह चाहता हो कि जन्म जन्मांतर में भी मुझे सन्मार्ग मिलता जाय, तो उसे चाहिये कि निरन्तर परोपकार करने में तत्पर रहे, क्योंकि परोपकार करने ही से पुरुष के गुणों का उत्कर्ष होता है। यदि परोपकार सम्यक् प्रकार से किया जाय, तो वह धीरता को बढ़ाता है, दीनता को कम करता है, चित्त को उदार बनाता है, उदरंभरित्व को छुड़ाता है, मन में निर्मलता लाता है और प्रभुता को प्रगट करता है। इसके पश्चात् परोपकार करने में तत्पर रहने वाले पुरुष को पराक्रम (वीर्य) प्रगट होता है, मोहकर्म नष्ट होता है और दूसरे जन्मों

में भी वह क्रम से उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुन्दर सन्मार्गों को पाता है तथा वह ऊपर चढ़कर फिर कभी नीचे नहीं गिरता, किसी की याचना की अपेक्षा नहीं करना चाहिये, अर्थात् यह नहीं सोचना चाहिये कि जब कोई हमसे आकर पूछेगा, तब हम बतलाएँगे।”

अतएव परोपकार परायण मनुष्य ही धर्म के योग्य बनता है और अनेक सद्गुणों को प्राप्त कर उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ता है, इसलिये हर एक मनुष्य को इसी गुण के अभ्यास करने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि उपकार के प्रभाव से भी पुरुष उत्तमदशा को प्राप्त कर सकता है।

“अन्तरङ्गरिषड्वर्ग - परिहारपरायणः ।

वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृही धर्माय कल्पते ॥१०॥”

भावार्थ - ३४. अन्तरङ्ग छह शत्रुओं का त्याग करने वाला पुरुष धर्म के और गुण ग्रहण करने के योग्य होता है। वास्तव में प्रत्येक प्राणी वर्ग के गुणों का नाश करने वाले अन्तरङ्ग शत्रु ही हैं। यदि अन्तरङ्ग शत्रु हृदय से बिलकुल निकाल दिये जायँ, तो हर एक सद्गुण की प्राप्ति सुगमता से हो सकती है, जिसने अन्तरङ्ग शत्रुओं को पराजित कर दिया, उसने सारे संसार को वश में कर लिया, ऐसा मान लेना बिलकुल अनुचित नहीं है। काम से दाण्डक्य भोज, क्रोध से करालवैदेह, लोभ से अजबिन्दु, मान से रावण तथा दुर्योधन, मद से हैहय तथा अर्जुन और हर्ष से वातापि तथा वृष्णिजंघ आदि को इस संसार मंडल में अनेक दुःखों का अनुभव करना पड़ा है। अतएव अन्तरङ्ग शत्रुओं का परित्याग करने वाला मनुष्य अपूर्व और अलौकिक योग्यता का पात्र बनकर अपना और दूसरों का सुधार कर सकता है।

३५. वशीकृतेन्द्रिय ग्रामों, गृही धर्माय कल्पते ।’

अर्थात् जिसने इन्द्रिय समूह को वश कर लिया है, वह पुरुष गृहस्थ धर्म के योग्य हो सकता है। यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है

कि अभी धर्म की प्राप्ति तो हुई नहीं, तो इन्द्रिय समूह को वशीभूत करना किस प्रकार बन सकता है और इन्द्रियों को वश में करने वाला पुरुष गृहस्थाश्रम किस तरह चला सकता है ?

इसके समाधान में हम यही कहना समुचित समझते हैं कि - 'वशीकृतेन्द्रियग्रामः' इस वाक्य का अर्थ इस तरह करना चाहिये कि जिसने इन्द्रिय समूह को मर्यादीभूत किया है, क्योंकि इन्द्रियों का सर्वथा परित्याग तो मुनिराज ही कर सकते हैं, परन्तु मर्यादीभूत अर्थ करने से गृहस्थों के लिये किसी तरह बाधा नहीं रह सकती। धर्म प्राप्ति के पूर्व मनुष्य स्वभाव से ही मर्यादावर्ती देख पड़ता है और धर्म प्राप्त होने बाद भी मर्यादा पूर्वक ही विषयादि का आचरण करना शास्त्रकारों ने प्रतिपादन किया है।

जो गृहस्थ इन्द्रियों को मर्यादा में रखकर मानसिक विकारों को रोकने का प्रयत्न करते रहते हैं, उनका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है। इन्द्रियों को मर्यादा में रखने से ही शारीरिक और मानसिक अपूर्व शक्ति का उदय होता है और जो विषय लुब्ध हैं, उनकी शरीर सम्पत्ति बिगड़े बिना नहीं रह सकती। एक-एक इन्द्रियों के विषयवशवर्ती प्राणी जब दुःखी देखे जाते हैं, तो पाँचों इन्द्रियों के विषय में लुब्ध होने वाले प्राणियों की दशा बिगड़े, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जब तक इन्द्रियों को पराजय करने का अभ्यास नहीं किया, तब तक दूसरा अभ्यास किया हुआ सफल नहीं होता, अतएव इन्द्रियों को मर्यादा में रखने वाला गृहस्थ ही धर्म के योग्य होता है।

इस प्रकार मार्गानुसारी गुणों का संक्षिप्त स्वरूप कहने के बाद यह लिखा जाता है कि - मार्गानुसारी मनुष्यों को मध्यम भेद में क्यों गिने ? इसका समाधान ग्रन्थकार महर्षि इस तरह करते हैं

कि - मार्गानुसारी पुरुष स्वार्थ और परमार्थ दोनों का साथ ही साधन करता है, अर्थात् त्रिवर्ग का साधन कर परमार्थ साधन करता है, किन्तु केवल परमार्थ (परोपकार) ही नहीं करता रहता।

नीतिकार स्वार्थ और परमार्थ को साथ ही साधन करने का उपदेश देते हैं, परन्तु धर्मशास्त्र कहता है कि स्वार्थ को छोड़कर केवल परोपकार करने में दत्त चित्त रहना चाहिये। मार्गानुसारी पुरुष नीति मार्ग का आचरण करने वाला होता है, इसीसे वह प्रथम स्वार्थ का साधन करके तदनन्तर परमार्थ में प्रवृत्ति करता है, अतएव मार्गानुसारी पुरुष मध्यमभेद में ही गिने जाता है।

मध्यमभेदवाला मनुष्य मध्यस्थ स्वभावी होता है, किन्तु किसी भी धर्म (मत) का द्वेषी नहीं होता, इसी से वह सब दर्शनों पर गुणानुराग रख कर प्रत्येक दर्शन से सत्य-सत्य बात का ग्रहण कर लेता है और धीरे-धीरे सद्गुणी बनकर परोपकार करने में दृढ़व्रती बनता है।

पूर्वोक्त चार भेद वालों की प्रशंसा का फल -

एएसि पुरिसाणं जइ गुणग्रहणं करेसि बहुमाणं ।

त। आसन्नशिवसुहो, होसि तुमं नत्थि संदेहो ॥२२॥

तेषां पुरुषाणां, यदि गुणग्रहणं करोषि बहुमानम् ।

तत आसन्नशिवसुखो, भवसि त्वं नास्ति संदेहोः ॥२२॥

शब्दार्थ - (एएसि) इन पूर्वोक्त (पुरिसाणं) पुरुषों का (बहुमाणं) बहुमान पूर्वक (जइ) जो (गुणग्रहणं) गुण ग्रहण (करेसि) करेगा (तो) तो (तुमं) तू (असन्नशिवसुहो) थोड़े ही समय में मोक्ष सुख वाला (होसि) होवेगा (संदेहो) इसमें संदेह (नत्थि) नहीं है।

भावार्थ - जो मनुष्य पूर्वोक्त चार भेद वाले पुरुषों के बहुमानपूर्वक गुण ग्रहण करते हैं, उनको निःसदेह शिव सुख मिलता है।

विवेचन - पूज्य पुरुषों की सादर प्रशंसा करने से अज्ञान का नाश होता है, बुद्धि निर्मल होती है, सद्गुणों का स्रोत बढ़ता है, अपमान का क्षय होता है, आत्मीय शक्ति का प्रकाश, सैद्धांतिक रहस्यों का ज्ञान और अनुपम सुखों का अनुभव होता है। गुणी बनने का सबसे सरल उपाय यही है कि पूज्यों का आदर, उनके आने पर खड़े होना, जहाँ-तहाँ उनके गुणों की प्रशंसा करना। पूज्य पुरुषों की निन्दा कभी न करना चाहिये, क्योंकि इससे सद्गुणों की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा से प्राप्त गुणों का विनाश होता है। संसार में गुण-द्वेषी मनुष्य दुःखी देखे जाते हैं और गुण-प्रशंसा करने वाले लोगों के द्वारा सम्मानित होते देख पड़ते हैं।

अहा !! उन सत्पुरुषों को धन्य है जो कि इस संसार में जन्म लेकर निःस्वार्थ वृत्ति से परोपकार करने में अपने जीवन को व्यतीत कर रहे हैं, जो सैकड़ों दुःख सहनकर संसार रूप दावानल से संतप्त पामर प्राणियों का उद्धार करने में दत्तचित्त हैं, जो किसी में अंशमात्र भी गुण हैं, तो उसको पर्वत के समान मानकर आनन्दित होते हैं, जो स्वयं दुःख देखते हैं, लेकिन दूसरों को दुःखी नहीं होने देते, जो करुणा बुद्धि से संसारी प्राणियों को सुखी होने के उपाय खोजा करते हैं, जो मरणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी सस्यमार्ग का उल्लंघन नहीं करते हैं, जो स्व पर हित साधक व्रतों का पालन करने में सदोद्यत रहते हैं और जो मद मात्सर्य से रहित हो शिष्टाचरण में लगे रहते हैं। “वह दिन कब उदय होगा कि जब मैं भी सत्पुरुषों के मार्ग का आचरण करूँगा और सकल कर्मों का क्षय कर अखण्डानन्द विलासी बनूँगा।” इस प्रकार शुद्ध भावना के सहित गुणीजनों के

गुणों की प्रशंसा कर हृदय को पवित्र करना चाहिये। परमार्थ सिद्धि के लिये पवित्र हृदय की ही आवश्यकता है, धर्म शब्द की व्याख्या करते हुए श्रीमान् श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने 'पुष्टिशुद्धिमच्चित्तं धर्मः' पवित्र विचारों से पुष्ट हुआ अन्तःकरण ही धर्म है, अर्थात् हृदय की पवित्रता को ही धर्म माना गया है।

गुण प्रेमी पुरुष धर्म का मर्म सुमगता से समझ सकता है। ग्रन्थकारों ने लिखा है कि - जो कल्याण की इच्छा रखने वाला, गुणग्राही, सत्य प्रिय, विनीत, निर्मायी, जितेन्द्रिय, नीतिमान्, स्थिर चित्त, विवेकवान्, धैर्यवान्, धर्माभिलाषी और बुद्धिमान हो, उसी को धार्मिक मर्म समझाना चाहिये, क्योंकि उक्त गुणवाला मनुष्य धार्मिक रहस्यों को भले प्रकार समझकर शास्त्रीय नियमों को स्वयं पालन करता है और दूसरों को भी पालन कराता है, परन्तु अन्तःकरण की श्रद्धा तथा गुण-प्रेमी हुए बिना धार्मिक तत्वों को समझने का साहस करना आकाशकुसुमवत् है।

स्वाभाविक हृदय की पवित्रता अन्तर्हेतुओं को पुष्ट करने वाली और औन्नत्य दशा पर चढ़ाने वाली होती है। इस भारत भूमि के एक कोणे में अनेक विद्वान जन्म लेकर विलय हो चुके हैं और अब भी हो रहे हैं, लेकिन प्रशंसा उन्हीं की है, जो स्वानुभव के योग से अंतरङ्ग प्रेम रखकर गुण प्रशंसा करने में अपने अमूल्य समय को व्यतीत करने में उद्यत हैं। शास्त्रकार महर्षियों का तो यहाँ तक कहना है - 'निर्दोष चरित्रवान् और सिद्धांतपारगामी होने पर भी यदि चित्तवृत्ति निन्दा करने की तरफ आकर्षित हो, तो उसे मोक्ष सुख का रास्ता मिलना दुर्घट है और जो शिथिलाचारी हैं, परन्तु वह गुणानुरागी हैं, तो उसे शिवसख मिल जाना कठिन नहीं है।'

विषय की पुष्टि के लिये यहाँ एक दृष्टांत लिखा जाता है, उसे वाचक वर्ग मनन करें।

कुसुमपुर नगर के मध्य में किसी श्रीमंत सेठ के घर में दो साधु उतरे। एक मेड़ी पर और एक नीचे ठहरा। ऊपर वाला साधु पंच महाव्रतधारी शुद्धाहारी, पादचारी, सचितपरिहारी, एकलविहारी आदि गुणगण विभूषित था, परन्तु केवल लोकैषणा मन था। नीचे उतरा हुआ साधु था तो शिथिलाचारी, लंकिन गुणप्रेमी, निर्मासी निरभिमानी और सरल स्वभावी था।

भक्त लोग दोनों साधु को वन्दन करने के लिये आये। प्रथम नीचे उतरे साधु को वन्दन करके फिर मेड़ी पर गये। उपरिस्थित साधु को यह बात मालूम हुई कि ये नीचे वन्दन करके यहाँ आये हैं, अतएव उसने भक्त लोगों से कहा कि - पार्श्वस्थों को वन्दन करने से महापाप लगता है तथा भगवान् की आज्ञा का भंग होता है और संसार वृद्धि होती है। नीचे जो साधु ठहरा हुआ है, उसमें चारित्रगुण शिथिल हैं, उसके आचरण प्रशंसा के लायक नहीं है, इसलिये ऐसों के वन्दन से संसार परिभ्रमण कम नहीं हो सकता। भक्त लोग हाँजी-हाँजी कर नीचे उतरे और सब वृत्तान्त नीचे के साधु से कह दिया।

भक्त लोगों की बातें सुनकर नीचे का साधु कहने लगा कि - "ऊपर के पूज्यवर्य महाभाग्यशाली सूत्रसिद्धांत पारगामी, निर्दोष चारित्रवान्, शुद्ध आहार लेने वाले हैं, मैं तो शिथिल हूँ, केवल उदरभरी हूँ, मुझ में प्रशंसा के लायक एक भी गुण नहीं है, मैं साधु धर्म से बिलकुल विमुख हूँ, इसलिये ऊपर के मुनिवर ने जो मुझको अवन्दनीय बताया है वह ठीक ही है।"

गुणानुरागी मुनि के प्रशंसाजनक वचनों को सुनकर भक्त लोग चकित हो गये और मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा करने लगे। इसी अवसर में नगर के बाह्योद्यान में कोई अतिशय ज्ञानी मुनिवरेन्द्र का पधारना हुआ, सब लोग वन्दन करने को गये। योग्य सभा के बीच में मुनिवर ने मधुर वचनों से कहा कि -

भव्यो ! “किसी शुभ कर्म के उदय से यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म धारण करके तथा उत्तम कुल और उत्तम धर्मादि सामग्री पा करके तुमको चाहिये कि जो वस्तुएँ छोड़ने योग्य हैं, उन्हें छोड़ना, जो करने योग्य कर्म हैं, उन्हें करना, जो प्रशंसा करने योग्य हैं, उनकी प्रशंसा करना और जो सुनने योग्य है, उन्हें अच्छी तरह से सुनना। मन, वचन और काया संबंधी ऐसी प्रत्येक क्रिया, जो कि परिणामों में थोड़ीसी भी मलिनता उत्पन्न करने वाली, अतएव मोक्ष की रोकने वाली हो, अपनी भलाई चाहने वालों को छोड़ देनी चाहिये। जिनका अंतरात्मा निर्मल हो गया है, उन्हें तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र देव, उनका निरूपण किया हुआ जैन धर्म और उसमें स्थिर रहने वाले, इन तीनों की निरन्तर प्रशंसा करनी चाहिये।”

मुनिवर के आत्मोद्धारक सुभाषित वचनों को सुनकर श्रोता अत्यानन्दित हुए। अवसर पाकर भक्त लोगों ने पूछा कि भगवन् ! गाँव में जो दो साधु ठहरे हुए हैं, उनमें लघुकर्मी कौन है ? अतिशय ज्ञानी ने कहा कि जो साधु निन्दा करने वाला लोकैषणा मग्न और दम्भी मेढी पर ठहरा है, उसके भव बहुत है, अर्थात् वह संसार में अनेक भव करेगा और जो गुणप्रेमी सरल स्वभावी साधु नीचे ठहरा हुआ है, वह परिमित भव में कर्म मुक्त होकर मुक्ति मंदिर का स्वामी बनेगा।

पाठक महोदय ! इस दृष्टांत का सार यही है कि उत्तम पुरुषों के गुणों का बहुमान और प्रशंसा करने वाला मनुष्य ही मोक्ष सुख का पात्र बन सकता है, परन्तु निन्दक और गुण-द्वेषी नहीं बन सकता। अतएव एकांत में या सभा के बीच में, सोते हुए या बैठे और गाँव में या अरण्य में, सब जगह प्रतिक्षण उत्तम पुरुषों के गुणों का बहुमान ही करते रहना चाहिये। इसी से मनुष्य आश्चर्य कारक उन्नत दशा पर चढ़कर अपना और दूसरों का भला कर सकता है।

पार्श्वस्थादिकों की भी निन्दा और प्रशंसा नहीं करना -

पासत्थाऽऽइसु अहुणा, संजमसिढिलेसु मुक्कजोगेसु ।

नो गरिहा कायव्वा, नेव पसंसा सहा मज्जे ॥ २३ ॥

पार्श्वस्थादिष्वधुना, संयमशिथिलेषु मुक्त योगेषु ।

नो गर्हा कर्त्तव्या, नैव प्रशंसा सभा मध्ये ॥ २३ ॥

शब्दार्थ - (अहुणा) वर्तमान समय में (मुक्कजोगेसु) त्रिविध योग से रहित (संजमसिढिलेसु) संयम परिपालन में शिथिल (पासत्थाऽऽइसु) पार्श्वस्थादिकों की (सहा मज्जे) सभा के बीच में (नो) नहीं, (गरिहा) निन्दा (कायव्वा) करना और (नेव) नहीं (पसंसा) प्रशंसा करना चाहिये।

भावार्थ - आजकल संयम पालन करने में ढीले पड़े हुए योग क्रिया से हीन पार्श्वस्थ आदि यतिवेषधारी पुरुषों की, सभा के बीच में न तो निन्दा और न प्रशंसा ही करना चाहिये।

विवेचन - संयम लेकर जो नहीं पालन करते और अनाचार में निमग्न रहते हैं, उनको अधम से भी अधम समझना चाहिये। आजकल जैन सम्प्रदाय में भी बाहर से तो साधुपन का आडम्बर रखते हैं और गुप्त रीति से अनाचारों का सेवन करते हैं, ऐसे एक नहीं, किन्तु अनेक नामधारी साधु देख पड़ते हैं। इसी प्रकार श्रावक

भी - श्रावक के गुणों से शून्य, मायाचारी, अनाचारशील, देवद्रव्यभक्षक, कलहप्रिय और धर्मश्रद्धा विहीन देखे जाते हैं।

जो विषयादि भोगों में लुब्ध चित्तवाले हैं और जो बाह्य वृत्ति से राग रहित मालूम होते हैं, परन्तु अन्तःकरण में बद्धराग है, ऐसे लोगों को कपटी तथा केवल वेषाडम्बरी धूर्त समझना चाहिये। इस प्रकार के धूर्त केवल लोगों के चित्त को रंजन करने में ही प्रयत्नशील रहते हैं। हिन्दुस्तान में वर्तमान समय में बावन अठावन लाख नामधारी साधु हैं, उनमें कितने एक यशोवाद धन - माल आदि के आधीन हो साध्वाचार को जलांजलि देने वाले हैं और कई एक उन्मत्तता से स्वेच्छाचारी बनकर शास्त्र मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हैं।

पूर्वोक्त विडम्बकों की प्रशंसा करना यह प्रायः अनाचारों की प्रशंसा करने के समान है, इसलिये इनकी प्रशंसा नहीं करना चाहिये, परन्तु सभा के बीच में इनकी निन्दा भी करना अनुचित है। शीलहीन अनाचारी पुरुषों के साथ में परिचय न रखकर उनकी प्रशंसा अथवा निन्दा करने का प्रसंग ही नहीं आने देना चाहिये। यह सबसे उत्तम मार्ग है, क्योंकि निन्दा करने से शिथिलाचारियों की शिथिलता मिट नहीं सकती, प्रत्युत वैर-विरोध अधिक बढ़ता है और प्रशंसा करने से शिथिलाचार की मात्रा अधिकता से बढ़ जाती है, जिससे धार्मिक और व्यावहारिक व्यवस्था लुप्त प्राय (नष्ट-भ्रष्ट) होने लगती है।

राजा की शिथिलता से प्रबल राज्य का, नियोजकों की शिथिलता से बड़े भारी समाज का आचार्यों की शिथिलता से दिव्य गच्छ का, साधुओं की शिथिलता से संयम योग का, पति की शिथिलता से स्त्रियों के व्यवहार का, पिताओं की शिथिलता से पुत्रों के सदाचारों का और अध्यापकों की शिथिलता से विद्यार्थियों

के ज्ञान का नाश होते देर नहीं लगती। अतएव बुद्धिमानों को शिथिलाचारियों की प्रशंसा और निन्दा न करनी चाहिये, परन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति का प्रतिपादन करने में हरकत नहीं है।

“संसार का विचित्र ढंग है, इसमें नाना मतिशाली पुरुष विद्यमान हैं। कोई नीतिज्ञ, कोई कर्मज्ञ, कोई मर्मज्ञ, कोई कृतज्ञ है, तो कोई त्रिकालगत पदार्थों का विवेचन करने में निपुण है और कोई अद्वितीय शास्त्रज्ञ है, परन्तु स्वदोषों को जानने वाले तो कोई विरले ही पुरुष हैं। बृहस्पति जो कि देवताओं के गुरु कहे जाते हैं, उनसे भी वह पुरुष अधिक बुद्धिवान समझा जाता है, जो कि अपने में स्थित दोषों को ठीक-ठीक जानता है और उनको दूर करने में प्रयत्नशील बना रहता है। जब मनुष्य इस बात का अनुभव करता है कि मुझ में जो जो त्रुटियाँ और अपवित्रताएँ हैं, उन्हें मैंने ही स्वयं उत्पन्न किया है और मैं ही उनका कर्ता और उत्तरदाता हूँ, तब उसे उन पर जय प्राप्त करने की आकाँक्षा होती है और किस तरह से उसे सफलता हो सकती है, वह मार्ग भी उसे प्रगट हो जाता है। इस बात का भी उसे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ मुझे जाना है। निन्दा में उन्मत्त हुए मनुष्य के लिए कोई मार्ग सरल और निश्चित नहीं है। उसके आगे-पीछे बिलकुल अंधकार ही है। वह क्षणिक सुखों के अन्वेषण में रहता है और समझने और जानने के लिए जरा भी उद्योग नहीं करता। उसका मार्ग अव्यक्त, अनवस्थित, दुःखमय और कंटकमय होता है, उसका हृदय शांति से कोसों दूर रहता है।”

संसार में सब कोई स्वयं किए हुए शुभाऽशुभ कर्मों के स्वयं उत्तर दाता है, ऐसा समझकर अधमाऽधम पुरुषों की निन्दा और

प्रशंसा करने से बिलकुल दूर रहना चाहिये और नीचे लिखे गुर्जर भाषा के पद्य का मनन करके अपनी आत्मा को पवित्र बनाना चाहिये।

मन चन्दाजी! पुष्पसमी रीत

राखी जगमां चालवुं मन. ॥टेर॥

तु पुष्पसमी दृष्टि करजे,

सद्गुण तेनां उर धरजे।

दृढ निश्चय धारीने तजरे ॥म.॥ १॥

जेने दूरथी पण सुवास दिए,

निरखे ते झट चूटि लिये।

दुःख थाय तथापि नहीं हीये ॥म.॥ २॥

चोले तो तेनो नाश थतो,

पण हाथथी वास न दूर जतो।

एवो उत्तम गुण तुं कर छतो ॥म.॥ ३॥

हे मन! पुष्पसमूं थई रहेजे,

अवगुण कोईना नव उर लेजे।

सर्वस्थले सहुने सुख करजे ॥म.॥ ४॥

कनडे तेने सुख देवुं,

तुं आजथी व्रत लेने एवुं।

दुःख लागे मन मारी रहेवुं ॥म.॥ ५॥

तत्त्व दष्टिये दुःख नाम नहीं,
 सुख पण शोध्यं जड़े न अहीं।
 शीद झूरी मरे छे मपत्व प्रही ॥म.॥६॥
 कुंकचन्दनी जो तुं सीख धरे,
 तो जल्दी तुं सुख शान्ति वरे।
 आत्मा गुण खोजे मुक्ति वरे॥म.॥७॥

अधमाधमों को उपदेश की तरकीब -

काऊण तेसु करुणं, जइ मन्नइ तो पयासए मग्गं।
 अह रुसइ तो नियमा, न तेसि दोसं पयासेइ ॥२४॥
 कृत्वा तेषु कुरणां, यदि मन्यते ततः प्रकाशते मार्गम् ।
 अथ रुष्यति ततो नियमात् , न तेषां दोषं प्रकाशयति॥२४॥

शब्दार्थ - (जइ) जो (मन्नइ) शिक्षा माने (तो) तो (तेसु) उनपर (करुणं) दयाभाव (काऊण) लाकर (मग्गं) शुद्धमार्ग को (पयासए) प्रकाशित कर (अह) अथवा वह (रुसइ) क्रोधित हो (तो) (तेसि) उन के (दोसं) अवगुण को (नियमा) निश्चय से (न) नहीं (पयासेइ) प्रकाशित करना।

भावार्थ - हीनाचारी अधमाऽधम पुरुषों के ऊपर करुणाभाव ला करके यदि उन्हें अच्छा मालूम हो तो हितबुद्धि से सत्यमार्ग बताना चाहिए, यदि सत्यमार्ग बताने में उनको क्रोध आता हो तो उनके दोष बिल्कुल प्रकाशित न करना चाहिए।

विवेचन - वास्तव में उपदेश उन्हीं को लाभ कर सकता है कि जो अपनी आत्मा को सुधारना चाहते हैं। जो उपदेश देने से क्रोधित होते हैं उनको उपदेश देना ऊपर भूमि पर बीज बोने के समान

निष्फल है। इसी से ग्रन्थकार ने 'जड़ मन्नड़ तो पयासए मगं' यह वाक्य लिखा है, इसका असली आशय यही है कि सुनने वालों की प्रथम रुचि देखना चाहिए, क्योंकि सुनने की रुचि हुए बिना उपदेश का असर आत्मा में भले प्रकार नहीं जच सकता। अतएव रुचि से मानने वाले (अधभाधम) पुरुषों को हृदय में करुणाभाव रख मधुर वचनों से इस प्रकार समझाना चाहिए -

महानुभावो! इस संसार में अनेक भवों में परिभ्रमण करते हुए कोई अपूर्व पुण्ययोग से सर्व सावद्यविरतिरूप अनन्त सुखदायक चारित्र की प्राप्ति हुई है, उसको प्रमादाचरण से सदोष करना अनुचित है। जो साधु आलस छोड़कर मन, वचन और काया से साधु धर्म का पालन करते हैं उन्हें सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि सदगुण प्राप्त होते हैं। जो सुख साधु धर्म में है, वह राजा महाराजाओं को भी नहीं मिल सकता। क्योंकि साधुपन में दुष्टकर्मों की आमदानी नहीं है। स्त्री, पुत्र और स्वामी के कठोर वचनों का दुःख नहीं है, राजा वगैरह को नमस्कार करने का काम नहीं है, भोजन, वस्त्र पात्र, धन और निवासस्थान आदि की चिन्ता नहीं है, अभिनव ज्ञान की प्राप्ति, लोकपूजा और शान्तभाव से अपूर्व सुख का आनन्द प्राप्त होता है और भवान्तर में भी चारित्र परिपालन से स्वर्गाऽपवर्ग का सुख मिलता है।

जो साधु संयमधर्म में बाधा पहुँचाने वाले बिना कारण दिनभर शयन करना, शरीर हाथ मुख पैर आदि को धोकर साफ रखना, कामवृद्धि करने वाले पौष्टिक पदार्थों का भोजन करना, सांसारिक विषयवर्द्धक श्रृङ्गार कथाओं को वांचने में समय व्यतीत करना, गृहस्थों का और स्त्रियों का नित्य परिचय रखना, आधाकर्मादि वस्तुओं का सेवन और हास्य कुतूहल करना, अप्रतिलेखित पुस्तक, वस्त्र, पात्र और शय्या रखना, इत्यादि दोषों

का आचरण करते हैं, उनको उभय लोक में सुख समाधि नहीं हो सकती और न कर्मबन्ध का स्रोत ही घटता है। जो उक्त दोषों को छोड़कर छह अट्टमादि तपस्या, क्षमा संयम में रक्त, क्षुधा, तृषा आदि परिषह सहन में उद्यत रहते हैं, वे भगवान की आज्ञाओं की भले प्रकार आराधन कर मोक्षगति को सहज ही में प्राप्त करते हैं। अतएव साधुओं को चारित्र अंगीकार कर अनाचारों से अपनी आत्मा को बचाने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

कदाचित् उग्र संयम पालन करते न बने, तो स्त्रियों के परिचय से तो सर्वथा अलग ही रहना चाहिए, क्योंकि सुशील मनुष्य भी सामान्य से सज्जन और कृतपुण्य समझा जाता है। अनाचार सेवन करना महापाप है, दूसरे गुणों से हीन होने पर भी यदि अखंड ब्रह्मचर्य होगा तो उससे गुरुपद की योग्यता प्राप्त हो सकेगी, ब्रह्मचर्य में गड़बड़ हुईतो वह किसी गुण के लायक नहीं रह सकता।

साधुधर्म को स्वीकार करके जो गुप्त रूप से अनाचार सेवन, और मायास्थान सेवन करते हैं, उनसे गृहस्थधर्म लाख दरजे ऊँचा है, इसी से शास्त्रकार कहते हैं कि यदि साधुता तुम्हारे से न पाली जा सकती हो तो गृहस्थ बनो, अगर तुम्हें ऐसा करने में लज्जा आती हो तो निष्कपटभाव से लोगों के समक्ष यह बात स्पष्ट कहो कि मैं साधु नहीं हूँ, परन्तु साधुओं का सेवक हूँ, जो उत्तम साधु है उन्हें धन्य है, मैं तो उनके चरणों के रज की भी बराबरी नहीं कर सकता। मानसिक विकारों और तज्जन्य प्रवृत्तियों को रोककर संयम परिपालन करना यह सर्वोत्तम मार्ग है और इसी मार्ग से आत्मिक अनन्तशक्तियों का विकाश होकर उत्तम प्रकार की योग्यता प्राप्त होती है।

यदि यथार्थ संयम पालन करने की सामर्थ्य का नाश होते देख पड़े और मानसिक विकारों का स्रोत किसी प्रकार न घट सकता हो तो गृहस्थ बनकर गृहस्थ धर्म की सुरक्षा करना चाहिए, क्योंकि गृहस्थ धर्म से भी आत्मीय सुधारा हो सकता है। कहा भी है कि -

“गारिपिअश्रवसे नरे, अणुपुर्वि पाणेहि संजए।

समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छेस लोगयं।”

भावार्थ - घर में निवास करने वाला गृहस्थ भी अनुक्रम से देशविरति का पालन और सर्वत्र समताभाव में प्रयत्न करता हुआ देवलोकों में जाता है। अर्थात् गृहस्थ घर में रहकर भी जिनेन्द्रोक्त श्रावक धर्म की भले प्रकार आराधना कर देवलोक की गति प्राप्त करता है और क्रमशः मोक्षगामी बनता है।

इसी प्रकार मधुर शब्दों में करुणाभाव से उन हीनाचारियों को, जो कि संयम धर्म से पतित अनाचारी हैं, उपदेश देकर सुधारना चाहिए, किन्तु उनके दोष प्रकट करना न चाहिए, क्योंकि दोषियों के दोष प्रकट करने से उनके हृदयपट पर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता। हीनाचारियों के प्रति करुणाभाव रखने से उनके अज्ञान नष्ट करने में प्रवृत्त होने की प्रेरणा होती है, अन्त में परिणाम यह आता है कि न्यूनाधिक रूप से उन हीनाचारियों के अनाचार मिटने लगते हैं, उनकी आत्मिक उत्क्रान्ति का मार्ग भी साफ हो जाता है, और इस भावना और सहायता को करनेवाला मनुष्य भी उन्नत होता है। अतएव मधुरता और करुणाभाव पूर्वक ही प्रत्येक व्यक्ति को समझाने और सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। विकराल अथवा हिंसक पशु भी प्रेमदृष्टि और करुणाभाव से सुधर सकते हैं, तो अधम पुरुष क्यों नहीं सुधर सकते?

ग्रन्थकार ने करुणाभावपूर्वक समझाने की जो शिक्षा दी है, वह सर्वग्राह्य है। वास्तव में उपदेशकों को उपदेश देने में, माता पिताओं को अपने बालक और बालिकाओं को समझाने में, गुरुजनों को अपने शिष्यवर्ग को सुधारने में, अध्यापकों को विद्यार्थीवर्ग को विद्या ग्रहण कराने में, और पति को अपनी स्त्री को सच्चरित्र बनाने में उत्तमहोत्तम शिक्षा का ही अनुकरण करना चाहिए। जो लोग शिक्षा देते समय कटुक और अवाच्य शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनकी शिक्षाओं का प्रभाव शिक्षकवर्ग पर किसी प्रकार नहीं पड़ सकता और न उनका सुधारा ही हो सकता है।

अधमजनों को उपदेश देने और समझाने से यदि उनकी अप्रीति उत्पन्न होती हो तो माध्यस्थ भावना रखकर न तो उनकी प्रशंसा और न उनके दोष ही प्रकट करना चाहिए। अर्थात् अधमजनों की नीच प्रवृत्ति देखकर उनकी प्रवृत्तियों से न तो आनन्दित होना और न उन पर द्वेष ही रखना चाहिए। कर्मों की गति अति गहन है, पूर्ण पुण्य के बिना सत्यमार्ग पर श्रद्धा नहीं आ सकती। वसन्त ऋतु में सभी वनराजी प्रफुल्लित होती हैं, परन्तु करीर वृक्ष में पत्र नहीं लगते, दिन में सब कोई देखते हैं लेकिन घुग्घू नहीं देखता और मेघ की धारा सर्वत्र पड़ती है किन्तु चातक पक्षी के मुख में नहीं पड़ती, इसमें दोष किसका है? अत एव अधमजनों को उपदेश न लगे तो उनके कर्मों का दोष समझना चाहिए। ऐसा सम्यक्तया जानकर गुणीजनों को माध्यस्थ भावना पर आरूढ़ रहकर अधमजनों के दोष प्रकाशित करना उचित नहीं है।

वर्तमान समय में सदगुणी पुरुष कम हैं, इसलिए पूर्वोक्त सभी गुण मिलना यह स्वाभाविक है, परन्तु जिसमें अल्पगुण भी देख पड़े उसका भी बहुमान करना चाहिए।

यही उपदेश ग्रन्थकार देते हैं -

संपइ दूसमसमए, दीसइ थोवो विजस्स धम्मगुणो।

बहुमाणो कायव्वो, तस्स सया धम्मबुद्धीए ॥ २५ ॥

संप्रति दुःषमसमये, दृश्यते स्तोकोऽपि यस्य धर्मगुणः ।

बहुमानः कर्तव्य-स्तस्य सदा धर्मबुद्धया ॥ २५ ॥

शब्दार्थ - (संपइ) इस (दूसमसमए) पंचमकाल में (थोवो) थोड़ा (वि) भी (जस्स) जिस पुरुष का (धम्मगुणो) धार्मिक गुण (दीसइ) देख पड़ता है (तस्स) उसका (बहुमाणो) बहुमान आदर (सया) निरन्तर (धम्मबुद्धीए) धर्मबुद्धि से (कायव्वो) करना चाहिए।

भावार्थ - वर्तमान समय में जिस मनुष्य में थोड़े भी धार्मिक गुण देख पड़ें, तो उनकी भी धार्मिक बुद्धि से निरन्तर बहुमान पूर्वक प्रशंसा करनी चाहिए।

विवेचन - तीर्थङ्कर और गणधर सदृश स्वावलम्बी, कालिकाचार्य जैसे सत्यप्रिय, स्थूलभद्र, जम्बूस्वामी और विजयकुँवर जैसे ब्रह्मचारी, सिद्धसेन, वादिदेव, यशोविजय और आनन्दधन जैसे अध्यात्मताार्किक शिरोमणि, हेमचन्द्र आदि के सदृश संस्कृतसाहित्य प्रेमी, और धन्ना, शालिभद्र, गजसुकुमाल आदि महिमाशाली महर्षियों के सदृश तपस्वी सहनशील आदि सदगुणों से सुशोभित प्रायः वर्तमान में कोई नहीं दिख पड़ता, तथापि इस समय में भी आदर्श पुरुषों का सर्वथा लोप नहीं है, आज कल भी अनेक सदगुणी

पुरुष विद्यमान हैं, हाँ इतना तो कहा जा सकता है कि पूर्व समय की अपेक्षा इस समय न्यूनता तो अवश्य है।

अतएव इस दुःषम समय में जिस पुरुष में अल्प भीगुण हो तो उसकी हृदय से प्रशंसा करना चाहिए, क्योंकि प्रशंसा से मानसिक दशा पवित्र रहती है और सद्गुणों की प्रभा बढ़ती है।

पुरुष चाहे किसी मत के आश्रित क्यों न हो, परन्तु उसमें मार्गानुसारी आदि धार्मिक गुण प्रशंसा के लायक है। पूर्वकालीन इतिहास और जैन शास्त्रों के निरीक्षण करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि पूर्व समय के विद्वान गुणानुरागी अधिक होते थे, वे साम्प्रदायिक आग्रहों में निमग्न नहीं थे, जैसे कि वर्तमान समय में पाए जाते हैं। हरिभद्र और हेमचन्द्र जैसे विद्वत्समाजशिरोमणि आचार्यों ने स्वनिर्मित ग्रन्थों में भी अनेक जगह 'तथा चोक्त महात्मना व्यासेन' 'तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः' 'भगवता महाभाष्यकारेणावस्थापितम्' इत्यादि शब्दों द्वारा पतञ्जलि और वेदव्यास आदि वैदिकाचार्यों की प्रशंसा की है। वास्तव में विद्वान लोग सत्यप्राही होते हैं, उन्हें जहाँ सत्य देख पड़ता है उसे वे आदर और बहुमानपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं और जो जितने अंश में प्रशंस्य गुणवाला होता है, उतने अंश में उसकी सादर प्रशंसा किया करते हैं। पूर्वाचार्यों के प्रखर पाण्डित्य से आज समस्त भारत वर्ष आश्चर्यान्वित हो रहा है, यह पाण्डित्य उनमें गुणानुराग से ही प्राप्त हुआ था। जो लोग दोषदृष्टि को छोड़कर गुणानुरागी हो जाते हैं उनकी मानसिक शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि सांसारिक आपत्तियाँ भी उसे बिल्कुल नहीं सता सकतीं। जरा जेम्सएलन का वाक्य सुनिये -

“शरीर के रोग दूर करने के लिए, आनन्दप्रद और सुखमय विचार से अधिक लाभकारी औषधि कोई नहीं है। शोक और क्लेश को हटाने के लिए नेक विचारों से अधिक प्रभावशाली कोई नहीं है। शत्रुता और द्वेष-द्रोह के विचारों में निरन्तर रहने से मनुष्य अपने को स्वरचित कारागार में बन्दी कर देता है, परन्तु जो मनुष्य जगत को भला देखता है, तथा जगत में सभी से प्रसन्न है और धैर्य से सबों में भले गुणों को देखने का यत्न करता है, वह निःसन्देह अपने लिए स्वर्ग के पट खोलता है। जो प्रत्येक जन्तु से प्रेम और शान्तभाव के साथ व्यवहार करता है, उसको निःसन्देह प्रेम और शान्ति का कोश मिलेगा।”

“दूसरों के साथ तुम वैसा व्यवहार करो जैसा अपने लिए अच्छा समझो। अर्थात् अगर तुम किसी से मीठी बात सुनना चाहते हो तो तुम मीठी बात बोलो, और किसी की गाली नहीं सुनना चाहते हो तो किसी को गाली मत दो।”

अतएव प्रत्येक व्यक्ति में जो गुण हों उन्हीं का अनुकरण और बहुमान करना चाहिए। “गुण के अनुकरण की अपेक्षा दोष का अनुकरण सुगम है, किन्तु दोष के अनुकरण में हानियाँ कितनी हैं? इसे भी सोचना चाहिए। दशदोषों का अनुकरण न कर एक गुण का अनुकरण करना अच्छा है, जैसे दोष में अनेक बुराइयाँ भरी हैं वैसे ही गुण में अनेक लाभ हैं।

चाहे जैन हो या जैनेतर, यदि वह सुशील, सहनशील, सत्यवक्ता और परोपकार आदि गुणों से युक्त हो तो उसको बहुमान देने में किसी प्रकार की दोषापत्ति नहीं है। यद्यपि जो लोग व्यभिचारी, हिंसक और परापवादी हैं उनका बहुमान करना ठीक नहीं है, तथापि निन्दा तो उनकी भी करनी अच्छी नहीं है।

“जहाँ द्वेष, निन्दा और अनादर वर्तमान है, वहाँ स्वार्थ रहित प्रेम नहीं रहता, प्रेम तो उसी हृदय में वास करता है जो निन्दा रहित हो। जो मनुष्य ईश्वरीय प्रेम प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वह सर्वथा निन्दा करने के स्वभाव को जीत रहा है, क्योंकि जहाँ पवित्र आत्मीय ज्ञान है वहाँ निन्दा नहीं रह सकता। केवल वही मनुष्य सच्चे प्रेम का अनुभव कर सकता है और उसी हृदय में सच्चा और पूर्ण प्रेम रह सकता है, जो निन्दा करने के लिए सर्वथा असमर्थ है।

स्वगच्छ, या परगच्छ के गुणी साधुओं पर अनुराग -

तउ परगच्छि सगच्छे, जे संविग्गा बहुस्सुया मुणिणो।

तेसिं गुणाणुरायं, मा मुंचसु मच्छरप्पहओ ॥२६॥

शब्दार्थ - (तउ) इसलिए (परगच्छि सगच्छे) परगच्छ और स्वगच्छ में (जे) जो (संविग्गा) वैराग्यवान् (बहुस्सुया) बहुश्रुत (मुणिणो) मुनि हों (तेसिं) उनके (मच्छरप्पहओ) मात्सर्यहृत होकर तू (गुणाणुरायं) गुणों का अनुराग (मा) मत (मुंचसु) छोड़।

भावार्थ - स्वगच्छ, या परगच्छ में जो वैराग्यवान् और बहुश्रुत (विद्वान) साधु हों उनके गुणों पर मत्सरी बनकर अनुराग को मत हटाओ।

विवेचन - स्वगच्छ, या परगच्छ में जो जो वैराग्यवान् बहुश्रुत और क्रियापात्र साधु हैं, उनके साथ सहानुभूति रखने से ही सामाजिक उन्नति भले प्रकार हो सकती है। जो लोग गच्छ सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों पर वाद विवाद चलाकर राग द्वेष का पोषण करते हैं और एक दूसरे को अवाच्य शब्द कहकर, या लिखकर संतुष्ट होना चाहते हैं वे वास्तव में धार्मिक उन्नति की सधन नींव का सत्यानाश करते हैं। जब तक गुणीजनों के गुणों का बहुमान न किया जाएगा, अर्थात् - संकुचित विचारों को छोड़कर यथाशक्ति

संप्रदायान्तर के गुणीजनों का गुणानुवाद करने का उत्साह न रखा जाएगा, तब तक उस प्रेम को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना होगा, जो पूर्ण शांति और स्वतंत्रता समर्पण करता है।

“हम लोगों के परस्पर जितने व्यवहार हैं, आइने में मुंह देखने के बराबर हैं। जैसे - अपने को सामने रखकर हँसोगे तो प्रतिबिम्ब हँसेगा, और रोओगे तो प्रतिबिम्ब रोवेगा। वैसे ही तुम किसी का उपकार करोगे तो तुम्हारा भी कोई उपकार करेगा, और तुम किसी की हानि करोगे तो बदले में तुम्हें भी हानि भुगतनी पड़ेगी। अर्थात् प्रेम करने पर प्रेम, शत्रुता करने पर शत्रुता प्राप्त होगी। किसी को हृदय दोगे तो हृदय पाओगे और कपट के बदले कपट मिलेगा। तुम हँसकर बोलोगे तो तुम्हारे साथ संसार के लोग हँसकर बोलेंगे और तुम मुंह छिपाओगे तो संसार के लोग तुमसे मुँह छिपावेंगे। दूसरे को सुखी करोगे तो आप भी सुखी होओगे, और दूसरे को दुःख दोगे तो स्वयं दुःख पाओगे। दूसरे का तुम सम्मान करोगे तो तुम्हारा सम्मान भी लोग करेंगे और दूसरे का अपमान करोगे, तो तुम्हें अपमानित होना पड़ेगा। सारांश यह है कि जैसा करोगे वैसा ही फल पाओगे।” (चरित्रगठन पृष्ठ ४४)

आजकल के विद्वानों में प्रायः परस्पर सहानुभूति नहीं रक्खी जाती, यदि कोई विद्वान् साधु समाज का सुधार करने में प्रवृत्त है और शिक्षा के क्षेत्र में यथावकाश भाग ले रहा है तो कई एक साधु मात्सर्य से उसके कार्य में अनेक बाधा पहुँचाने के लिए तैयार हो जाते हैं। कई एक तो ऐसे हैं कि अन्य गच्छ या संघाटक, अथवा अपने विचार से भिन्न विचारवाले जो गुणी साधु या आचार्य हैं उनकी व्यर्थ निन्दा कर अपने अमूल्य चरित्ररत्न को कलङ्कित करते

हैं। चाहिए तो ऐसा कि सभी गच्छवाले परस्पर मिलकर शासन की उन्नति करने में भाग लें, और यथासंभव एक दूसरे को सहायता दें, क्योंकि यथार्थ में सबका मुख्य उद्देश्य एक ही है।

जब से गच्छों के भयानक झगड़े हुए और एक दूसरे के कार्य में सहायता देना बन्द हुई, तब से अति विशाल जैन समाज का हास होते होते आज इनागिना समाज दृष्टिपथ में आ रहा है। पारस्परिक कुसंप, गच्छों की वाडाबन्धी और जातीय संकुचितवृत्ति से जैनियों की संख्या बीस वर्ष में कितनी घट गई है? इसको जानने के लिए जुरा नीचे दी गई तालिका ध्यानपूर्वक वांचो और मनन करो -

धर्म	सन् १९०१	सन् १९११	सन् १९२१
सनातनी	२०७०,५०,५५७	२१७,३३७,९४३	२१६,२७०,६२०
आर्यसमाजी	९२,४१९	२४३,४४५	४६७,५७८
ब्रह्मसमाजी	४,०५०	५,५०४	६,७८८
सिक्ख	२,१९५,३३९	३०,१४,४६६	९,२३८,८००
जैन	१३७४,१४८	१२४८,१८२	११७८,५९६
बौद्ध	९,४७६,७५९	१०,७२९,४५३	११,५७१,२६८
पारसी	९४,१९०	१०००९६	१०१,७७८
मुसलमान	६१४५,८०७७	६६,६४७,२९९	६८,७३५,२३३
ख्रिस्ती	२९२३,२४९	३,८७६,२०७	४,७०४,०६४
उष्कलिया	८,५८४,१४८	१०,२९५,१६८	९,७७४,६१९
नाना सम्प्रदायवाले	१२९,८००	१३७,१०१	१८००४

सन् १९०१ में मर्दुमशुमारी के बाद के बीस वर्षों में आर्यसमाजी पौने चार लाख, बौद्ध अन्दाजन एक बीस लाख, मुसलमान पौने त्रेसठ लाख और क्रिश्चियन अठारह लाख बढ़े। इसी तरह इतर धर्मावलम्बियों की भी ऊपर की तालिका में वृद्धि हुई

मालूमपड़ती है। परन्तु एक जैन कौम ही कमनसीब है जो गत बीस वर्षों में दोढ़ लाख से कुछ अधिक घट गई। इस कमी का कारण संकुचितवृत्ति के सिवाय दूसरा कोई नहीं है। अगर अब भी इस कमी पर ध्यान न दिया जाएगा तो भविष्य में इससे भी अधिक कमी होने में कोई आश्चर्य नहीं है। आज कई एक वणिक जातियाँ ऐसी मौजूद हैं जो पूर्व समय में जैन धर्म पालन करती थीं, लेकिन इस समय वे वैष्णव धर्म पालन कर रही हैं।

इतिहास, धर्मग्रन्थ और जीवनचरित्रों पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि बड़े-बड़े महात्मा और महापुरुषों ने जो-जो सामाजिक, धार्मिक और व्यावहारिक महत्कार्य किये हैं, वे परस्पर सहानुभूति रखकर ही किए हैं, ईर्ष्या द्वेष बढ़ाकर तो किसी ने नहीं किया। अतएव दोषदृष्टि को छोड़कर सब को गुणप्रेमी बनना चाहिए।

यदि भिन्न-भिन्न गच्छों की सत्यता, या असत्यता पर कभी विचार अथवा लेख लिखने की आवश्यकता हो तो उसमें शान्ति या मधुरता के विरुद्ध कार्य करना अनुचित है। जिसके वचन में शान्ति और मधुरता की प्रधानता है, उसका वचन दुनिया में सर्वसाधारण मान्य होता है। इसी पर विद्वान 'जेम्सएलन' ने लिखा है कि -

“शान्त मनुष्य आत्मसंयम का अभ्यास करके अन्य पुरुषों में अपने को मिला सकता है, और अन्य पुरुष भी उसकी आत्मिक शक्ति के आगे सिर झुकाते हैं, उसको श्रद्धा से देखते हैं और उन को अपने आप ही भासमान होने लगता है कि वे उससे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और उस पर विश्वास कर सकते हैं। मनुष्य जितना ही अधिक शान्त होगा उतना ही अधिक वह सफल मनोरथ होगा और

उतना ही अधिक उसका प्रभाव भी बढ़ेगा तथा उतनी ही अधिक उसको भलाई करने की शक्ति होगी।” चरित्र संगठन में भी कहा है कि -

“जो लोग मधुर वचन बोलते हैं और जो उसे सुनते हैं, दोनों ही के हृदय में शान्ति सुख प्राप्त होता है, मन में पवित्र भाव का उदय होता है, और आत्मा तृप्त होती है।

मधुरभाषी लोग सबके प्यारे होते हैं और जहाँ मीठी बातें बोली जाती हैं, वहाँ की हवा मधु मय हो जाती है। इसलिए एक मधुरभाषी व्यक्ति सैकड़ों के सुख का कारण होता है तथा मधुर वचन के सुनने वालों को दुःख, शोक, शोच और विषाद की सभी बातें भूल जाती है।”

अतएव स्वधर्म के सत्य मन्तव्य प्रकाशित करने, या दूसरों को समझाने में शान्ति और मधुर शब्दों को अग्रगण्य बनाना चाहिए और किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। समाजी, या गच्छों के प्रतिष्ठित पुरुषों के गुणों की प्रशंसा ही निरन्तर करना चाहिए, किन्तु उनके साधारण दोषों पर दृष्टिपात करना अच्छा नहीं है। जो मन में गर्व नहीं रखते, और किसी की निन्दा नहीं करते, तथा कठोर वचन नहीं कहते, प्रत्युत दूसरों की कही हुई अप्रिय बात को सह लेते हैं, और क्रोध का प्रसंग आने पर भी जो क्रोध नहीं करते तथा दूसरों को दोषी देखकर भी उनके दोष को न उधाड़कर यथासाध्य उन्हें दोष रहित करने की चेष्टा करते हुए स्वयं द्वेषजनक मार्ग से दूर रहते हैं, वे पुरुष अवश्य अपना और दूसरों का सुधार कर सकते हैं और उन्हीं से धार्मिक और सामाजिक उन्नति भले प्रकार हो सकती

है। इसलिए स्वगच्छ या परगच्छस्थित गुणी मुनिजनों को प्रेम दृष्टि से देखना सीखो, जिससे कि आत्मा पवित्र बने।

गुणों के बहुमान से गुणों की सुलभता -

गुणरयणमंडियाणं, बहुमाणं जो करेइ सुद्धमणो।

सुलहा अन्नभवम्मि य, तस्स गुणा हुंति नियमेणं ॥ २७ ॥

गुणरत्नभण्डितानां बहुमानं यः करोति शब्दमनाः।

सुलभा अन्यभवे च, तस्य गुणाः भवन्ति नियमेन ॥ २७ ॥

शब्दार्थ - (य) और (जो) जो पुरुष (सुद्धमणो) (पवित्र मन होकर (गुणरयणमंडियाणं) गुणरूप रत्नों से सुशोभित पुरुषों का (बहुमाणं) बहुमान - आदर (करेइ) करता है (तस्स) उसके (गुणा) गुण (अन्नभवम्मि) दूसरे भव में (नियमेणं) निश्चय से (सुलहा) सुलभ (हुंति) होते हैं।

भावार्थ - जो पुरुष गुणवान् पुरुषों का शुद्ध मन से बहुमान करता है उसे सदगुण दूसरे भव में नियम से सुलभ होते हैं, अर्थात् - सुगमता से मिलते हैं।

विवेचन - जितनी शोभा सदगुणों से होती है उतनी बाह्य आभूषण, वस्त्र आदि से नहीं हो सकती। यद्यपि संसारगत मनुष्य शरीर शोभा के लिए उत्तम उत्तम प्रकार के रत्न और मुक्ताओं से जुड़े हुए हार आदि अलंकार धारण करते हैं और सुन्दर-सुन्दर कोट पाटलून आदि पहनते हैं किन्तु उनसे उनकी वास्तविक शोभा उतनी नहीं होती, जितनी कि सदगुणी पुरुषों की होती है। संसार में रत्न सब से अधिक बहुमूल्य होता है, लेकिन गुणरूप रत्न तो उससे भी अधिक महर्ध्य है। यहाँ तक कि रत्नों का मूल्य तो अंकित हो सकता है परन्तु गुणरूप रत्नों का मूल्य अंकित नहीं हो सकता। गुणहीन

मनुष्य शोभा के क्षेत्र से बहिष्कृत है, उसे शोभा और मान किसी स्थान पर नहीं प्राप्त होता। जरा नीचे के दृष्टान्त पर दृष्टिपात करिये-

किसी समय धारानगरी पति भोजनूपति ने अपनी सभा के श्रृङ्गारभूत और सर्वशास्त्र-विचारविचक्षण पाँच सौ पंडितों से यह प्रश्न पूछा कि - 'संसार में जो गुणहीन पुरुष हैं, उन्हें किस के समान समझना चाहिए?' तब उनमें से धनपाल पंडित ने यह कहा कि -

“येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।

ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥१॥”

भावार्थ - जिनके विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म नहीं है वे पुरुष मर्त्यलोक में इस पृथ्वी पर भारभूत हैं और मनुष्यरूप से मृग के सदृश विचरते हैं। अर्थात् जो लोग संसार में अवतार लेकर विद्या नहीं पढ़ते अथवा तपस्या नहीं करते, किंवा हीन दीन और दुःखियों को सहायता नहीं देते, एवं आचार-विचार और वीर्यरक्षा नहीं करते और सहनशीलता आदि सदगुण नहीं धारण करते और आत्मधर्म में नहीं रमण करते, उनको यथार्थ में मनुष्य आकार में मृग ही समझना चाहिए। जिस प्रकार मृग घास खाकर अपने जीवन को पूरा करता है, वैसे ही गुणहीन मनुष्य भी खा पीकर अपने अमूल्य और दुष्प्राप्य जीवन को खो देता है।

पंडितों की बात सुनकर किसी दूसरे पंडित ने मृग का पक्ष लेकर कहा कि - सभा में नीति विरुद्ध बोलना बिल्कुल अनुचित है। निर्गुणी मनुष्य को मृग सदृश समझना भारी भूल है, क्योंकि मृगों में तो अनेक प्रशस्य गुण होते हैं। देखिये - गायन सुनाने वालों को शिर, लोगों को मांस, ब्रह्मचारियों को चर्म, योगियों को सींग, मृग लोग देते हैं और स्त्रियों को उनके ही नेत्रों की उपमा दी जाती है, इसी से स्त्रियाँ 'मृगाक्षी' कहलाती है। तथा मृगों की कस्तूरी

उत्तम कार्यों में काम आती है, और बलपुष्टि के लिए सहायक होती है। अतएव कितने ही उपदेशक कहते हैं कि -

“दूर्वाङ्कुरतृणाऽऽहाराः, धन्यास्तै वै वने मृगाः।

विभवोन्मत्तमूर्खाणां, न पश्यन्ति मुखानि ये ॥१॥”

भावार्थ - वे नवीन दूर्वा के अङ्कुर और घास खाने वाले वन में मृग धन्य हैं जो धन से उन्मत्तमूर्खों के मुख नहीं देखते। अर्थात् - जो धर्म कार्य में धन नहीं खर्च करते और अभिमान में उन्मत्त रहते हैं उनसे अरण्यस्थित घास खाने वाले मृग ही ठीक हैं जो कि वैसे पापीजनों का मुँह नहीं देखते।

अतएव निर्गुणी मनुष्यों को मृग के समान नहीं समझना चाहिए। तब धनपाल ने विचार करके कहा कि - जब ऐसा है तो निर्गुणी मनुष्यों को - ‘मनुष्यरूपाः पशवश्चरन्ति’ मनुष्य रूप से पशु सदृश कहना चाहिए। तदनन्तर प्रतिवादी पंडित ने पशुओं में से गौ का पक्ष लेकर कहा कि - यह बात भी बिल्कुल अनुचित है, सभ्यसभा में ऐसा कहना नीति विरुद्ध है। क्योंकि -

“तृणमत्ति राति दुग्धं, छगणं च गृहस्य मण्डनं भवति।

रोगापहारि मूत्रं, पुच्छं सुरकोटिसंस्थानम् ॥३॥”

भावार्थ - गौ तृण (घास) खाती है, और अमृत के समान मधुर दूध और छगन (छाणा) देती है, तथा गौ से घर की शोभा होती है, गौ का मूत्र रोगियों के रोग का नाश करता है, और गौ की पुच्छ, कोटियों देवाताओं का स्थान समझा जाता है।

गौ का दर्शन भी मंगलकारक है, संसार में प्रायः जितने शुभ कार्य हैं उनमें गौ का दूध, दही और घी सर्वोत्तम है। अतएव निर्गुणी पुरुष गौ के समान क्यों कहा जाय? तदनन्तर वृषभ का भी पक्ष लेकर कहा -

“गुरुशकटधुरन्धरस्तृणाशी, समविषमेषु च लाङ्गलापकर्षी।

जगदुपकरणं पवित्रयोनि - नरपशुना किमु मीयते गवेन्द्र?

भावार्थ - वृषभ बड़े-बड़े गाड़ों की धुरा धारण करता है, घास खाता है, सम और विषम भूमि पर हल को खींचता रहता है, खेती करने में तन तोड़ सहायता देता है, अतएव पवित्रयोनि गवेन्द्र (वृषभ) के साथ नरपशु की समानता किस प्रकार हो सकती है?

इन सभी पशुओं के गुण सुनकर धनपाल पंडित ने कहा कि -गुणहीन पुरुषों का जो प्रत्येक वस्तु का साराऽसार समझने और विचार करने में शून्य हैं। उनको 'मनुष्यरूपेण शुनः स्वरूपाः' मनुष्य रूप से कुत्ते के समान गिनना चाहिए। उस पर फिर प्रतिवादी ने कुत्ते का पक्ष लेकर कहा कि -

“स्वामिभक्तः सूचैतन्यः, स्वल्पनिद्रः सदोद्यमी।

अल्पसन्तोषो वाशूरः, तस्मात्तुल्यता कथम्? ॥५॥”

भावार्थ - जो खाने को देता है उसका कुत्ता भक्त होता है। खटका होते ही जागता है, थोड़ी नींद लेता है, नित्य उद्यमशील है, थोड़ा भोजन मिलने पर भी सन्तोष रखता है, और वचन का शूरवीर है, तो निर्गुणी की तुल्यता कुत्ते से किस तरह की जा सकती है?

कुत्ते जिनके हाथ दिन रहित, कान धर्मवचन सुनने से शून्य, मुख्य असत्योद्गार से अपवित्र, नेत्र साधुदर्शन से रहित, पैर तीर्थमार्गगत रज से रहित और अन्यायोपात्त द्रव्य से उदर अशुचि है, उनका मांस नहीं खाते तथा शुभाऽशुभसूचक चिन्ह करते रहते हैं, इत्यादि अनेक गुण कुत्तों में विद्यमान हैं।

तब पंडित ने कहा कि - तो निर्गुण पुरुषों को 'मनुष्यरूपेण खराश्चरन्ति' मनुष्य रूप से गर्दभ जानना चाहिए। इस पर फिर प्रतिवादी ने गर्दभ का भी पक्ष लेकर कहा कि -

शीतोष्ण नैव जानाति, भारं सर्वं दधाति च।

तृणभक्षणसन्तुष्टः, प्रत्यहं भद्रकाऽऽकृतिः ॥६॥

भावार्थ - गर्दभ शीत और ऊष्णता की परवाह न कर सब भार को वहन करता है और तृणभक्षण से ही निरन्तर प्रसन्नवदन बना रहता है।

प्रयाण समय में गर्दभ का शब्द मांगलिक समझा जाता है। जो कोई उसके शब्द शकुनों का विचार कर कार्य करता है, वह सफलता प्राप्त करता है। इसलिए गुणहीनों को उसके समान मानना अनुचित है।

तब पंडित ने कहा कि गुणहीन पुरुषों को 'मनुष्यरूपेण भवन्ति चोष्टाः' मनुष्य रूप से ऊँट समझना चाहिए। किन्तु प्रतिवादी ऊँट का भी पक्ष ग्रहणकर कहने लगा कि -

वपुर्विषमसंस्थानं, कर्णज्वरकरो रवः ।

करभस्याशुगत्यैव, छादिता दोषसंहतिः ॥७॥

भावार्थ - यद्यपि प्रत्येक अवयव टेढ़े होने से ऊँट का शरीर विषम संस्थान (आकार) वाला है और कानों को ज्वर चढ़ाने वाला उसका शब्द है, लेकिन एक शीघ्रचाल से उनके सभी दोष आच्छादित हैं।

क्योंकि संसार में शीघ्रचाल भी उत्तम गुण है, जो चाल में मन्द (आलसू) है उसका कार्य भी शिथिल समझा जाता है। यद्यपि सब जगह सब चालों से कार्य किया जाता है तथापि हर एक कार्य में प्रायः शीघ्र चाल की अधिक आवश्यकता रहती है और ऊँट

खाने के लिए भी स्वामी को अधिक तकलीफ नहीं देता, सामान्य भोजन से ही सन्तुष्ट रहता है। गुणहीन मनुष्यों से तो ऊँट लाख दर्जे अधिक है।

तब पंडित धनपाल ने कहा कि गुणहीनों को 'मनुष्यरूपेण भवन्ति काकाः' मनुष्य आकार से कौओं के समान जानना चाहिए। प्रतिवादी ने फिर काक का भी पक्ष लेकर कहा कि -

प्रियं दूरगतं गेहे, प्राप्तं जानाति तत्क्षणात् ।

न विश्वसिति कञ्चापि, काले चापल्यकारकः ॥८॥

भावार्थ - दूर विदेश में गया हुआ प्रिय पुरुष जब घर की तरफ आने वाला होता है तो उसे काक शीघ्र जान लेता है, किसी का विश्वास नहीं रखता, और समय पर चपलता धारण करता है 'उसकी समता मूर्ख कैसे कर सकता है?

किसी युवती ने एक वायस को स्वर्णमय पींजर में रख के, गृहांगणस्थित वृक्ष पर टाँग रखा था। उसकी सखी ने पूछा कि संसार में मेना, शुक आदि पक्षियों को लीला के लिए लोग रखते हैं किन्तु वायस तो कोई नहीं रखता, नीचे पक्षियों से कहीं गृहशोभा हो सकती है? युवती ने कहा कि -

अन्नस्थः सखि! लक्षयोजनगतस्यापि प्रियस्याऽऽगमे,

वेत्तायाख्याति च धिक् शुकादय इमें सर्वे पठन्तः शठाः ।

मन्कान्तस्य वियोगरूपदहनज्वालावलेश्चन्दनं,

काकस्तेन गुणेन काञ्चनमये व्यापारितः पञ्जरे ॥९॥

भावार्थ - सखि! उन शुकादि सब पक्षियों को धिक्कार है जो केवल मधुर बोलने में ही चतुर हैं। मेरे स्वामी के 'वियोग' रूप अग्निज्वाला को शान्त

करने में चन्दनवत् यह वासय (कौआ) ठीक है जो यहाँ से लक्षयोजन गए हुए पति के गृहागमन को जानता और कहता है। इसी गुण से यह कांचनमय पिंजर में रखा गया है।

तदनन्तर धनपाल पंडित ने कहा तो गुणहीन को 'मनुष्यरूपेण हि ताम्रचूडाः' ऐसा कहना ही ठीक होगा। उस पर वादी ताम्रचूड़ (मुर्गे) का पक्ष लेकर बोला कि - आपका कहना ठीक नहीं, क्योंकि ताम्रचूड़ उपदेशक का काम देता है, वह पिछली रात्रि में दो-दो चार-चार घड़ी के अन्तर अपनी गर्दन को ऊँची करके कहता है कि-

“भो लोकाः ! सुकृतोद्यता भवत वो लब्धं भवं मानुषं।

मोहान्धाः प्रसरत्प्रमादवशतोमाऽहार्यमाहार्यताम् ॥”

अहो लोगो! तुम्हें मनुष्य अवतार मिला है, सुकृत कार्य करने में उद्यत हो, मोहान्ध बन कर प्रमादवश से सुरक्ष्य मनुष्य भव को व्यर्थ न गमाओ।

कुक्कुट के वचन को सुनकर कई एक पारमेश्वरीय - ध्यान में, कितने एक विद्याभ्यास में, और प्रभु भजन में लीन हो मनुष्य जीवन को सार्थक करते हैं। अतएव उसे गुणहीनों के समान न समझना चाहिए।

पंडित ने कहा तो गुणहीन 'मनुष्यरूपाः खलु मक्षिकाः स्युः' मनुष्यरूपवाला मक्षिका समान है। उस पर भी वादी ने मक्खी का पक्ष लेकर कहा कि -

सर्वेषां हस्तक्त्यैव, जनानां बोधयत्सयौ।

ये धर्म नो करिष्यन्ति, घर्षयिष्यन्ति ते करौ ॥१॥

भावार्थ - सब लोगों को हाथ घिसने की युक्ति से मक्षिकाएँ निरन्तर उपदेश करती हैं कि जो धर्म नहीं करेगे वे इस संसार में हाथ घिसते रहेंगे।

निर्गुणी मनुष्य तो उपकार शून्य है, मक्षिकाएँ तो सबका उपकार करती हैं। उनका मधु अमृत के समान मीठा, रोगनाशक और बलवर्द्धक है, इसलिए गुणहीन मक्षिका के समान भी नहीं हो सकता।

तब धनपाल पंडित ने कहा कि गुणहीन 'मनुष्यरूपेण भवन्ति वृक्षाः' मनुष्यरूप से वृक्ष सदृश होते हैं। प्रतिवादी ने वृक्षों का भी पक्ष लेकर कहा कि -

छायां कुर्वन्ति ते लोके, ददते फलपुष्पकम्।

पक्षिणां च सदाधाराः गुहाऽऽदीनां च हेतवः ॥१०॥

भावार्थ - वृक्ष लोक में छाया करते हैं, फल पुष्प आदि देते हैं, और पक्षियों के घर उनके आधार से रहते हैं और मकान आदि बांधने में वृक्ष हेतुभूत हैं।

उष्णकालसंबंधि भयंकर ताप, चौमासा में भूमि की वाफ और जलधारा से हुई वेदना, जंगल में सर्वत्र फैली हुई दावानल की पीड़ा और छेदन भेदन आदि दुःखों को वे सहकर भी दूसरों के लिए सुस्वादु और मिष्ट फल देते हैं। भिन्न-भिन्न रोगों की शान्ति के लिए जितने अवयव वृक्षों के काम आते हैं उतने किसी के नहीं आते। संजीविनी और कुष्ठविनाशिनी आदि गुटिका वृक्षों की जाति से ही बनाई जाती है। उत्तम-उत्तम वाद्यों का आनन्द वृक्षों के द्वारा ही होता है, तो गुणहीन को वृक्ष के समान मानना नीति विरुद्ध है।

तदनन्तर धनपाल ने कहा तो गुणहीनों को 'मनुष्यरूपेण तृणोपमानाः' मनुष्यरूप से तृण के सदृश कहना चाहिए। तदन्तर वादी ने तृण का पक्ष अवलम्बन कर के कहा कि -

गवि दुग्धं रणे ग्रीष्मे, वर्षहिमन्तयोरपि।

नृणा त्राणं तृणादेव, तत्समत्वं कथं भवेत्? ॥११॥

भावार्थ - गोजाति में दूध होता है। संग्राम, वर्षा और हेमन्त ऋतु में तृण से ही मनुष्यों का रक्षण होता है। ये गुण गुणहीन पुरुष में नहीं हैं इससे वह तृण के समान कैसे हो सकता है?

संसार में सभी प्राणियों का पालन तृण करता है। यदि एक ही वर्ष तृण पैदा नहीं होता तो असंख्य प्राणियों के प्राण चले जाते हैं। मंदिर आदि जितनी इमारतें हैं वे तृण की सहायता से ही बनती है। यदि तृण न हो तो अमृत के समान मधुर दूध दही भी मिलना कठिन है।

विद्वान धनपाल ने कहा तो 'मनुष्यरूपेण हि धूलितुल्याः' मनुष्यरूप से धूलि कसमानन मानना ठीक होगा। वादी ने धूलि का पक्ष लेकर कहा कि -

कारयन्ति शिशुक्रीडां, पङ्कनाशं च कुर्वते।

रजरस्तत्कालिके लेखे, क्षिप्तं क्षिप्रं फलप्रदम् ॥१२॥

भावार्थ - बालकों को लीला कराना, कीचड़ को नाश करना, तत्कालिक लेख में स्याही सुखाने के लिए डाला हुआ रज (धूलि) शीघ्र फलदायक होता है। ये चार गुण धूलि में महत्त्वशाली है, अतएव गुणहीन धूलि तुल्य भी नहीं हो सकता।

अन्त में अगत्या पंडित धनपाल ने यह निर्धारित किया कि संसारमंडल में प्रत्येक वस्तु गुणों से शोभित है किन्तु गुणहीन मनुष्य किसी प्रकार शोभा के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिए हर एक मनुष्य को गुणरूप रत्न संग्रह करने में उद्यत रहना चाहिए, और जो गुणी हैं उनका यथाशक्ति बहुमान करना चाहिए।

“आत्मिक उन्नति केवल पवित्र तथा महत्वाकांक्षाओं से होती है। वह मनुष्य जो निरन्तर उच्च और उन्नत विचारों में भ्रमण करता है, जिनके हृदय, आत्मा और मन में सर्वदा शुद्ध और निःस्वार्थ विचार भरे रहते हैं, निःसंदेह वह मध्याहस्थ सूर्य के भाँति जाज्वल्यमान और पूर्णिमा के सुधाकर की भाँति माधुर्यपूर्ण होता है। वह ज्ञानवान् और सदाचारी होकर उस स्थान को प्राप्त करता है जहाँ से वह संसार में बड़ा प्रभावशाली प्रकाश डालता और अमृत की वर्षा करता है।”

“बिना स्वार्थ - त्याग के किसी प्रकार उन्नति और किसी तरह की सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य को सांसारिक विषयों में भी उसी अनुसार सफलता होगी जिस अनुसार वह अपने विकारयुक्त, डाँवाडोल तथा गड़बड़ पाशविक विचारों का संहार करेगा और अपने मन को अपने प्रयत्नों और उपायों पर स्थिर करेगा और अपने प्रण को दृढ़ता प्रदान करता हुआ स्वावलम्बी होगा। वह अपने विचारों को जितना ही उन्नत करता है। उतनी ही अधिक मनुष्यता, दृढ़ता और धर्म-परायणता प्राप्त करता है और उसकी सफलता भी उतनी ही श्लाघनीय होती है। ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य की उन्नति चिरकाल तक स्थिर रहती है और वह धन्य होता है।”

पाठक महोदय! ऊपर जो विद्वद्गोष्ठी लिखी गई है उसका सार यही है कि - मनुष्य मात्र की शोभा सद्गुणों से होती है, अतएव सद्गुणी बनने का उद्योग करते रहना चाहिए। यदि गुण संग्रह करने की असमर्थता हो तो शुद्ध मन से गुणवानों का भक्ति बहुमान करना चाहिए। ऐसा करने से भी भवान्तर में सद्गुण सुगमता से मिल सकेंगे। यह बात शास्त्र सिद्ध है कि - जो भला बुरा करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। अगर भलाई करेगा तो भलाई, और बुराई

करेगा तो बुराई मिलेगी। कथानुयोग के ग्रन्थों को देखने से स्पष्ट जान पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्ति का जैसा आचरण होता है वैसा ही फलभवान्तर में अथवा भवान्तर में किया हुआ-इस भव में मिलता है। अर्थात् जो सदाचारी, गुणानुरागी और सुशील होगा तो भवान्तर में भी वैसा होगा, और दुराचारी, परापवादी होगा तो उसके अनुसार वह भवान्तर में भी दुराचारी प्रिय होगा। क्योंकि - सदाचारी और सदाचार प्रशंसक दोनों शुभगति तथा दुराचारी और दुराचार प्रशंसक दोनों अशुभगति के भाजन हैं।

हर एक पुरुष या स्त्री को इतना अवश्य जान लेना चाहिए कि - गुणरत्नविभूषित पुरुषों का जितना बहुमान किया जाय, वह शुद्ध मन से करना चाहिए। क्योंकि - मनः शुद्धि के बिना आत्मबल का साधन भले प्रकार नहीं हो सकता, चाहे जितना तप, जप सामयिक, प्रतिक्रमण, पूजा, यात्रा, देवदर्शन, केशलुंचन, मौनव्रत आदि धार्मिक कार्य किया जाय, किन्तु उनका वास्तविक फल मनः शुद्धि हुए बिना नहीं मिल सकता। जिस प्रकार शारीरिक बल बढ़ाने के लिए बलवर्द्धक पदार्थ उदरस्थित मल को साफ किए बिना कार्यकारी नहीं होते, उसी प्रकार मन की मलिनता दूर किए बिना आत्मबल की सफलता नहीं होती। कहावत है कि - 'मन चङ्गा तो कथरोट में गङ्गा।'

वास्तव में महात्मा और आदर्श पुरुष बनना कोई दैवी घटना नहीं है और न किसी दूसरे की कृपा का फल है, किन्तु वह अपने ही विचारों के ठीक ठीक पथ पर ले चलने के लिए किए गए निरन्तर प्रयत्न का स्वाभाविक फल है। महान और आदरणीय विचारों को हृदय में स्थान देने से ही कोई-कोई महात्मा हुए हैं, इसी तरह दुष्ट

और राक्षस भी अपने ही दुष्ट, निकृष्ट और राक्षसी विचारों के फल हैं।

ऐसा समझकर भवानन्तर में सद्गुणों की सुलभता होने के लिए मलिन विचारों को हटाकर शुद्ध मन से गुणी पुरुषों का बहुमान करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए और उत्तमता की सीढ़ी पर जितना चाहिए, उतना चलते न बने तो धीरे-धीरे आगे बढ़ने का उत्साह रखना चाहिए। क्योंकि जो गुणी होने का प्रयत्न करता रहता है वह किसी दिन गुणी बनेगा ही।

उपसंहार और गुणानुराग का फल -

एयं गुणाणुरायं, सम्मं जो धरइ धरणिमज्झंमि।

सिरिसोमसुंदरपयं, पावइ सव्वनमणिज्जं ॥ २८ ॥

एतं गुणाणुरागं, सम्यग् थो धारयति धरणिमध्ये।

श्री सोमसुन्दरपदं, प्राप्नोति सर्वनमनीयम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ - (धरणिमज्झंमि) पृथ्वी पर रहकर (जो) पुरुष (सम्मं) अच्छी तरह (एयं) इस प्रकार के (गुणाणुरायं) गुणानुराग को (धरइ) धारण करता है वह (सव्वनमणिज्जं) सबके वंदन करने योग्य (सिरिसोमसुंदरपयं) श्री सोमसुन्दर - तीर्थङ्कर पद को (पावइ) पाता है।

भावार्थ - जो पुरुष गुणानुराग को उत्तम प्रकार से अपने हृदय में धारण करता है, वह सर्वनमनीय सुशोभ्य श्री तीर्थङ्कर पद को पाता है।

विवेचन - भले विचार और कार्य सर्वदा भलाई ही उत्पन्न करते हैं, तथा बुरे विचार और कार्य सर्वदा बुराई ही उत्पन्न करते हैं। इसका अर्थ यह है कि गेहूँ का बीज गेहूँ उत्पन्न करता है और जौ का जौ। मनुष्य को यह नियम अच्छी तरह समझना चाहिए और

तदनुसार ही कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। परन्तु संसार में विरले ही इस नियम को समझते होंगे, इसलिए उनका जीवन सर्वदा असफल ही होता है। (मनुष्यविचार पृष्ठ १६)

जो भले विचारों को हृदयङ्गम कर गुणानुराग रखते हैं, और उत्तमपथगामी बन गुणोपार्जन करने में लगे रहते हैं, उन्हें उपकार परायण उत्तम पद मिलने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। संसार में आदर्श पुरुष बन जाना यह गुणानुराग का ही प्रभाव है। हर एक व्यक्ति गुण से महत्वशाली बन सकता है, जिसमें गुण और गुणानुराग नहीं है वह उत्तम बनने के लिए अयोग्य है। निन्दा करने से गुण और पुण्य दोनों का नाश होता है और गुणानुराग से वृद्धि होती है। परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, लोलुपता, विषय और कषाय इन पाँच बातों से साधुधर्म भी नष्ट होता है तो दूसरे गुण नष्ट हों इसमें आश्चर्य ही क्या है। जिस प्रकार एक ही सूर्य सारे संसार में प्रकाश करता है और चन्द्रमा अपनी अमृत-किरणों से सबको शीतलता देता है उसी प्रकार गुणानुरागी पुरुष अकेला ही अपने हार्दिक प्रेम से समस्त पृथ्वी मंडल को अपने वश में कर सकता है। और दूसरों को भी उत्तम पद पर पहुंचा सकता है। अतएव हर एक मनुष्य को चाहिए कि अपने स्वभाव को गुणानुरागी बनावें और नीचे लिखी हुई शिक्षाओं को अपने हृदय में धारण करने का प्रयत्न करें।

शिक्षासुधा -

१. सज्जनों के साथ बैठना चाहिए, सज्जनों की संगति में रहना चाहिए और सज्जनों के ही साथ विवाद करना चाहिए। दुर्जनों से किसी प्रकार का संपर्क (सहवास) नहीं करना चाहिए।

२. यदि सज्जनों के मार्ग पर जितना चलना चाहिए उतना नहीं चलते बने तो थोड़ा ही थोड़ा चलकर आगे बढ़ने का कोशीश करो, रास्ते पर जब पाँव रखोगे तब सुख ही मिलेगा।

३. मनुष्य को प्रतिदिन अपने चरित्र की आलोचना (विचार) करते रहना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि मेरा आचरण (व्यवहार) पशु के तुल्य है कि या सत्पुरुष के सदृश।

४. जैसे घिसने, काटने, तपाने और पीटने; इन चार बातों से सोने की परीक्षा होती है वैसे ही विद्या, स्वभाव, गुण और क्रिया; इन चार बातों से पुरुषों की जाँच होती है।

५. सच्चरित्र पुरुष का संक्षिप्त लक्षण इतना ही है कि - उसमें सत्यप्रियता, शिष्टाचार, विनय, परोपकारिता और चित्त की विशुद्धता, ये गुण पाये जाएँ, शेष जितने गुण हैं वे इन्हीं के अन्तर्गत (अन्दर रहे हुए) हैं।

६. लोग अच्छे व्यवहार से मनुष्य और बुरे व्यवहार से पशुओं के तुल्य गिने जाते हैं। तुम यदि उदार, परोपकारी, विनयी, शिष्ट, आचारवान् और कर्तव्य परायण होंगे तो संसार के सभी लोग तुम्हें मनुष्य कहेंगे और तुम भी तब समझोगे कि मनुष्यता किसको कहते हैं?

७. सुशीलता, उच्चाभिलाष, अपने विभव के अनुसार भोजन, वस्त्र और आभूषण का व्यवहार, दुर्जनों की संगति, अपनी प्रशंसा और पराये की निन्दा से विरत रहना, सज्जनों के वचन का आदर करना, सदा सत्य बोलना, किसी जीव को दुःख न पहुँचाना, सब प्राणियों पर दया करना; ये सब सुजनता के लक्षण हैं।

८. संसार में जितने बड़े-बड़े साधु, महात्मा, धार्मिक, योगी और कर्मकांडी आदि हुए हैं, जो अपने अपने निर्मल चरित्र के प्रकाश से मानव समाज को उज्ज्वल कर गए हैं, वे सभी निःस्वार्थ और ऐश्वरीय प्रेम सम्पन्न थे।

९. जिन लोगों ने बचपन में सौजन्य शिक्षा का लाभ नहीं लिया, जो लोग सौजन्य प्रकाश करने का संकल्प करके भी अपने कठोर स्वभाव के दोष से अशिष्ट व्यवहार कर बैठे हैं, वे लोग साधारण कामों में शिष्टाचारी होने का अभ्यास करते-करते अन्त में शिष्ट और सुशील हो सकते हैं।

१०. जो स्वभाव के चञ्चल हैं, वे गंभीर भाव का अभ्यास करते गंभीर बन सकते हैं। उसी प्रकार जो गंभीर प्रकृति के मनुष्य हैं, वे वाचाल बन्धु समाज में रहकर उन लोगों के मनःसन्तोषार्थ वाचालता का अनुकरण करते-करते स्वाभावतः वाचाल हो सकते हैं।

११. चिरकाल तक अशिष्ट व्यवहार से हृदय की कोमलता के नष्ट हो जाने पर भी कोई इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि अशिष्ट लोगों के संसर्ग की अपेक्षा शिष्टाचारी, विनयी सज्जन की संगति में विशेष सुख नहीं है।

१२. अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए अनेक उपाय हैं, उनमें शिष्ट व्यवहार भी यदि एक उपाय मान लिया जाय और इससे दूसरी कोई उपकारिता न समझी जाय तो भी सुजनता की शिक्षा नितान्त आवश्यक है। सामान्य सुजनता से भी कभी-कभी लोगों का विशेष उपकार हो जाता है।

१३. कठोर बातें बोलना, दूसरों के अनिष्ट साधन में प्रवृत्त होना, निर्दयता का काम करना और अहंङ्कार दिखलाना अशिष्टता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अयुक्त रीति से जो शिष्टता दिखलाई जाती है उसे भी लोग निंदनीय समझते हैं।

१४. दृढ़प्रतिज्ञा, अध्यवसाय, आत्मवश्यता और उद्योगपरता से मनुष्य क्या नहीं कर सकता। जब तुम बराबर परिश्रम करते रहोगे, तब जो काम तुम्हें आज असाध्य जान पड़ता है वह कल सुसाध्य (सहल) जान पड़ेगा।

१५. दूसरे की उन्नति देखकर हृदय में विद्वेष भाव का उदय होना अत्यन्त गर्हित है। जो उच्च हृदय के मनुष्य हैं उनके हृदय में ऐसा विद्वेष कभी उत्पन्न नहीं होता। वे गुण का ग्रहण करते हैं, दोषों का त्याग करते हैं और जिससे उन्हें कल्याण की आशा होती है उसका आदर करते हैं और जिससे अमंगल होने की संभावना होती है, उससे विरत रहते हैं। महान पुरुषों का यही वास्तविक कर्तव्य है।

१६. जो स्वार्थ की रक्षा करते हुए यथासाध्य दूसरे का उपकार करते हैं, वे उन स्वार्थियों से अच्छे हैं जो दिन रात अपने ही लिए हाय हाय करते रहते हैं। संसार के लोग भले ही दुःखी हों पर मेरा अभीष्ट सिद्ध हो इस प्रकार की स्वार्थता बड़ी ही निन्द्य और त्याज्य है।

१७. कोई एक ऐसा स्वार्थ है जिससे तुम लाभ उठा रहे हो और हजारों की हानि हो रही है, वहाँ तुम्हें स्वार्थ त्याग देना ही समुचित है। वह सुख किस काम का जो हजारों के मन में दुःख पहुँचा कर प्राप्त हो। जिनका हृदय उच्च है, जो सब के साथ उच्च

प्रेम रखते हैं, वे वैसा ही काम करते हैं जिससे हजारों क्या लाखों मनुष्य सुख पाते हैं।

१८. जिनके हृदय में प्रेम और दया नहीं उनके मुँह से प्रायः मधुर वचन नहीं निकलता। प्रेम और दया ही मधुर वाणी का उत्पत्ति स्थान है। जो लोग प्रेमिक और दयालु हैं वे बहुधा मिष्टभाषी ही होते हैं।

१९. जिनकी अवस्था ऐसी नहीं हो जो किसी का विशेष उपकार कर सकें, उन्हें इतना तो अवश्य चाहिए कि दो चार मीठी बातें बोलकर ही दूसरे को आप्यायित (आनन्दित) करें।

२०. यदि सच्चा सुख पाने की इच्छा हो, यदि दूसरे के मनोमन्दिर में विहार करना चाहते हो और सारे संसार को अपना बनाना चाहते हो तो अभिमान को छोड़कर मिलनशील हो मीठी बात बोलने का अभ्यास करो। मनुष्यों के लिए मधुर भाषण एक बह प्रधान गुण है कि जिससे संसार के सभी लोग सन्तुष्ट हो सकते हैं, अतएव मनुष्य मात्र को प्रियभाषी होने का प्रयत्न करना चाहिए।

२१. अच्छे मनुष्य नम्रता से ही ऊँचे होते हैं, दूसरे मनुष्यों के गुणों की प्रसिद्धि से अपने गुण प्रसिद्ध करते हैं, दूसरे के कार्यों की सिद्धि करने से अपने कार्यों को सिद्ध करते हैं और कुवाक्यों से बुराई करने वाले दुर्जनों को अपनी क्षमा ही से दूषित करते हैं, ऐसे आश्चर्ययुक्त कामों के करने वाले महात्माओं का संसार में सब आदर किया करते हैं।

२२. दुःखियों की आह सुनकर यदि तुम हँसोगे, और दीन हीन अनाथों की आँखों के आँसू न पोंछकर घृणा के साथ उनकी उपेक्षा करोगे, तो इस संसार में तुम्हारे आँसू पोंछने कौन आवेगा, और संकट में कौन तुम्हारी सहायता करेगा?

२३. मनुष्य को चाहिए कि वह किसी से कठोर बात न कहे और न अपराधी को सख्त सजा दे। जिस मनुष्य ने दूसरे प्राणी मृत्यु के समान डरते हैं उसको भी अपनी कुशल न समझना चाहिए। उसे भी जरूर किसी समय दूसरे से डर लगेगा और वह ऐहिक और पारलौकिक यश प्राप्त नहीं करेगा।

२४. जो यह चाहता है कि मैं बहुत दिन तक जीवित रहूँ उसको चाहिए कि वह किसी प्राणी को न कभी खुद मारे और न दूसरे मनुष्य को मारने की आज्ञा दे। इसी तरह जो अपने लिए जिस जिस बात को अच्छी समझकर चाहता हो उसे वही बात दूसरे के लिए भी अच्छी समझनी चाहिए और दूसरे के हित के लिए भी उसे वैसा ही प्रयत्न करना चाहिए।

२५. जो काम अपने लिए अप्रिय है, वही काम दूसरे को भी अप्रिय लगेगा। दूसरे मनुष्य के किए हुए जिस काम को हम अपने लिए बुरा समझते हैं, वही काम दूसरे को भी बुरा लगेगा। इसलिए हमको भी बुरा काम दूसरे के लिए कभी न करना चाहिए।

२६. तृष्णा को अलग करो, क्षमा करने वाले बनो, घमंड को पास न आने दो, पाप के कामों में प्रीति न करो, सदा सत्य बोलो, अच्छे मनुष्यों के मार्ग पर चलो, विद्वानों की सोबत करो, शिष्ट पुरुषों का सत्कार करो, दुखियों पर दया रक्खो, गुणानुरागी और सरलस्वभावी बनो; ये अच्छे मनुष्यों के लक्षण हैं।

२७. परम पुरुषार्थ करने में जिन्हें लोभ हो रहा है, धन और संसार के विषयो में जो तृप्त हो चुके हैं और जो सत्य मधुर बोलने और अपनी इन्द्रियों को वश में करने में ही धर्म समझते हैं; वे मनुष्य

अमत्सरी और निष्कपट होते हैं। जिन साधनों के लिए लोग छल कपट किया करते हैं उनकी उन्हें आवश्यकता ही नहीं होती।

२८. जो मनुष्य ज्ञान से तृप्त होता है उसको किसी सुख के मिलने की कभी इच्छा नहीं होती। वह तो अपने ज्ञानरूपी सुख को ही सदा सुख समझता है और उसी से सन्तुष्ट और तृप्त रहता है। वह अपने ज्ञान से अपने को अशोचनीय समझता है और शोक करते हुए या संसार के जाल में फंसे हुए मनुष्यों को शोचनीय समझता है।

२९. लक्ष्यहीनता और निर्बलता का त्याग करने से और एक विशेष उद्देश्य को स्थिर कर लेने से मनुष्य उन श्रेष्ठ पुरुषों के पद को प्राप्त करता है जो अपनी असफलताओं को सफलता की सीढ़ी बनाते हैं, जो प्रत्येक बाह्यावस्थाओं को अपना दास बना लेते हैं, जो दृढ़ता से विचार करते हैं, निर्भय होकर यत्न करते हैं, और विजयी की भांति कदम बढ़ाते हैं।

३०. सावधानी और धैर्यपूर्वक अभ्यास करने से शारीरिक निर्बलता वाला मनुष्य अपने को बलवान कर सकता है और निर्बल विचारों का मनुष्य ठीक विचार करने के अभ्यास से अपने विचारों को सबल बना सकता है।

३१. जिसे साधारण उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करनी है उसे साधारण स्वार्थों का ही त्याग करना होगा और जिसे महान उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करनी है उसे महान स्वार्थों को त्याग करना होगा। जितना ऊँचा चढ़ना है उतनी ही ऊँची सीढ़ी की आवश्यकता है और जितनी उन्नति करनी है उतना ही निःस्वार्थी बनना होगा।

३२. नम्रता और क्षमा के विचारों से मनुष्य नम्र और दायवानबन जाता है, जिससे उसकी बाह्यावस्थाएँ उसकी रक्षक और पोषक बन जाती है। प्रेम और निःस्वार्थता के विचारों से मनुष्य दूसरों के लिए अपने को विस्मरण कर देता है जिससे उसकी बाह्यावस्थाएँ ऋद्धि और सच्चे धन की उत्पादक हो जाती है।

३३. प्रकृति प्रत्येक मनुष्य को उसकी उन इच्छाओं की पूर्ति में सहायता देती है, जिसको वह अपने अन्तःकरण में सबसे अधिक उत्साहित करता है और ऐसे अवसर मिलते हैं जो शीघ्र ही उसके भले, या बुरे विचारों को संसार में सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

३४. जब मनुष्य धन को चाहता है तो उसको कितना आत्म संयम और परीश्रम करना पड़ता है? तो विचारना चाहिए कि उस मनुष्य को कितना अधिक आत्मसंयम करना पड़ेगा जो दृढ़, शान्त और ज्ञानमय जीवन की इच्छा रखता है।

३५. विचार जो निर्भयता के साथ उद्देश्य से जोड़े जाते हैं, बड़ी भारी उत्पादक शक्ति रखते हैं। वह मनुष्य जो इस बात को जानता है शीघ्र ही बलवान, श्रेष्ठ और यशस्वी हो जाता है। वह फिर चंचल विचार वाला, अस्थिर आवेश और मिथ्यासंकल्प विकल्पों का पुतला नहीं रहता, वह मनुष्य जो इस भांति उद्देश्य को पकड़ लेता है अपनी आत्मिक शक्तियों का जानने वाला स्वामी बन जाता है और उन शक्तियों को अन्य कामों में भी ला सकता है।

३६. कुसंघ के बीज बोने वाले को आखिर पश्चाताप का समय आता है अतएव क्षुद्रातिक्षुद्र जन्तु के साथ भी वैर न रखना चाहिए क्योंकि किसी समय क्षुद्रजन्तु भी महान पुरुषों के विनाश का कारण बन जाता है।

३७. सद्गुणों में अति आवश्यक गुण निराभिमान और नम्रता है। अतिनम्र मनुष्य दूसरों की हुई भूल के लिए स्वयं प्रसन्न न होकर अत्यन्त दिलीगीर होगा और अभिमानी की बजाय निरभीमानी मनुष्य दुःखों को अधिक धैर्य से सहन कर सकेगा।

३८. हम कहाँ से आए? हमें कहाँ जाना है? और हमारे कृतकर्मों का हिसाब किसके पास देने का है? इन तीन बातों का खूब बारीकी से मनन किया जाएगा तो पाप कीचड़ में फँसने का टाइम अभी न आवेगा।

३९. मनुष्य बाह्य अस्पर्श्य वस्तुओं से अभङ्गाता नहीं है, परन्तु दृष्ट विचार, खून, व्याभिचार, बलात्कार, चोरी, खोटी, साक्षी और परनिन्दा से अभङ्गाता है।

४०. सत्य के लिए भूख-तृषा सहन करने वाला, महान कष्ट उठाने वाला, मनुष्य ही भाग्यवान और नसीबदार है, वही वास्तविकता सत्य के प्रभाव से एक दिन परमात्मा का रूप धारण कर संसार का भला करता है।

४१. किसी का खून न करो, व्याभिचार से दूर रहो, खोटी साक्षी कभी न भरो, और दुष्ट लोगों की संगति से बचते रहो। यही ऊँचे शिखर पर चढ़ने का असली रास्ता है और इसी रास्ते पर चलने वाले को लोग परमात्मा मानते हैं।

जो मनुष्य उक्त शिक्षाओं को मनन करके अपने हृदय में धारण करता है अथवा इन गुणों के जो धारक हैं उन पर अनुराग रखता है उसे ग्रन्थकार के कथनानुसार "श्रीसोमसुन्दरपद" अर्थात् तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है। तीर्थङ्करों की क्षमा और मैत्री सर्वोत्कृष्ट होती है, उनकी हार्दिक भावना सब जीवों को शासन रसिक बनाने की रहती

है, उनको उपदेश में निष्पक्षपात और सद्गुणों का मुख्य सिद्धान्त रहता है। शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि -

सर्व्वनाणुत्तायं, सर्व्वनिसेहो व पवयणे नत्थि।

आयं वयं तुलिज्जा, लाहाकंखिव्व वाणिआ ॥१॥

भावार्थ - तीर्थङ्करों के प्रवचन में सर्व बात का निषेध अथवा आज्ञा नहीं है किन्तु लाभाकांक्षी वणिक की तरह लाभ और अलाभ की तुलना करे ऐसी आज्ञा है। अर्थात् जिस प्रकार वणिक लाभाऽलाभ विचार कर, जिसमें अधिक लाभ जान पड़ता है उसमें प्रवृत्ति करता है। उसी प्रकार बुद्धिमान मनुष्यों को हर एक कार्य करते समय लाभाऽलाभ का विचार कर लेना चाहिए, ऐसी तीर्थङ्कर प्रवचन की आज्ञा है।

तीर्थङ्करों का कथन राजा और रंक, मित्र और शत्रु, सब के लिए समान रूप से आदरणीय होता है। क्योंकि - जहाँ सत्य, न्याय और दया का सिद्धान्त मुख्य है और जिसमें राग, द्वेष और स्वार्थ पोषण नहीं है उसके उपदेश और कथन का कौन अनादर कर सकता है? तीर्थङ्करों का उपदेश और सिद्धान्त प्रमाण तथा नयों से अवाधित और स्याद् वाद से शोभित है अतएव वह सर्वमान्य होता है। इसी से गुणानुरागधारियों के लिए तीर्थङ्कर पद प्राप्ति रूप फल बतलाया गया है।

महानुभावों ! यदि जीवन को सुखमय बनाना हो, अनन्त अनुत्तर और निरावरण कैवल्य ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को प्राप्त करना हो, भ्रमंडल में आदर्श और पूज्यपाद की चाहना हो तो गुणानुराग धारण करो। ईर्ष्या, द्वेष और कलह को अपनी आत्मा में स्थान मत दो, दोषदृष्टि का परित्याग करो और मैत्रीभाव से सब के साथ बर्ताव रखो।

संसार से सब भोग और विभव नष्ट होने वाले हैं, इन्हीं भोग और विभव की आशाओं से जन्म मरण के चक्र में घूमना पड़ता है। आयुष्य, युवावस्था और चंचल लक्ष्मी देखते-देखते विलय हो जाती है, संसार में जो मिली हुई सामग्री है वह सब दुःखद है और सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं; ऐसा समझकर अपने मन को शुभयोगों के तरफ लगाओ और भलाई, गुणसंग्रह और हितकारक कार्यों में प्रयत्न करना सीखो। काम, क्रोध आदि शत्रुओं से अलग होकर आत्मीय प्रेम में मन लगाओ जिससे अविनाशी यश और सुख मिलेगा यह मनुष्य जीवन किसी बड़े भारी पुण्ययोग से मिला है, अतएव जो कुछ प्रशस्य शुभकार्य कर लोगे वही साथ रहेगा।

वहयब्धिन्देन्दु मिते शुभेऽब्दे,
 पौषे रवो सिन्धुतिथौ यतीन्द्रैः ।
 गुणानुरागस्य विवेचनोऽयं,
 भूयात् कृतः साधुजनस्य प्रीत्ये ॥१॥



परिशिष्ट

परम पूज्य विश्वंघ्र कलिकाल सर्वज्ञ कल्प सौद्यर्म्बृहत्तपागच्छ
नायक तीर्थाधिराज शत्रुञ्जयावतार श्री मोहनखेड़ा तीर्थ संस्थापक
स्वर्णगिरि, कोरटाजी, तालनपुर तीर्थोद्धारक श्रुताचार्य विश्वप्रसिद्ध
अभिधान राजेन्द्र कोष के लेखक गुरुदेव भगवन्त भट्टारक
सरस्वति पुत्र, युग पुरुष योगीराज युगद्रष्टा विरल भूति
बुधगणशरण प्रसान्तवप्रु बहूमुखी विद्वान जैनागम प्रज्ञाता प्रभु
श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज साहब के परम पवित्र
चरण कमल में सविधि द्वादश वन्दन-वन्दन ।



श्री मांगीलालजी छाजेड़
राजगढ़ (धार)
हाल निवास धार (म. प्र.)



सौ. मांगीबाई मांगीलालजी छाजेड़
राजगढ़ (धार)
हाल निवासी धार (म. प्र.)

मालवांचल के दैदिप्यमान बक्षत्र एवं श्री मोहनखेड़ा तीर्थ
विकास के प्रमुख स्तंभ में से एक धार निवासी

श्री मांगीलालजी सा. छाजेड़,

एक परिचय

वर्षा ऋतु समाप्त होकर हेमन्त अपने यौवन में पृथ्वी पर खुशनुमा वातावरण चारों ओर से मानव मात्र को आल्हादित कर रही थी, देश का कृषक पूर्णानन्द मना रहा था। वर्षा ऋतु ने धन धान्य से सभी को सम्पन्न कर दिया था। विक्रम सं. १९७४ मागसर सुदि ३ सोमवार दिनांक १७ दिसंबर, १९१७ को राजगढ़ जिला धार में चारों ओर आनन्द उल्हासमय वातावरण चल रहा था। प्रातःकाल मार्तण्ड अपनी सहस्रों किरणों से पृथ्वी पर प्रकाशमान कर रहा था। ऐसे में एक ओर से बैड-बाजों की सुमधुर ध्वनि सुनी जा रही थी। सहसा एक ने दूसरे से प्रश्न किया, आज क्या आनन्दोत्सव हो रहा है? बैड-बाजे बज रहे हैं, दूसरे ने जवाब दिया तुझे नहीं मालूम आज प्रातःकाल में जो बैड बज रहा था, इसलिए कि अपने नगर में श्रेष्ठिवर्य्य श्री केसरीमलजी सा. के घर पुत्र रत्न का जन्म हुआ है। इस आनन्द में बैड बाजे बज रहे थे। क्योंकि यह पुत्र आज तीन भाईयों में प्रथम वरिष्ठ पुत्र होने से इतना अधिक उत्साह है। सूति कर्म के दिन व्यतीत होने पर परिवारजनों को एकत्रित कर नगर के ज्योतिषी महाराज को बुलाकर बालक के नामकरण विधि का कार्यक्रम रखा। ज्योतिषी महाराज ने बालक के जन्म लग्न के ग्रहों को देखते हुए कहा यह बालक गौत्र, धर्म व समाज के लिए कई प्रकार के धर्म कार्य कर पाएगा

और समाज में अपने माता-पिता के नाम को उज्ज्वल करते हुए धर्म की आराधना, उपासना, अर्चना से समाज को दिशा दिग्दर्शन करेगा और जन्म नक्षत्र उत्तरा षाढा नक्षत्र होने से इसका नाम जवेरचन्द, जयन्तिलाल, जयप्रकाश आदि आता है। नाम सुनकर बालक की बड़ी माँ बोली महाराज पंचाग से इसका नाम जो भी आता हो वह ठीक है, किन्तु यह बालक हमारे तीनों घर का दीपक है, और मैंने पूज्य दादा गुरुदेव से मांग कर लिया है, इसलिए मैं तो इसका नाम मांगीलाल रखूंगी। बालक अपनी बाल क्रीड़ा से परिजनों को आनन्दित करता हुआ ५ वे वर्ष में प्रवेश करने पर श्रेष्ठ दिन देखकर बालक को शिक्षा के लिए विद्यालय में प्रवेश करवाया। बालक प्रतिदिन जिनेन्द्र दर्शन, गुरुवन्दन अपने माता-पिता के प्रतिदिन चरण स्पर्श कर अपना दैनिक कार्य प्रारम्भ करता था।

संवत् १९८० का ग्रीष्मकाल चल रहा था। नगर में त्रिस्तुतिक समाज के प्रकाण्ड विद्वान इतिहास प्रेमी समाज संगठन के प्रणेता परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति महामहोपाध्याय श्रीमद् यतीन्द्रविजयजी महाराज सा. (बाद में परमपूज्य श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी) पधारे हुए थे, उस समय राजगढ़ नगर में त्रिस्तुतिक संघ में एक विवाद चल रहा था, जिसके कारण श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज सा. के समाधि मंदिर की प्रतिष्ठा का कार्य रुका हुआ था। परम पूज्य उपाध्यायजी महाराज सा. के प्रभावशाली व्याख्यानों का ऐसा प्रभाव हुआ कि दोनों दल ने परम पूज्य उपाध्यायजी महाराज सा. को लिखित में दे दिया कि आप जो भी निर्णय प्रदान करेंगे वह हमें मान्य होगा।

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति महामहोपाध्याय श्रीमद् यतीन्द्रविजयजी महाराज सा. के सम्मुख राजगढ़ श्रीसंघ के वरिष्ठ जन बैठ करके विचार विनिमय कर रहे थे। पूज्य उपाध्यायजी म. सा. ने विवाद के फैसले का कागज तैयार कर लिया था। जिसको लिपिबद्ध करने का विचार हो रहा था, तब वरिष्ठ श्रावकों ने पूज्य मुनिप्रवर उपाध्यायजी म.सा. से निवेदन किया पूज्यवर अपने यहां एक बालक है, उसको बुला करके फैसला लिखवा लिया जाय, बालक सरदारपुर में वकील सा. के यहां पर मुहर्रिर का काम करता है। पूज्य उपाध्यायजी म.सा. ने बुलाने का आदेश दिया, उसी समय बालक मांगीलाल को बुलाया। बालक मांगीलाल आकर परम पूज्य उपाध्यायजी म.सा. को विधिसह वन्दन करके एवं श्रेष्ठिवर्ग को जयजिनेन्द्र करके बैठ गया। पूज्य उपाध्यायजी म. बालक मांगीलाल का विनयगुण देखकर बहुत प्रसन्न हुए। बालक मांगीलाल को अपने समीप बुलाकर फैसले के कागज देकर के लिपिबद्ध करने का आदेश फरमाया। मांगीलाल ने फैसले का पूर्णरूप से आलेखित करके परम पूज्य उपाध्यायजी म.सा. के करकमलों में अर्पित किया। पूज्यवर लेखन कला की सुन्दरता व विषय का विश्लेषण देखकर हर्षित हुए। मांगीलाल को आशीर्वाद प्रदान कर आदेश दिया कि इसी प्रकार धर्म व शासन के प्रत्येक काम में रुचि लेकर करते रहना। सफलता पूज्य दादा गुरुदेव प्रदान करते रहेंगे।

श्रीसंघ के प्रतिनिधि फैसला सुनकर तथा मांगलिक श्रवण कर पूज्यपाद दादा गुरुदेवश्री की जयकार के साथ सभी विसर्जित हुए। परम पूज्य महोपाध्याय श्रीमद् यतीन्द्रविजयजी म. सा. स्वाध्याय

ध्यान में चिन्तन करते विराजमान थे, उसी समय बालक से प्रश्न किया, क्या जिज्ञासा से आना हुआ ? बालक मांगीलाल ने पूज्यवर से विनयसह प्रश्न किया कि हे पूज्यवर आपश्री ने व्याख्यान में सम्यकत्व का महत्व फरमाया कि जीव अजीव आदि नव पदार्थों को जो पुरुष भली भाँति से जानता है, उसको सम्यकत्व होता है अथवा नव तत्वों के स्वरूप को नहीं जानते हुए भी जो पुरुष अन्तःकरण से नव तत्वों को सत्य मानता है, उसे भी सम्यकत्व होता है। तो पूज्यवर सम्यकत्व की प्राप्ति के लिए हम जैसे शास्त्र के अनभिज्ञ को क्या करना चाहिए ? समकित प्राप्ति के लिए। पूज्यपाद उपाध्यायजी म. सा. को खूब आनन्द हुआ बालक मांगीलाल के विचारों को सुनकर पूज्यवर ने फरमाया जिनेन्द्र भगवान की उपासना निर्ग्रन्थ पंच महाव्रत धारि मुनियों की सेवा एवं केवलि भगवन्त भाषित धर्म की आराधना जो जीव करता है, उसे समकित की प्राप्ति है। गुरु वचनों को सुनकर बालक खड़ा हुआ विधि सह वन्दन करके पूज्य गुरु भगवन्त से प्रतिज्ञा ली आज से मैं देव जिनेश्वर, गुरु निर्ग्रन्थ और केवलिभाषित धर्म की आराधना उपासना व अर्चना करूँगा। पूज्यवर ने प्रतिज्ञा करवाई और वासक्षेप डालकर आशीर्वाद दिया अपने ध्येय को धीरता से धारण करके अपने जीवन को ऐसा निर्मल बनाए की अन्य आपका अनुसरण करे। बालक मांगीलाल ने घर जाकर ग्रह बाद अपनी मातेश्वरी से बताई तो मातुश्री ने हर्षोल्लास से मांगीलाल के सिर पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया, मांगु आज तो तेने खूब श्रेष्ठ कार्य किया है। तूने अपने जीवन में ऐसे आदर्श ज्ञानवान गुरु को गुरु धारण किया है कि जीवन में तेरे कोई बाधा नहीं आएगी। सत्य अहिंसा के मार्ग पर जो मानव चलता है, वह जीवन में कभी दुःख नहीं देखता है।

बालक मांगीलाल अपना अध्ययन व व्यवसाय करते-करते योवन वय में प्रवेश कर गया। योग्य समय हो जाने पर माता-पिता ने पुत्र के विवाह का विचार कर राजगढ़ नगर के ही श्रेष्ठीवर्ध श्री केशरीमलजी बाफना की सुपुत्री चि. अ.सौ. श्रीमती मांगीदेवी के साथ विवाह कर दिया। श्री मांगीदेवी अपने संस्कारी माता-पिता के द्वारा प्रदत्त संस्कारों से ससुर पक्ष के सभी वर्ग का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया और अपने धर्म के माता-पिता के दिशा-दर्शन में समय व्यतीत करते हुए अपनी कुक्षी से चार पुत्र व दो पुत्रियों को जन्म दिया। आज चारों पुत्र ऐसे बदले हुए परिवेश में बिना व्यसन के शुद्ध सात्विक जीवन में रहते हैं। सबसे बड़े पुत्र श्री बसन्तीलाल न्यायधीश है। वर्तमान में भोपाल पदस्थ हैं। मनोहरलाल इंजिनियर हैं, स्वतंत्र कुमार डॉक्टर है एवं अपना निजी नर्सिंगहोम चलाते हैं एवं प्रकाशचन्द्र ग्रेजुएट है। श्री मनोहरलाल व प्रकाशचन्द्र दो व्यापार धार में करते हैं। दोनों कन्याएं ग्रेज्यूएट हैं। चि.अ.सौ. निर्मलादेवी के लगन गुना निवासी श्री सुतीशचन्द्रजी टाटीयाजी से किया है एवं चि.अ.सौ. रविन्दादेवी के लगन गुना निवासी श्री प्रदीपचन्द्रजी लौढा से किया है। दोनों बहने ससुराल पक्ष में माता-पिता द्वारा दिए सुसंस्कारों से सुशोभित कर रही है।

सं. २०१२ ज्येष्ठ सुदी रविवार तारीख ५.६.५५ को परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति आगम दिवाकर श्रीश्रीश्री १००८ श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. अपने मुनिमंडल सह श्री मोहनखेड़ा तीर्थ पधारे एवं इस वर्ष का चार्तुमास श्री मांगीलालजी छाजेड के विशेष आग्रह से राजगढ़ में हुआ। चार्तुमास के अन्तर्गत कई धार्मिक आयोजनों के कार्यक्रम हुए। इसमें महत्वपूर्ण कार्य

आसोज सुदि दशमी को मालव प्रान्तीय त्रिस्तुतिक श्रीसंघ के प्रतिनिधियों का सम्मेलन इन्दौर निवासी सेठ श्री धनराजजी पारख की अध्यक्षता में एवं परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति जैनाचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में हुआ। सम्मेलन के स्वगताध्यक्ष के नाते श्री मांगीलालजी सा. छाजेड के पूज्य आचार्य श्री के एवं मुनि मंडल के श्री चरणों में वन्दन करते हुए आगन्तुक श्रीसंघ के प्रतिनिधियों को जय जिनेन्द्र करते हुए आने वाली भावी पीड़ियों में धर्म के संस्कार डालने के लिए प्रभावशाली भाषण दिया। पूज्यपाद मुनिराज श्री विद्याविजयजी म.सा. ने श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में एक गुरुकुल स्थापना करने की रूपरेखा रखी। आए हुए सभी महानुभावों ने सर्वानुमति से यह निर्णय किया कि श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन श्वेतांबर गुरुकुल स्थापित करने के लिए सेठ श्री धनराजजी की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया एवं श्री मांगीलालजी छाजेड को संयोजक बनाकर गुरुकुल के विधान आदि नियमों को बनाने की जिम्मेदारी दी।

सं. २०१३ आषाढ सुदि ६ को राजगढ़ नगर में आदिनाथ राजेन्द्र जैन गुरुकुल की स्थापना कर गुरुकुल को प्रारंभ किया। परम पूज्य आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. का चार्तुमास खाचरौद में था। पूज्य आचार्य श्री की निश्रा में एवं सेठ श्री इन्दरमलजी टेकाजी की अध्यक्षता में अखिल भारतीय त्रिस्तुतिक श्री संघ का प्रतिनिधि सम्मेलन हुआ, जिसमें परम पूज्य कृपालु गरुदेव भगवत श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. का दिवंगत अर्द्ध शताब्दी महोत्सव की रूपरेखा बनाने के उद्देश्य से यह सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन में परम पूज्य कविरत्न मुनिराज श्री विद्याविजयजी

म.सा. ने अर्द्ध शताब्दी समारोह अखिल भारतीय त्रिस्तुतिक श्रीसंघ के सहयोग से श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में मनाने की योजना पर विस्तार से व्याख्यान दिया एवं अर्द्ध शताब्दी महोत्सव का कार्य आहोर चार्तुमास में परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पती श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरिजी म.सा. ने श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ की योजना बनाकर लेख आदि बनवाने का कार्य प्रारम्भ किया, जिसकी रूपरेखा सम्मेलन में रखी। सम्मेलन में विचार विनिमय करके अर्द्ध शताब्दि महोत्सव की तैयारी करने के लिए सेठ श्री गगलभाई की अध्यक्षता में अखिल भारतीय प्रतिनिधियों की समिति बनाई। इसमें उपाध्यक्ष डॉ. प्रेमसिंहजी राठौर रतलाम, कोषाध्यक्ष सेठ श्री कन्हैयालालजी कश्यप रतलाम, मंत्री श्री मांगीलाल छाजेड़ धार को बनाया गया।

सं. २०१४ चैत्र सुदि १३, १४, १५ एवं वैशाख वदि १ का कार्यक्रम बनाकर तैयारियाँ करने लगे। महोत्सव के अन्तर्गत कवि सम्मेलन, विद्वद्बृ. सम्मेलन, समाज सम्मेलन, महिला मण्डल सम्मेलन आदि विविध प्रकार के कार्यक्रम निश्चित किए गए, उस समय श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में किसी भी प्रकार की सुविधा नहीं थी। फिर भी मंत्री श्री छाजेड़ ने अपनी कार्यकुशलता का परिचय देते हुए १५-२० हजार मानव भेदनी अस्थाई रूप से सभी प्रकार की सुविधायुक्त विशाल राजेन्द्र नगर का निर्माण किया एवं धनचन्द्र नगर, भूपेन्द्र नगर, मोहन नगर, यतीन्द्र सभा कक्ष आदि का निर्माण करके बीस हजार मानव भेदनी की उपस्थिति में परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति यतीन्द्रसूरेश्वरजी म.स. ने श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ का लोकार्पण करते हुए श्री मोहनखेड़ा तीर्थ की भावी योजनाओं पर सारगर्भित व्याख्यान दिया एवं परम पूज्य आचार्य भगवंत अपने दीक्षादाता गुरुवर के चरणों में वन्दनसह

अपनी श्रृद्धांजलि अर्पित करते हुए भविष्य की यह कल्पना की थी कि आज श्री मोहनखेड़ा तीर्थ के अन्दर जो अस्थाई व्यवस्थाएं हैं, वह सब स्थाई बने (पूज्य गुरुदेव की आत्मियता से की हुई कल्पनाएं आज सभी साकार हो गई हैं)।

चैत्र सुदि पूनम को इन्दौर निवासी सेठ श्री धनराजजी पारख की अध्यक्षता में विशाल जनप्रतिनिधि के मध्य समिति को अध्यक्ष श्री गंगलभाई संघवी को अभिनन्दन पत्र सहित जैन रत्न की उपाधि दी गई एवं समिति के उपाध्यक्ष डॉ. प्रेमसिंह राठौर को अभिनन्दन सह जैन भूषण की पदवी दी गई। पश्चात् समिति के मंत्री श्री मांगीलालजी छाजेड़ को अभिनन्दन-पत्र अर्पण करके उनका अभिनन्दन किया गया। यह गौरव की बात है कि मालवांचल से अखिल भारतीय त्रिस्तुतिक श्रीसंघ के मंच से सर्व प्रथम श्री मांगीलालजी छाजेड़ का अभिनन्दन होना अपने आप में एक आदर्शता रखता है। अंत में श्री गंगलभाई की अध्यक्षता में श्री राजेन्द्र जैन सभा के नाम से एक संस्था का गठन किया गया एवं मालव प्रांत के त्रिस्तुतिक समाज के उपाध्यक्ष पद पर श्री मांगीलालजी छाजेड़ का मनोनयन करके सभा बिसर्जित हुई।

परम पूज्य आचार्य श्री ने मांगीलालजी छाजेड़ के श्रम से सफल समारोह के लिए आशीर्वाद देते हुए यह आदेश दिया कि महोत्सव गुरुकृपा से सफल हो गया, किन्तु समारोह को सफलता के लिए शताब्दी समारोह का आय-व्यय-पत्रक बनाकर समाज के सम्मुख रखना जरूरी है। गुरु आज्ञा को मानकर समारोह का आय व्यय पत्रक बनाने की तैयारी करने लगे।

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति आचार्य देव श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. का चार्तुमास राणापुर नगर में था। चार्तुमास में अर्द्ध शताब्दी समारोह का हिसाब लेकर के श्री छाजेड़जी पूज्य गुरुदेव की सेवा में उपस्थित हुए। अर्द्ध शताब्दी समारोह की समिति में सदस्यों के सम्मुख अर्द्ध शताब्दी समारोह का आय-व्यय-पत्रक रखा। समिति ने पत्रक का निरीक्षण करके आय-व्यय-पत्रक के ऊपर समिति के सदस्यों में से सेठ सागरमलजी, चम्पालालजी राणापुर, सेठ श्री पन्नालालजी लोढ़ा, टाण्डा एवं सेठ श्री केशरीमलजी मौतीलालजी बाग ने हस्ताक्षर करके यह सूचना लिखी कि किसी भी महानुभाव को अर्द्ध शताब्दी समारोह का हिसाब देखना हो, वह एक वर्ष तक की धार में श्री मांगीलालजी छाजेड़ के पास जाकर देख सकते हैं। समारोह के सम्पूर्ण आय-व्यय-पत्रक को समारोह के कार्यक्रमों की जानकारी सह प्रकाशित करके सम्पूर्ण समाज को भेजा गया।

चार्तुमास पूर्ण कर परमपूज्य आचार्य श्री मोहनखेड़ा तीर्थ पधारे। दिनांक २५-१२-५७ को मोहनखेड़ा तीर्थ के विकास कार्यक्रमों को प्रारंभ करते हुए श्रीमद्राजेन्द्रसूरि जैनाश्रम के नाम से धर्मशाला का शिलान्यास किया। दिनांक २५-१२-५७ की वह शुभ घड़ी से मोहनखेड़ा तीर्थ के विकासोन्मुखी कार्य का ऐसा प्रारम्भ हुआ कि आज ४० वर्ष से तीर्थ विकास के कार्य प्रारंभ हैं।

दिनांक २५-०१-५८ को राजगढ़ श्रीसंघ के प्रतिनिधि एकत्रित होकर के पूज्य आचार्य श्री कि सेवा में उपस्थित हुए। आचार्य श्री से प्रार्थना की कि गुरुदेव आप श्री के आदेश से आज

तक श्री मोहनखेड़ा तीर्थ की व्यवस्था हम संभालते थे, आज से आप श्री के सम्मुख इस तीर्थ की व्यवस्था अखिल भारतीय त्रिस्तुतिक संघ के प्रतिनिधियों को सौंपते हैं। आचार्य श्री ने उसी समय मांगीलालजी छाजेड़ को बुलाकर उनके संयोजन में एक समिति का अखिल भारतीय स्तर के सदस्यों का चयन किया गया एवं उन्हें तीर्थ की व्यवस्था सौंपी गई।

पूज्यपाद आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि धरजी म. सा. खाचरौद पधारे। खाचरौद श्रीसंघ ने आचार्य श्री का दीक्षा हीरक जयंती समारोह है। सं. २०१५ चैत्र सुदि पूर्णिमा को मनाने का निश्चय किया। स्मरण रहे आचार्य श्री का दीक्षा स्थल खाचरौद है। अखिल भारतीय स्तर पर आचार्य श्री का हीरक जयंती महोत्सव विविध आयोजन से मनाने का निश्चय किया, जिसमें करि सम्मेलन, संगीत सम्मेलन, युवा सम्मेलन, विद्वत सम्मेलन, प्रमुख आकर्षण थे। सम्मेलन में श्री यतीन्द्रसूरि हीरक शिक्षा फण्ड के नाम से एक कोष एकत्र करने का निर्णय हुआ। कोष से समाज के प्रतिभावान छात्रों को सहयोग करने का उद्देश्य था, जिस कोष के संरक्षक श्री मांगीलालजी छाजेड़ को नियुक्त किया।

सं. २०१५ का चार्तुमास जावरा नगर में आचार्य श्री का था। वृद्धावस्था के कारण आचार्य श्री का स्वास्थ्य अनुकूल नहीं होने से मुनि मंडल ने आचार्य श्री को स्थाई विराजमान करने की योजना बनाई। परम पूज्य कविरत्न मुनिराज श्री विद्याविजयजी म.सा. ने श्री मांगीलालजी छाजेड़ को बुलाकर योजना बनाई। आचार्य श्री को मोहनखेड़ा तीर्थ में विराजमान करने का निश्चय किया। मोहनखेड़ा तीर्थ में आचार्य श्री को विराजमान करने का

राय ली जाए और राजस्थान में त्रिस्तुतिक समाज का कार्य हो तो आहोर श्रीसंघ की राय ली जाए, क्योंकि श्री रत्न विजयजी से श्रीमद् राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. को आहोर में अचार्य पद प्राप्त हुआ था और शुद्धसाध्वाचार का मार्ग क्रियोद्धार करके जावरा नगर में राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. द्वारा किया था। इसलिए आहोर और जावरा श्रीसंघ की राय लेना आवश्यक है।

आचार्य पद का निर्णय होकर जब आमंत्रण पत्रिका समाज में गई तो प्रतिष्ठोत्सव के साथ आचार्य पद समारोह को देख अचानक समाज में ज्वार भाटा उफान आया कि छोटे-मोटे तो हिल जाएं किन्तु श्री छाजेड़जी हिमालय के समान अटल रहे जो भी जैसा प्रश्न लेकर आया उसको पूर्ण रूप से समझाकर सहमत कर लेते थे। प्रश्नकर्ता जहां तक पूर्ण संतुष्ट नहीं होता वह उसे छोड़ते भी नहीं थे। उस समय के वातावरण में श्री छाजेड़जी को देखा है। गुरुदेवश्री की आज्ञा का पालन करना अपना परम कर्तव्य समझकर छाजेड़जी ने जो श्रम करके गुरु आज्ञा का पालन किया उसी का फल था कि जो दो दल होने की संभावना उस समय थी वह नहीं हुई और सर्वानुमत से एकत्र होकर आचार्य पद का एवं प्रतिष्ठा महोत्सव का कार्यक्रम चतुर्विध श्रीसंघ के सहयोग से सानन्द सम्पन्न हुआ।

धार नगर में त्रिस्तुतिक संघ का आराधना स्थल स्वतंत्र नहीं होने से आराधना में कमी थी। यह पुण्य कार्य श्रीमती मांगीबाई की अन्तरप्रेरणा से श्री छाजेड़जी ने समाज के वरिष्ठ श्री गेंदालालजी बाफनाजी से परामर्श कर दोनों गुरु भक्तों ने अपने पूर्ण श्रम से श्री राजेन्द्र भवन जैन उपाश्रय का विशाल भवन बनाया एवं एक

जिन मंदिर गुरु मंदिर की योजना बनाकर निर्माण कार्य प्रारंभ किया जो युगों-युगों तक श्री छाजेड़ का गुण गाता रहेगा। श्रीमती छाजेड़ के सुसंस्कार ऐसे हों कि पुत्रों में भी एक पुत्र में कोई व्यसन नहीं है। श्रीमती छाजेड़ की छोटी बहन दीक्षा ग्रहण कर त्रिस्तुतिक श्रीसंघ में साध्वी श्री महेन्द्रश्रीजी के नाम से वरिष्ठ साध्वीजी के रूप में अपनी विद्वता से नारी समाज का सफल दिशा दर्शन करती है। श्री छाजेड़जी के पिता श्री का शुभनाम श्री केशरीमलजी छाजेड़ है। तो धर्म पिता का नाम भी श्री केशरीमलजी बाफना है। स्वयं का नाम मांगीलाल है तो श्रीमती का नाम भी श्रीमती मांगीबाई है। ऐसे योग कम ही मिलते हैं। श्री छाजेड़जी के छोटे भाई श्री भागचन्द्रजी छाजेड़ हैं, वे राजगढ़ निवास करते हैं एवं अपने बड़े भाई के अनुरूप ही देव गुरु धर्म की सेवा उनका प्रमुख लक्ष्य है एवं अधिकतम समय श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में ही सेवा भाव से समय व्यतीत करते हैं।

आज श्री मोहनखेड़ा विशाल और भव्यता लेकर जगत के प्रसिद्ध तीर्थों के नक्शे में चमक रहा है। यह श्री छाजेड़जी के अथक श्रम, दीर्घदृष्टि, पक्के विचार और निर्भीकता का ही परिणाम है, क्योंकि श्री छाजेड़ का चिन्तन निष्पक्ष बिना पूर्वाग्रह से दूर होता है। वह कार्य समाज के लिए गौरवपूर्ण होता है। अभी वृद्धावस्था के कारण शरीर में कमजोरी अधिक होते हुए भी जरा सा सन्देश पहुंचाने पर इनके राय लेने जैसा कार्य होता है। तो यह शरीर की किसी भी प्रकार की चिन्ता न कर मोहनखेड़ा पहुंच जाते हैं। कभी श्री छाजेड़ की तबीयत कम विषय पर विचार कम हो तो श्रीमती

परमपूज्य व्याख्यान वाचस्पति आचार्यदेव श्रीमद्विजय
 यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. ने फरमाया विद्या इधर आओ। मुनिराज
 श्री विद्याविजयजी म.सा. हाथ जोड़कर गुरुदेव के सम्मुख खड़े
 हुए एवं वरिष्ठतम मुनिप्रवर श्री लक्ष्मीविजयजी म.सा. को भी पास
 बुलाया। परमपूज्य आचार्य श्री ने वासक्षेप हाथ में लेकर फरमाया
 लक्ष्मीविजयजी में आज अपनी अस्वस्थता के कारण आज से मेरे
 उत्तराधिकारी के रूप में विद्या को आचार्य घोषित करता हूँ और
 तुम सब इसका योग्य समय देखकर पाटोत्सव करके आचार्य पद
 पर बैठा देना। साथ ही श्री कल्याणविजयजी और श्रीदेवेन्द्रविजयजी
 को उपाध्याय पद देता हूँ और जयन्तविजय को उपाचार्य पद देता
 हूँ। उपस्थित श्रीसंघ सहसा इस घोषणा से विचारमग्न हो गया
 आचार्य श्री ने मुनिमण्डल व श्रीसंघ के सम्मुख वासक्षेप डालकर
 श्री विद्याविजयजी को चादर भी ओढ़ा दी। मुनिमंडल व श्रीसंघ
 अनेक प्रकार से विचारमग्न हो गया उस समय परम पूज्य आचार्य
 देव श्री ने फरमाया मुहरिर कहा है (पूज्यवर मुहरिर श्री मांगीलालजी
 छाजेड़ को कहते थे) मांगीलालजी छाजेड़ पूज्य पाद गुरुदेव श्री
 की सेवा में सम्मुख खड़े थे। वृद्धावस्था के कारण ज्योति कम हो
 गई थी। छाजेड़जी बोले गुरुदेव में सेवा में हाजिर हूँ। पूज्य आचार्य
 श्री बोले कन्हैयालालजी कहाँ है, श्री कन्हैयालाल जी कश्यप रतलाम
 वाले भी आचार्य श्री के सम्मुख खड़े थे। देखो मैंने मेरी जिम्मेदारी
 पूरी की और आप दोनों महानुभाव से मेरी यह आज्ञा है योग्य
 समय देखकर पाटोत्सव करके आचार्य पद पर विद्या को बिठाने
 की जिम्मेदारी तुम्हें सौंपता हूँ।

उत्तराधिकारी की घोषणा विद्युत की तरह जैसे-जैसे समाज में फैलती गई ऐसे-ऐसे कई प्रकार के उफान समुद्र में ज्वार भाटे की तरह आते हैं, वैसे आते गए। श्री कश्यपजी व श्री छाजेड़जी ने उसी समय गुरुआज्ञा को शिरोधार्य करके श्री विद्याविजयजी म. सा. को आचार्य पद के अनुरूप व्यवहार चालू कर दिया। कुछ समय बाद उपधान तप का माला महोत्सव पूर्ण हो गया। किन्तु दिन प्रतिदिन गुरुदेव श्री का स्वास्थ्य बिगड़ता ही जा रहा था और अचानक पौष सुदि २ की रात्रि को प्रातःकाल ४.२० पर स्वर्गवास हो गया। पौष सुदि २ की रात्रि को १.१५ पर आचार्य श्री ने जयप्रभविजयजी से बात की एवं २.३० पर गुरुदेव श्री ने अंतिम शब्द यह फरमाया था कि विद्या मैं जाता हूँ। उसी समय सम्पूर्ण मुनिमंडल आचार्य श्री के पास गए थे। पूज्य गुरुदेव श्री ने ॐ श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ, राजेन्द्रसूरीश्वर गुरुदेव का स्मरण करते-करते ४.२० पर स्वर्गसिंघार गए। पूज्य आचार्य भगवंत के स्वर्गवास होने पर श्री छाजेड़जी को पूज्यगुरुदेव श्री ने पाटोत्सव की जिम्मेदारी सौंपी थी, इस बात का चिंतन चलते-चलते तीन वर्ष बाद २०२० का फाल्गुन सुदि ३ रविवार १६.२.६४ का शुभ मुहूर्त श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. का समाधि मंदिर की प्रतिष्ठोत्सव का निश्चय होने पर छाजेड़जी ने समाज के वरिष्ठ श्रावक वर्ग मुनिमण्डल, साध्वी मण्डल से मिलकर जावरा और राजगढ़ के श्रीसंघ के प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श करके यह निर्णय किया कि प्रतिष्ठा महोत्सव के समारोह के साथ आचार्य पद का महोत्सव भी कार्य सम्पन्न कर दिया जाए। अभी तक यह क्रम चला आया है कि मालव प्रांत में त्रिस्तुतिक समाज का कार्य हो तो जावरा श्रीसंघ की

आरोग्यता देवे जिसे समाज अपने आप में धन्य मानता रहे।

इसी मंगल कामना के साथ....

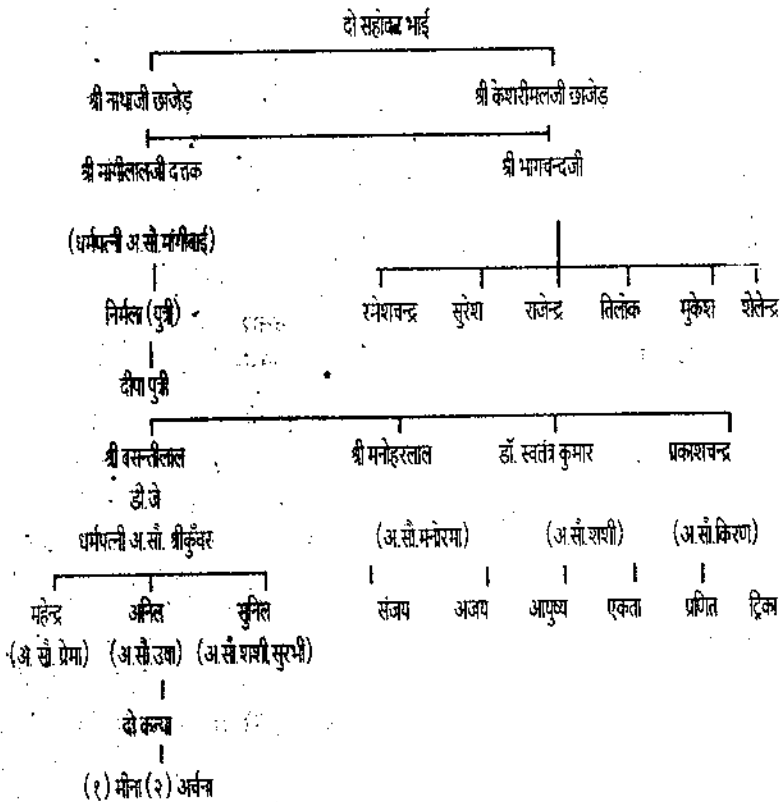
जय जिनेन्द्र

जय राजेन्द्र

(इस आलेख का विवरण पूज्य श्री ज्योतिषाचार्य शासन दीपक
मुनिराज श्री जयप्रभविजयजी श्रमण द्वारा प्राप्त)

प्रस्तुती - कांतिलाल बी. जैन

(एडव्होकेट)



जीवन निर्माण व धर्म संस्कारों के लिए साहित्य मंगवाएं

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ
श्री कल्पसूत्र बालाव बोध
श्री श्रीपाल रास हिन्दी
गच्छाचार पयन्
सिन्दूर प्रकरण
शान्त सुधारस भावना
यतीन्द्र स्वाध्याय पुष्प
मुहूर्तराज
दिन शुद्धि दीपिका
नवस्मरण हिन्दी अर्थसह
पंच प्रतिक्रमण
विश स्थानक तप विधि
चन्द्र केवली चरित्र
साधु प्रतिक्रमण सूत्र
अहर्त पूजा
तपोबल
श्री पार्श्वनाथ छंद
महावीर देशना
तप विधि संचय
देव वन्दन माला
पथिक काव्य माला
गुरु चरित्र
श्रीमद् यतीन्द्रसूरि.
स्त्री व्याख्यान समीक्षा

सत्य समर्थक प्रशोत्तरी
आहोर गोडी पार्श्वनाथ
तीर्थकर परिचय
प्रकरण चतुष्टय
सूरिश विहार प्रदर्शन
सत्य पुरुषों के लक्षण
सम्यक सम्यक माला
राजेन्द्र गुण मंजरि
मांगलिक संग्रह
सम्यग जिन गुण गंगा
शान्तिनाथ महाकाव्य
श्रीधनचन्द्रसूरि चरित्र
दशावतार
चरम तीर्थकर महावीर गुणानुराग कुलक
श्री यतीन्द्र सौरभ
पूज्य श्रमण भगवन्त व साध्वीजी व
ज्ञान भण्डारा के लिए भेंट दिजायगी।
प्राप्ति स्थान
श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति

मंत्री

श्री शान्तिलालजी वक्तावरमलजी मुधा
देरासर सेरी
मु.पो. आहोर, जिला जालौर वाया जवाई बान्ध
पिन - ३७०२९ राजस्थान

मांगीबाई की प्रेरणा होती है, वह श्री छाजेड़जी को विवश कर देती है और कहती है आप शरीर की चिन्ता न करें देव गुरु की सेवा बिना पुण्योदय के नहीं मिलती। श्रीमती छाजेड़ श्री छाजेड़जी से ज्यादा व्याधियुक्त है, फिर भी वह भी उस समय साथ चलने को तैयार हो जाती है। अभी एक बार मोहनखेड़ा जाएंगे तो चार रोज तक शरीर दर्द करता है। जिससे पाठक जान जाएंगे कि छाजेड़जी के दिल में देव गुरु व धर्म के प्रति कितना समर्पण भाव है। श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में ट्रस्ट मंडल में श्री किशोरचन्द्रजी एम. वर्द्धन कोषाध्यक्ष पद पर हैं, उन्होंने भी छाजेड़जी को (गांधीजी) की उपमा दे रखी है। श्री छाजेड़जी सारी बातें सुनने के बाद अपने चिंतन विचार संक्षेप में सारगर्भित विचार रखते हैं, जो सर्वमान्य हैं। इसका परिणाम है, आज तक ट्रस्ट रजिस्ट्रेशन को १९ वर्ष हो गए ट्रस्ट में सभी कार्य सर्वानुमति से होते हैं। इससे ज्यादा क्या गौरव की बात हो सकती है।

समाज को गर्व है कि आज श्री मोहनखेड़ा ट्रस्ट पर और श्री छाजेड़जी जैसे निर्विवाद नररत्न पर।

समाज ऐसे निस्वार्थ भाव से काम करने वाले व्यक्ति विकास में नींव के पत्थर के समान होते हैं, जो कार्य को कर्म मानते हैं एवं प्रतिदिन कार्य में जुटे रहते हैं। ऐसे नररत्नों से समाज शोभायमान होता है और युगों-युगों तक गौरव गान गाता रहता है। ऐसे ही नररत्न श्रेष्ठिर्व्य कुशल प्रशासक त्रिस्तुतिक समाज के देदीप्यमान नक्षत्र हैं श्री छाजेड़जी।

श्री मांगीलालजी छाजेड़ के पिताजी आदि तीन भाईयों श्री केशरीमलजी छाजेड़जी के बड़े भ्राता श्रीनाथजी थे एवं छोटे भाई श्री मयाचन्द्रजी थे। श्री केशरीमलजी छाजेड़ के दो पुत्ररत्न थे। एक श्री मांगीलालजी व श्री भागचन्द्रजी एवं श्री मायाचन्द्र के एक पुत्र थे श्री बालचन्द्रजी छाजेड़ 'मास्टर' साहित्यरत्न थे। श्री मांगीलालजी छाजेड़ श्री नाथाजी के दत्तक हैं। अपने छोटे भ्राता श्री भागचंदजी छाजेड़ हैं, इनके श्री रमेशचन्द्र आदि ६ पुत्र हैं एवं अन्य ४ पुत्रियाँ हैं। सम्पूर्ण परिवार धार में श्री मांगीलालजी छाजेड़ के मार्गदर्शन में व्यवसाय में लगा है।

यहाँ पर श्री छाजेड़जी के धार्मिक कृत्यों का ही विवरण संक्षेप में दिया है। व्यवहार का पक्ष लिखा जाए तो एक ग्रन्थ तैयार हो जाए। आप धार नगरपालिका के कई पदों को सुशोभित कर चुके हैं। नगरपालिका के वित्त समिति के चेयरमेन पद को भी सुशोभित कर चुके हैं।

आज श्री छाजेड़जी अपने जीवन के ८० वें बसन्त में प्रवेश कर रहे हैं। शरीर वृद्धावस्था का जरूर है, किन्तु विचार कार्य शैली आज भी युवकों से कई गुना अधिक है। श्री छाजेड़जी का चिन्तन समाज के लिए गौरवान्वित करता है एवं समाज सेवा की भावना वालों के लिए मार्गदर्शक है।

श्री छाजेड़जी को मालवांचल के ओसवाल कुल के दिवाकर कहे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

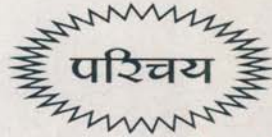
हम इस मंगलमयी शुभ बेला में भी परम कृपालु गुरुदेव भगवन्त से करबद्ध प्रार्थना करते हैं, श्री छाजेड़जी को शतायु बनाए और इनके मार्गदर्शन में तीर्थ विकास की चहुंमुखी योजनाएं चलती रहे। एक बार फिर श्री छाजेड़जी का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए यह कामना करते हैं। गुरुदेव आपको शतायु दे एवं

लक्ष्य यह था कि तीर्थ का विकास सुनियोजित रूप से हो। आचार्य श्री मुनि मंडल सह श्री मोहनखेड़ा तीर्थ पधारे। श्री मांगीलालजी छाजेड़ ने धार, झाबुआ जिले के गुरु भक्तों की मीटिंग बुलाई। गुरु भक्तों ने श्री यतीन्द्र सेवा समिति के नाम से एक समिति का गठन किया, जिसके मंत्री पद का उत्तरदायित्व श्री मांगीलालजी छाजेड़ सा. को सौंपा।

सं. २०१६ का चार्तुमास आचार्य श्री का राजगढ़ नगर में था। पूज्य आचार्य श्री ने अपनी वृद्धावस्था के कारण अखिल भारतीय स्तर के कार्यक्रम व्यवस्थित चलते रहे। इन विचारों को मूर्तरूप देने हेतु परम पूज्य कविरत्न मुनिराज श्री विद्याविजयजी म. सा. ने निश्चा में चार श्रावकों की एक समिति बनाई, समिति के संयोजक श्री मांगीलालजी छाजेड़ बनाए गए। दिनांक १-९-५९ को समिति का गठन किया। उसी आलेख को दृष्टिगत रखते हुए २७-८-७५ को परम पूज्य कविरत्न शासन प्रभावक श्रीमद्विजय श्री विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. ने श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन श्वेतंबर पेढी (ट्रस्ट) का विधान बनाकर रजिस्ट्रेशन करवाया। उसी ट्रस्ट के माध्यम से २०३४ माघ सुदि १३ सोमवार दिनांक २०-२-७८ को एक लाख जन समूह की उपस्थिति में भव्यातीभव्य प्रतिष्ठोत्सव मनाया गया। ऐसे अनेक भव्य समारोह उपधान महातप एवं प्रति वर्ष दादा गुरुदेव भगवन्त का गुरु सप्तमी समारोह सानन्द सम्पन्न होते यह एक मात्र श्री मांगीलालजी छाजेड़ का कुशल नेतृत्व है। सभी को लेकर चलना और निडर, निष्पक्ष, निर्भिकता का ही परिणाम श्री मोहनखेड़ा तीर्थ का बहुमुखी विकास है। इसमें श्री मांगीलालजी छाजेड़ का श्रम छिपा हुआ है।

शुभ सं. २०१७ कार्तिक सुदि १५ गुरुवार तारीख ३-११-६० को श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में पिछले चार-छः रोज से परम व्याख्यान वाचस्पति जैनाचार्य श्रीश्रीश्री १००८ श्री मद्दविजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. का स्वास्थ्य बराबर नहीं चल रहा था। चार रोज से श्री मांगीलालजी छाजेड़ श्री मोहनखेड़ा में ही रुके थे और आस-पास के सभी गुरु भक्तों को भी समाचार भेजकर बुला लिया था।

कार्तिक पूनम को सुबह नव बजे परम पूज्य आचार्य श्री ने आदेश देकर सम्पूर्ण मुनि मंडल को अपने पास बुलाया। पूज्य मुनिराज श्री विद्याविजयजी, मुनिराज श्री सागरविजयजी, श्री मुनिराज सौभाग्यविजयजी, मुनिराज श्री शांतिविजयजी, मुनिराज श्री देवेन्द्रविजयजी, मुनिश्री जयन्तविजयजी, मुनि श्री जयप्रभवविजयजी मुनि श्री पुण्यविजयजी, मुनि श्री भुवनविजयजी, मुनि श्री लक्ष्मणविजयजी आदि मुनिमंडल एवं जैनभिक्षु रंगविजयजी आदि मुनि मंडल एवं से श्री उदयभानजी, श्री सांकलचंदजी बाली वाले, श्री पन्नालालजी लोढ़ा व मिश्रीलालजी सेठ टाण्डा, श्री केशरीमलजी बाग, श्री सौभाग्यजी कुक्षी, श्री रतनलालजी खजांची, श्री केशरीमलजी अम्बोर, श्री सौभाग्यमलजी पुराणी, श्री समीरमलजी पुराणी, श्री रतनलाल दीपचन्दजी, श्री चम्पालालजी बाफना, श्री हीराचंदजी भण्डारी, श्री गौदालालजी मेहता, श्री भागचंदजी छाजेड़, श्री सागरमलजी सेठ राणापुर, श्री सौभागचंदजी सेठिया वकील, निम्बाहेड़ा, श्रीसमीरमलजी भण्डारी झाबुआ, श्री हीरालालजी लोढ़ा जावरा, हुकमीचंदजी ललवानी जावरा, जेठमलजी रुणवाल जावरा, बालचंदजी मेहता जावरा, श्री मांगीलाल छाजेड़ धार, श्री मूलचंदजी रिंगनोद, श्री राजमलजी जमीदार, व्यवस्थापक मोहनखेड़ा तीर्थ आदि श्रीसंघ प्रतिनिधि गुरुदेव के सम्मुख बैठे हैं।



परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति साहित्याचार्य

आचार्य देव श्री श्री श्री 1008 श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज

1954 - दीक्षा-शताब्दी- 2054 •

नाम	-	श्री रामस्तराजजी
पिताजी का नाम	-	रायसाहब श्रेष्ठीवर्य्य श्री वज्रलालजी जैन
मातेश्वरी का नाम	-	श्रीमती चम्पा कुंवरी जी
भाईयो का नाम	-	श्री बडे भाता दुल्हीचन्दजी छोटे भाई किशोरमल जी
बहिनो का नाम	-	श्रीमती बडी बहिन गंगा कुंवरी व छोटी बहिन रमाकुंवरी
जन्म नगर	-	धौलपुर (राजस्थान) सं. 1940
दीक्षा दाता गुरू	-	प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज
दीक्षा स्थान	-	खाचरौद नगर, जि. उज्जैन (म. प्र.)
दीक्षा के बाद मुनि जीवन का नाम	-	मुनिराज श्री यतीन्द्र विजयजी महाराज सं. 1958
बागरा राजस्थान में प्रदान	-	व्याख्यान वाचस्पति सं. 1977 की मानद उपाधि
रतलोम नरेश श्रीमन्त सज्जनसिंहजी द्वारा	-	पिताम्बर विजेता
पण्डित वर्य्य की उपस्थिति मे कौन सी पदवी दी	-	
उपाध्याय पद कौन से नगर में दिया	-	जावरा, जि: रतलाम (म. प्र.) सं. 1980
आचार्य पद कहां प्रदान हुआ	-	आहोर, जि: जालौर, राजस्थान सं. 1995
कौन से तीर्थ की स्थापना की	-	श्री लक्ष्मणीजी जैन तीर्थ (जि: झाबुआ) म. प्र. सं. 1992
जिन मन्दिरों का जिर्णोध्दार करवाया	-	श्री मोहनखेडा तीर्थ, भाण्डवपुर तीर्थ
हीरक जयन्ती महोत्सव कहां व कब मनाया	-	खाचरौद नगर (म. प्र.) सं. 2015
साहित्य साधना	-	स्वरचितविविध विषय की 61 पुस्तको का प्रकाशन करवाया
गुरूतीर्थ स्थापना का आदेश देना	-	श्रीमद राजेन्द्र सूरी-जैन दादावाडी गुरू तीर्थ, जावरा सं. 2015
स्वर्ग वास कहां व कब	-	श्री मोहन खेडा तीर्थ में सं. 2017